दिनकर का आलोचना साहित्य एवं सामाजिक-सांस्कृतिक चिंतन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी., (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

2010

प्रस्तुतकर्ता

अनुज कुमार

निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष

प्रो. रवि रंजन

हिन्दी विभाग,

मानविकी संकाय,

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

भूमिका

अध्याय - एक :

दिनकर : साहित्य-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचन **1-96**

1.1. छायावाद : सामान्य परिचय

1.1.1. दिनकर का छायावाद सम्बन्धी विवेचन

1.1.2. दिनकर का काव्य और छायावाद

1.2. रहस्यवाद : सामान्य परिचय

1.2.1. दिनकर का रहस्यवाद सम्बन्धी विवेचन

1.2.2. दिनकर का काव्य और रहस्यवाद

1.3. प्रगतिवाद : सामान्य परिचय

1.3.1. दिनकर का प्रगतिवाद सम्बन्धी विवेचन

1.3.2. दिनकर का काव्य और प्रगतिवाद

1.4. आदर्शवाद : सामान्य परिचय

1.4.1. दिनकर का आदर्शवाद सम्बन्धी विवेचन

1.4.2. दिनकर का काव्य और आदर्शवाद

1.5. प्रयोगवाद : सामान्य परिचय

1.5.1. दिनकर का प्रयोगवाद सम्बन्धी विवेचन

1.5.2. दिनकर का काव्य और प्रयोगवाद

1.6. शुद्ध कविता : सामान्य परिचय

1.6.1. दिनकर का शुद्ध कविता सम्बन्धी विवेचन

1.6.2. दिनकर का काव्य और शुद्ध कविता

1.7 अभिव्यंजनावाद (बिम्बवाद या चित्रवाद) : सामान्य परिचय

1.7.1. दिनकर का अभिव्यंजनावाद (बिम्बवाद या चित्रवाद) सम्बन्धी विवेचन

अध्याय - दो :

दिनकर : काव्य-विषयक चिन्तन **97-142**

2.1. काव्य-विषयक सामान्य अवधारणा

2.2. काव्य रूप सम्बन्धी धारणा

2.2.1. महाकाव्य : सामान्य परिचय

2.2.1.1. दिनकर के महाकाव्य संबंधी विचार

2.2.2. खण्डकाव्य : सामान्य परिचय

2.2.2.1. दिनकर के खण्डकाव्य संबंधी विचार

2.2.3. प्रगीत : सामान्य परिचय

2.2.3.1. दिनकर के प्रगीत संबंधी विचार

2.2.3.2. दिनकर के प्रगीतों का स्वरूप

2.2.4. छन्द : सामान्य परिचय

2.2.4.1. दिनकर के छन्द संबंधी विचार

2.2.4.2. दिनकर के हिन्दी छन्द-संबंधी विचार

अध्याय - तीन :

दिनकर की व्यावहारिक आलोचना **143-194**

3.1. मैथिलीशरण गुप्त

3.2. माखनलाल चतुर्वेदी

3.3. जयशंकर प्रसाद

3.4. सियारामशरण गुप्त

3.5. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

3.6. सुमित्रानन्दन पन्त

अध्याय - चार :

दिनकर की आलोचना : भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में **195-215**

4.1. उर्दू साहित्य - महाकवि इक़बाल

4.2. बंगला साहित्य - रवीन्द्र नाथ ठाकुर, नज़रूल इस्लाम

4.3. मराठी साहित्य - केशव सुत, मामा वरेरकर

4.4. तेलुगु साहित्य - विश्वनाथ सत्यनारायण

4.5. अंग्रेजी साहित्य - श्री अरविंद

अध्याय - पाँच :

दिनकर की आलोचना : विश्व साहित्य के सन्दर्भ में **216-246**

5.1. अंग्रेजी साहित्य

5.1.1. विलियम शेक्सपीयर

5.1.2. एडगर एलेन पो

5.1.3. जार्ज रसेल

5.1.4. टी.एस. इलियट

5.1.5. बर्नाड शॉ

5.1.6. डी.एच.लारेंस

5.2. फ्रेंच साहित्य

5.2.1. बोदलेयर

5.2.2. मलार्मे

5.2.3. आर्थर रेम्बू

5.2.4. ज्याँ पाल सार्त्र

5.2.5. अलबेयर कामू

5.3. पोलिश साहित्य :

5.3.1. अदम मित्सकेविच

5.4. जर्मन साहित्य :

5.4.1. गेटे

5.5. रूसी साहित्य :

5.5.1. पुश्किन

5.5.2. टालस्टॉय

5.5.3. पास्तरनेक

5.4.4. मायकोब्स्की

अध्याय - छह

दिनकर का इतिहास बोध, सामजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तन **247-384**

6.1. सांस्कृतिक-इतिहास की अवधारणा

6.1.1. संस्कृति की अवधारणा

6.1.2. इतिहास की अवधारणा

6.1.3. सांस्कृतिक-इतिहास की अवधारणा

6.2. भारतीय-संस्कृति की विशेषताएँ

6.2.1. मत-मतान्तर

6.3. साहित्यिक परंपरा का मूल्याँकन

6.3.1. परंपरा की अवधारणा

6.3.1.1. वाल्मीकि

6.3.1.2. व्यास

6.3.1.3. कालिदास

6.3.1.4. विद्यापति

6.3.1.5. कबीर

6.3.1.6. तुलसीदास

6.3.1.7. बिहारी

6.3.1.8. घनानंद

6.4. अन्य संदर्भ

6.4.1. राजनीति सम्बन्धी विचार

6.4.2. विज्ञान सम्बन्धी विचार

6.4.3. मनोविज्ञान सम्बन्धी विचार

6.4.4. अध्यात्म सम्बन्धी विचार

6.4.5. दर्शन सम्बन्धी विचार

6.4.6. भाषा सम्बन्धी विचार

उपसंहार **385-392**

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची **393-399**

Note : The pages in the Binding form of Thesis is one less then the CD format. This is due to the inclusion of the Chapter Heading of every Chapter in the CD Format. Thanks.

अध्याय-एक

दिनकर : साहित्य- सम्बन्धी सैद्धान्तिक विवेचना

1.1. छायावाद : सामान्य परिचय :

"हिन्दी काव्य की विविध प्रवृत्तियों में से छायावाद को, देश और काल की दृष्टि से, परिनिष्ठित साहित्य के धरातल पर जो व्यापक लोकप्रियता और विशेष प्रशस्ति प्राप्त हो सकी है, वह उसकी अंतर्निहित शक्ति एवं महत्ता का आप प्रमाण है। मनोरंजन और प्रभावान्विति, छायाकाव्य की इस शक्ति जो व्यावहारिक रूप हैं, और लोकमंगल-विधान इसकी महत्ता का प्रतीक।"[1] अनेक वर्षों की अनवरत साधना से अनेक प्रबंध काव्य और अन्य कृतियों से जिस छायावाद का उत्कर्ष हुआ है, उसने न केवल लोकरंजन और रसास्वादन का द्वार सहृदय जनों के लिये खोल दिया है, वरन् लोकमंगल की साधना के पुनीत आदर्शों की प्रतिष्ठा भी व्यक्ति और समूह की चेतना के अंदर की हैं। संभव है, किसी विशेष छाया-कृति को देखकर सुधी समीक्षक, छाया-काव्य के लोकरंजन और लोकमंगल में से किसी तत्त्व को दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण अथवा व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी मानना चाहें; किंतु, इसमें संदेह नहीं कि छायावाद की परंपरा पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के उपरांत वे पायेंगे कि इन दोनों तत्त्वों के परस्पर संतुलन में ही छायावाद का वास्तविक उत्कर्ष निहित है। छायावाद पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करने के पूर्व क्या यह अच्छा न होगा कि सर्वप्रथम यह जान लें कि वास्तव में - छायावाद है क्या?

'छायावाद' शब्द हिन्दी में काफी प्रसिद्ध है और काफ़ी उलझा हुआ भी। छायावाद को लेकर हिन्दी के आलोचकों के बीच काफ़ी वाद-विवाद रहा और वर्षों के व्यर्थ के कोलाहाल के बाद भी आज सर्वसम्मत कोई परिभाषा बन नहीं पाई है। परिभाषा को संकीर्ण परिधि के अन्दर छायावाद का गौरव बँध भी नहीं सकता। फिर भी, विषय की सम्यक् व्याख्या करने और समझाने की जगह उसे दुरूह और रहस्यमय बनाने में कैसी बुद्धिमानी है, छायावाद सम्बन्धी प्रायः सभी पूर्व-युगीन आलोचनाओं पर यह प्रश्न किया जा सकता है। परंतु इस ओर भी ध्यान

---

2 हिन्दी काव्य और छायावाद, पृ. 3

देना आवश्यक जान पड़ता है कि प्रत्येक आलोचक का अपना एक निजी दृष्टिकोण रहता है, कभी-कभी किसी विषय पर यह दृष्टिकोण पूर्ण होते हैं तो कभी-कभी एकांगी, ऐसे में मतभेदों का होना आश्चर्य नहीं। छायावाद हिन्दी के आलोचकों के बीच बहुत दिनों तक काफ़ी मतभेद का विषय रहा। छायावाद के सम्बन्ध में हिन्दी विचारकों के विचार प्रायः एक से नहीं है। किसी ने छायावाद का अर्थ 'अस्पष्टता' से लिया है और किसी ने 'आत्मा में परमात्मा की छाया', और किसी ने 'प्रकृति में आत्मा की छाया', छायावाद रहस्यवाद नहीं है- ऐसा शुक्ल जी और डॉ. राम कुमार वर्मा मानते हैं साथ ही साथ शुक्ल जी, विनयमोहन शर्मा और सद्गुरुशरण जी यह मानते हैं कि छायावाद तो केवल अभिव्यंजना की शैली-विशेष है अथवा मात्र अभिव्यंजना-चमत्कार ही। छायावाद में अभिव्यंजना की विशेष-शैली है, रहस्य भावना भी, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति आत्मनिष्ठता और पलायनवाद है। द्विवेदी युग की इतिवृतात्मकता के विरुद्ध विद्रोह भी। छायावाद प्रकृति में मानव भावों का प्रतिबिम्ब देखता है, और साथ ही विश्व की किसी वस्तु में अज्ञात छाया की झाँकी भी। न्यूनाधिक ये सब कुछ होते हुए (छायावाद) हिन्दी कविता की ऐसी विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति है जिसमें द्विवेदी युग की इतिवृतात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया भावना है, नूतन अभिव्यंजना की विशेष-शैली भी, जिसमें रहस्यभावना, प्रकृति में चेतना का आरोप; नवीन-जीवन दर्शन; अन्तर्मुखी प्रवृत्ति; आत्मनिष्ठता; अशरीरी प्रेम, सूक्ष्म सौन्दर्य, निगूढ़ वेदना आदि अनेक विशेषताएँ सुमधुर रूप से संयुक्त हैं। ऊपर से किन्हीं एक दो विशेषताओं को लेकर उन्हें ही छायावाद की परिभाषा नहीं कहा जा सकता।

निचोड़ के तौर पर हम कह सकते हैं कि छायावाद द्विवेदी-युगीन जड़-जर्जर इतिवृतात्मक कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उद्भूत वह विशिष्ट काव्य प्रवृत्ति है जिसमें निम्नलिखित विशेषतायें हैं-

1) अंतर्मुखी प्रवृत्ति अथवा आत्मनिष्ठता की प्रमुखता।
2) प्रकृति पर चेतन का आरोप।
3) अशरीरी प्रेम।

4) सूक्ष्म सौन्दर्य।

5) सर्ववादात्मक दृष्टिकोण।

6) प्रकृति की सौंदर्य राशि में किसी अज्ञात परोक्ष चेतन सत्ता का आभास।

7) विस्मय भावना।

8) नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण।

9) अभिव्यंजना की नवीन विशेष पद्धति- लाक्षणिकता, कल्पना का अतिशय, भाषा में अत्यंत कोमलता और माधुर्य, नवीन छंद, नवीन प्रतीक योजना, व्याकरण के जड़ नियमों का उल्लंघन, नूतन अलंकार, तथा नवीन एवं मौलिक उपमान, इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त इन सभी विशेषताओं से समन्वित काव्य-प्रवृत्ति ही छायावाद है।

1.2.1. दिनकर का छायावाद सम्बन्धी विवेचन :

परिवर्तन की अनिवार्य प्रक्रिया से साहित्य भी परे नहीं होता। साहित्य में भी एकरसता ग्राह्य नहीं होती और युगानुरूप उसमें परिवर्तन लक्षित होने लगते हैं। सन् १९१५ ई० के आस-पास हिन्दी साहित्य में भी प्रचलित भाव, भाषा, शैली आदि के विरुद्ध एक क्रांति हुई। यह सशक्त, समृद्धिशाली और कलात्मक आन्दोलन हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' की संज्ञा से अभिहित हुआ। दिनकर ने छायावाद के आविर्भाव स्वरूप, उपलब्धियों और दोषों पर विचार करते हुए अनेक नये और तर्कसंगत तथ्यों को प्रस्तुत किया है। दिनकर के पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक आलोचकों ने छायावाद के सम्बन्ध में अपने जिन मतों को साहित्य जगत् के समक्ष रखा है, उन्हें दिनकर छायावाद की तर्कसंगत व्याख्या नहीं मानते। इसका एक कारण वे यह भी देते हैं कि छायावाद के अत्यंत निकट होने के कारण संभवतः आलोचकों को कठिनाई हुई है, पर इतिहास की वस्तु बन जाने पर उसे सुगमता से परखा जा सकता है- "दुःख है कि इस विशाल सांस्कृतिक जागरण को उचित समय पर उचित आलोचक नहीं मिल सका, जिसके

कारण उसकी वह प्रतिष्ठा नहीं हो सकी जिसका वह अधिकारी था। यह मनुष्य के उस मानस-जगत में जन्मी हुई क्रांति थी जिस जगत के इंगित पर बाह्य-विश्व अपना रूप बदलता है तथा जिस जगत में पहुँचकर बाह्य-जगत की क्रांतियाँ मनुष्य के स्वभाव एवं संस्कार का अंग बन जाती हैं। आज जब छायावाद इतिहास का एक पृष्ठ बन चुका है, हम उसके तात्त्विक रूप को अधिक सुगमता से परख सकते हैं, किंतु जब वह हमारे बहुत समीप था, तब लोगों ने उसे तात्त्कालिक जीवन को पृष्ठभूमि पर पहचानने की कोशिश की और इस प्रक्रिया में, यद्यपि, उन्होंने उसके आंशिक रूप को पहचानने में कुछ सफलता ज़रूर पाई, पर उसका असली, पूर्ण रूप बराबर व्याख्या के बन्धन के परे ही रह गया।"[1]

छायावाद के उद्‌भव के कारणों पर विचार करते हुए अनेक विद्वानों ने अनेक कारण प्रस्तुत किये हैं। किसी ने उसे युरोपीय-भारतीय संपर्क से उत्पन्न नवजागरण का प्रभाव माना है। किसी ने असहयोग आंदोलन की विफलता की प्रतिक्रिया और किसी ने रवीन्द्र का प्रभाव माना है। दिनकर इन विद्वानों के कुछ मतों से सहमत होते हुए भी छायावाद की तात्त्विक और ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वे इसे द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता के विरोध विद्रोह कहते हैं और उनके अनुसार छायावाद का आविर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी वरन् वह हिन्दी साहित्य के रीतिकाल से जुड़ा था- "द्विवेदी युग के बाद हिन्दी में छायावाद नाम से जो आंदोलन उठा, वह मुख्यतः द्विवेदी-युगीन काव्य की कल्पनाहीनता के विरुद्ध विद्रोह था। किन्तु, उसके और भी पहलू थे। मेरा अनुमान है कि छायावाद के समान कोई आंदोलन रीतिकाल के अंतिम चरणों में ही समय के गर्भ में आ चुका था।"[2] इतना ही नहीं, छायावाद की अनेक विशेषताएँ घनानंद, बोधा और भारतेन्दु की रचनाओं में स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। अंतर सिर्फ इतना ही है कि इन कवियों की भाषा ब्रजभाषा थी, जबकि छायावाद युग की भाषा खड़ी बोली। इन कवियों की स्वच्छन्दता, रोमांटिकता, उद्दाम वैयक्तिकता, भावाकुलता, कल्पनाप्रियता रीतियुग

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 8

2 काव्य की भूमिका, पृ. 29

तक ही सीमित न रही, आधुनिक युग के श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, रामनरेश त्रिपाठी, और मैथिली शरण गुप्त की कुछ पंक्तियों में भी व्यक्त हुई हैं। जिनकी चर्चा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में की है, और उन्हें स्वच्छन्दतावादी कवियों की कोटि में रखा है। दिनकर ने भी इस बात को मान्यता दी है। उनका कहना है कि यह परंपरा तो पहले ही से चली आ रही थी, किंतु कई कारणों के परिणाम स्वरूप छायावाद का आविर्भाव हुआ कि कुछ लोगों ने इसे आकस्मिक ही मान लिया- "किंतु, रीतियुग के अंतिम कवियों का यह संकेत, ब्रजभाषा के साथ बिल्कुल अवरुद्ध नहीं हुआ। जब खड़ी बोली कविता की भाषा बन गयी तब भी वह संकेत कविता के भीतर चलता रहा जिसके प्रमाण पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह(श्याम स्वप्न के लेखक), मैथिलीशरण गुप्त, और रामनरेश त्रिपाठी की कुछ पंक्तियाँ हैं। किंतु, अनेक कारणों से, ठीक इसी समय, हिन्दी कविता में महाक्रांति घटित हो गई जिसके परिणामस्वरूप कविता की शैली और भाव दोनों, परिवर्तित हो गये और इस सत्वरता के साथ परिवर्तित हो गये कि इस आंदोलन को आकस्मिक मान लिया गया।"[1]

भारत-युरोप संपर्क से उत्पन्न नवजागरण ने भी छायावादी काव्य के निर्माण में पर्याप्त योगदान दिया। दिनकर का कहना है कि- "भारत में साहित्य और संस्कृति के सबसे सुंदर फूल तब खिले हैं जब बाहर की कोई धारा हमारी धारा से टकरा गयी है। जब आर्य और आर्येतर-संस्कृतियाँ आपस में मिलीं, हमने वैदिक साहित्य और दो बड़े महाकाव्यों की रचना की; जब शक और आभीर आये, हमारी कविता में इहलौकिकता की वृद्धि हुई और श्रृंगार ने एक नया रंग पकड़ा, जिसका प्रमाण हाल की गाथाशप्तशती है। जब मुसलमान आये, यहाँ भाषा-काव्य का विकास हुआ और श्रृंगार तथा रहस्यवाद की कविताओं में एक नयी तड़प पैदा हुई और जब ईसायियत यहाँ पहुँची, हमने छायावाद की सृष्टि की।"[2] दिनकर के अनुसार भारतीय-युरोपीय संपर्क से भारतीय चेतना में कंपन आया और भारतीय मनुष्य के सोचने-विचारने और देखने की

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 30

2 काव्य की भूमिका, पृ. 18

पद्धति बदली उसने जाना कि- "मनुष्य विधि-विधान की कठपुतली नहीं है तथा उसके जागतिक सुख और दुखों के रूप पहले से ही निर्धारित नहीं है। उसे शारीरिक और मानसिक सभी तापों से त्राण पाने के निमित्त उन्मुक्त होकर सोचने एवं निर्बन्ध होकर काम करने का पूरा अधिकार है तथा इस सोचने की क्रिया में शास्त्र-सम्मत अथवा कोई भी विश्वास, कोई भी निर्णय एवं कोई भी विचार उसके बाधक नहीं हो सकते।"[1] मूलतः, यह, भारत के उस सांस्कृतिक नवोत्थान का परिणाम था, जिसका प्रवर्तन राजा राममोहन राय ने किया था और जिसके व्याख्याता केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, श्रीमती एनीबेसेन्ट, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी हुए हैं। कविता का यह प्रयास उस नयी मानवता की अभिव्यक्ति का प्रयास था, जिसका जन्म भारत-युरोप संपर्क से हुआ था और जो अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण स्वाधीनता, उदारता, वैज्ञानिकता, और बुद्धिवाद विषयक विचारधाराओं की सहज उत्तराधिकारिणी हो गई थी।"[2]

रविन्द्रनाथ के प्रभाव को दिनकर छायावाद की उत्त्पति के कारणों में नहीं मानते जैसा कि अनेक विद्वानों ने माना कि अगर रवीन्द्र का उदय बँगला साहित्य में नहीं हुआ होता तो शायद छायावाद का उदय न हुआ होता। दिनकर का कथन है कि स्वयं शुक्ल जी ने यह स्वीकार किया है कि स्वच्छन्दतावाद की धारा बहुत पहले से चली आ रही थी- "जब खड़ी बोली कविता की भाषा बन गयी तब भी वह संकेत कविता के भीतर चलता रहा जिसके प्रमाण पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह(श्याम-स्वप्न के लेखक), मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी की कुछ पंक्तियाँ हैं।" इस प्रकार दिनकर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव को कठिन गुत्थी की तरह मानते हैं जिसे सुलझाना आसान नहीं- "हिन्दी का छायावादी आंदोलन रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्धि से प्रेरित था या हिन्दी कविता का स्वभाविक विकास, इस गुत्थी को सुलझाना आसान नहीं है। परिवर्तन जब मन्द-मन्द चलता है तब वह केवल परिवर्तन कहलाता

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 12

2 मिट्टी की ओर, पृ. 12

है, किंतु, जब उसकी गति तीव्र हो जाती है तब उसे क्रांति कहते हैं। घनानंद, बोधा, भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, जगमोहन सिंह, मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी में परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र नहीं थी। तीव्र वह तब हो गयी जब प्रसाद जी ने 'प्रेमपथिक' की रचना की और माखनलाल जी के आरंभिक कविताएँ प्रकाश में आने लगीं। किंतु, इन दो कवियों पर रवीन्द्रनाथ का कोई भी प्रभाव नहीं है। अतएव, यह स्थापना ठीक नहीं दिखती कि हिन्दी का छायावादी आन्दोलन रवीन्द्र की प्रेरणा से आया था। किंतु, छायावाद के अन्य दो अग्रणी कवियों निराला और पन्त, पर रवीन्द्रनाथ के प्रभाव स्पष्ट मिलते हैं, यद्यपि, महादेवी वर्मा फिर इस प्रभाव के क्षेत्र से बाहर चली जाती हैं। मिला-जुलाकर यह कहना अधिक युक्तियुक्त लगता है कि नये आंदोलन की तैयारी हिन्दी-कविता के भीतर आप-से-आप होती आ रही थी तथा प्रसाद जी और माखनलाल जी की रचनाओं तक वह हिन्दी की पूर्वागत धारा समीप थी। हाँ, जब निराला और पन्त आये उनके साथ कुछ रावीन्द्रिक प्रभाव भी हिन्दी-कविता में सम्मिलित हो गया।"[1]

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय इतिहास का पुनर्जागण काल है क्योंकि इस युग में भारतीय प्राचीन सत्य का नवीकरण किया गया और उसके साथ ही यूरोप से आने वाले उन वैज्ञानिक प्रभावों को भी स्वीकृति दी गई जो जीवन-विकास के लिए आवश्यक पहलू थे। दिनकर कहते हैं कि- "जब सांस्कृतिक नवोत्थान का समय आता है, जातियों के कुछ पुराने सत्य दुबारा जन्म लेते हैं।"[2] "छायावाद ने स्वेच्छया से यूरोप के गुणों का , प्रसन्नता से वरण किया। उन्नीसवीं सदी के हिन्दु-नवोत्थान के क्रम में भी वेदों और उपनिषदों के सत्यों ने दुबारा जन्म ग्रहण किया और नवोत्थान के नेताओं ने यह घोषणा की कि हम इन प्राचीन सत्यों को साथ रखते हुए यूरोप के उपयोगी ज्ञान का सत्कार करेंगे। हिन्दु-नवोत्थान का ध्येय प्राचीन भारत से नवीन युरोप की एकता की साधना था और यह ध्येय छायावादी काव्य पर भी पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। प्रसाद, निराला, पन्त, और महादेवी की कविताओं की रीढ़, भारत के प्राचीन सत्यों की अनुभूति

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 30-31

2 काव्य की भूमिका, पृ. 38

है। केवल अभिव्यक्ति की शैली उन्होंने युरोप की अपनायी है। और युरोपीय शैली को अपनाने में भी वे इतने भारतीय रहे हैं कि हम आसानी से उनकी शैली को भारतीय शैली का विकास कह सकते हैं।"[1]

जहाँ तक छायावादी आंदोलन की पृष्ठभूमि में असहयोग आंदोलन की विफलता और प्रथम विश्वयुद्ध की प्रतिक्रिया का प्रश्न है, दिनकर इन मतों से अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। उनका कहना है कि छायावाद को प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न निराशा की उपज माननेवाले लोग साहित्य को केवल सतही दृष्टि से देखने वाले हैं। छायावाद में जो नैराश्य भावना है उसकी जड़ में असहयोग आन्दोलन की विफलता वाली बात भी कुछ ऐसी ही कही जा सकती है। ऐसे मतों का खण्डन करते हुए वे कहते हैं- "ये दोनों मत इसलिए खंडित हो जाते हैं कि विश्वयुद्ध से जन्मी निराशा का ज्ञान भारत को तत्क्षण नहीं, प्रत्युत, बहुत बाद को हुआ और वह भी मुख्यतः इलियट की कविताओं के द्वारा। जहाँ तक असहयोग आन्दोलन का सम्बन्ध है, उसकी विफलता से देश में पस्ती नहीं आई थी। और अगर कोई भी थी तो उसकी अभिव्यक्ति नवीन जी की उस कविता में हुई थी जिसकी पहली पंक्ति थी- 'विजय पता झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।' इस काल की बाकी कविताओं में उमंग ही उमंग ही है, उसमें पस्ती या शिथिलता के भाव नहीं है।"[2]

इस तरह हम देख सकते हैं कि दिनकर ने छायावाद को लेकर तथाकथित मान्यताओं का खण्ड़न किया तथा हमारे सामने कई सुझाव, समाधान तथा प्रश्न रखे जिससे छायवाद की परंपरा से चली आ रही आलोचनात्मक दृष्टिकोण को फिर से एक कारगर रूप देने की आवश्यकता महसूस होती है मसलन- "जिन्होंने उसे रहस्यवाद कहा वे पाठकों की इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सके कि तब इसके कर्ता कवि धार्मिक क्यों नहीं हैं; जिन्होंने उसे राजनीतिक दुरवस्थाओं की प्रतिक्रिया कहा वे जनता के इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 38-39

2 वेणुवन, पृ. 91

कि राजनीतिक दुरवस्थाओं की स्वस्थ प्रतिक्रिया विद्रोह को प्रेरित करना है, न कि उनसे भागकर काल्पनिक आनंद के लोक में छिप जाना। इसके विपरित, जो लोग उसे रवीन्द्रनाथ तथा अंग्रेज़ी के रोमाण्टिक कवियों का अनुकरण कह रहे थे, जनमत उनके भी खिलाफ था; क्योंकि मन-ही-मन वह सोचता था कि शुद्ध अनुकरण में सजीवता नहीं हो सकती है; इतना ही नहीं, प्रत्युत जो लोग उसे पलायनवाद बता रहे थे, जनता की शंकाएँ उनके भी खिलाफ थीं, क्योंकि छायावादी आंदोलन निर्भीक, तेजस्वी और रूढ़ियों का भयानक शत्रु था।"[1]

अन्ततोगत्वा, दिनकर के अनुसार यह कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य आंदोलन किसी एक कारण की प्रतिक्रिया न होकर हिन्दी साहित्य के स्वाभाविक विकास की उपज था जिसे छायावाद के उन्नायक कवियों ने भी वेद और उपनिषद से जुड़ा माना था। जिसमें अन्य कई अन्य कारणों ने योग दिया और एक विशेष समय में इस आंदोलन के पूर्णता पर पहुँचने से लोगों ने इसे देखना आरंभ किया।

छायावाद के स्वरूप पर विचार करते हुए दिनकर ने इसको हिन्दी कविता का एकमात्र जागरण कहा है। छायावाद के आगमन के साथ ही हिन्दी कविता ने कविता के वास्तविक तत्त्वों को पहचान कर उसे स्वीकृति दी। यह जीवन की क्रांति का प्रतीक बनकर भी आया था जिसमें धर्म, राजनीति, संस्कृति और समाज सभी का मिश्रित आलोक था। यह आंदोलन राजनीतिक आंदोलन की तरह अत्यंत व्यापक था, पर यह आन्दोलन साहित्यिक था। एक बड़े साहित्यिक के रूप में यह अपने भीतर विलक्षण और दुर्लभ गुणों को समाविष्ट किए हुए था। छायावाद की काव्यगत विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने कहा है कि इसमें वेदान्त, उपनिषद, और भारतीय साहित्य की प्रतिध्वनि गूँजती है जो प्रसाद, निराला, पन्त, और महादेवी के माध्यम से प्रकट हुई है। दिनकर छायावाद की वैयक्तिकता को उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट मानते हैं। उसकी वैयक्तिकता भारत की उपनिषद और वेदकालीन वैयक्तिकता के समान थी जिससे

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 8

साहित्य का ह्रास न होकर विकास होता है। इसके कारण ही साहित्यकार को अपने व्यक्तित्व में गहन आस्था और विश्वास पैदा होता है और विलक्षण तथा नूतन निर्माण में सहायता मिलती है। अर्थात साहित्यकार की उद्दाम वैयक्तिकता, जिसके दर्शन छायावाद के उन्नायक कवियों में होते हैं, साहित्य के लिए आवश्यक हैं। इसी उद्दाम वैयक्तिकता के कारण कवि स्रष्टा के पद पर आसीन होता है, आत्मतत्त्व के समीप पहुँचता है, नूतन निर्माण में प्रवृत्त होता है और विश्व को कुछ दे पाता है। यह वैयक्तिकता भारतीय साहित्य के लिए कोई नई चीज़ नहीं थी।

छायावाद की सौंदर्य चेतना भी बाह्य प्रभाव से नहीं आयी थी, वरन् उसमें भी भारतीयता का स्वरूप देखा जा सकता है। यह सौंदर्य चेतना पश्चिम से सिर्फ उधार नहीं ली गई थी और न यह रवीन्द्र से प्रभावित थी। अछूता सौंदर्य और मादक नवीनता उनका लक्ष्य था पर इस प्रखर सौंदर्य चेतना में विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी की परंपरा ही रही है। माने यह कि- "छायावाद के साथ हिन्दी कविता में जो एक नई भंगिमा उत्पन्न हुई उसकी परंपरा हिन्दी में बहुत दिनों से आ रही थी वह विद्यापति की 'जन्म अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल' वाली पंक्तियों में थी, वह कबीर और मीरा की पंक्तियों में भी मिलेगी ओर सूर की विरहवाली पंक्तियों में भी हम उसकी झाँई देख सकते हैं।"[1] यह सौंदर्य चेतना आदिकालीन कवियों के बाद रीतिकालीन कवि मतिराम, देव, पद्माकर, घनानंद, और भारतेन्दु के साहित्य से होती हुई छायावाद तक पहुँची है।

छायावाद की एक विशेषता रोमांटिकता है। दिनकर कहते हैं कि रोमांटिकता साहित्य का अनिवार्य गुण और सर्वाधिक काव्यात्मक तत्त्व है। यह रोमांटिकता मनुष्य को प्रछन्न शक्तियों का आधार मानती है। वे संयमशील महान कवियों में रोमांटिक प्रवृत्तियों के चमत्कार के उदाहरण के रूप में रवीन्द्रनाथ, शेली और गेटे रखते हैं। इसी गुण के कारण संसार में बड़ी-बड़ी क्रांतियों का जन्म होता है और मनुष्य कल्पना के असीम विस्तार में जाता है। रोमांटिक कवियों में आवेश की तीव्रता होती है, पर कवि जब अपनी भावप्रवणता को संयम द्वारा बाँध कर रचना करता है,

---

[1] काव्य की भूमिका, पृ. 16

तो संसार की श्रेष्ठ कलाकृति का जन्म होता है। छायावादी कवियों में भी यह रोमांटिकता अपने उत्कर्ष पर थी, पर प्रारंभ में ये कवि अपने आवेश को सयम की बाँध में नहीं बाँध पाये थे। जब ऐसा करने में समर्थ हुए, तो उन्होंने श्रेष्ठ रचना प्रस्तुत की। यह रोमांटिकता भी शत-प्रतिशत विदेशी नहीं थी। अनुभूति की यह मार्मिकता और दर्द की बैचेनी भी रीति युग से आई थी भले ही रीतियुगीन कवियों ने इसे फ़ारसी से ग्रहण किया हो, पर इसे अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव नहीं कहा जा सकता।

दिनकर ने छायावाद की कुछ एक और विशेषताओं का उल्लेख किया जो कि गौरतलब हैं, पहला यह कि सृष्टि के रहस्यों को समझने की उत्सुकता या जिज्ञासा, जो इस आंदोलन का बौद्धिक पक्ष थी और दूसरा ऊँची-से-ऊँची सुन्दरता को देखने की कामना या चाह, जिससे छायावादी आंदोलन का रागात्मक पक्ष विकसित हुआ। "छायावादियों की विशेषता यह रही कि उन्होंने प्रत्येक रचना के सतह से नीचे उतरने का प्रयास किया। और चूँकि उन्होंने वस्तुओं के भीतर जाने की कोशिश की इसलिए, उन्हें ऐसी अनन्त सुन्दरताओं के दर्शन भी हुए, जो हिन्दी से अछूती थीं। छायावादियों में वस्तुओं को नये क्षितिजों से देखने की जो जिज्ञासा थी, चीज़ों के भीतर डूबकर उनके सूक्ष्म रहस्यों को समझने का जो कौतूहल और औतसुक्य था, उससे कल्पना को प्रसारित होने की प्रेरणा मिली और हिन्दी-कविता में, प्रायः विद्यापति, तुलसी और सूरदास के बाद, पहले-पहल, यह सिद्धान्त वेग से उभरा कि कल्पना की प्रचुरता के बिना कोई कविता नहीं लिखी जा सकती।"[1] "सामने के आवरण को हटाकर उसके पीछे छीपे हुए सत्यों को जानने की उत्सुकता और कल्पना के सहारे भाँति-भाँति की सुन्दरताओं को देखने की चाह, ये दो बातें हिन्दी के छायावादी आन्दोलने की दो प्रमुख विशिष्टताएँ थी।"[2]

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 37-38

2 काव्य की भूमिका, पृ. 38

अभिप्राय यह कि छायावाद की कल्पनाशीलता भी बाह्य प्रभाव न होकर तुलसी, विद्यापति और सूर की तरह भारतीय हैं, भले ही इन कवियों के बाद कल्पना पक्ष कुछ दिनों तक गौण क्यों न पड़ गया हो।

छायावाद के इस उपलब्धि को नहीं नकारा जा सकता कि इसने पाठक को दैनंदिन के तनावों और समस्याओं से थोडी देर के लिए ही सही लेकिन राहत ज़रूर दी जो कि जीवन में बेहद आवश्यक है। द्विवेदी-युगीन कविता की सीमा यह रही कि "कविता अधिकतर दैनिक जीवन में आनेवाले विषयों को लेकर लिखी गयी थीं। दैनिक जीवन के विषय उपयोगी होते हैं, किंतु, अतिपरिचय के कारण उनमें आकर्षण का अभाव होता है और जीवन की रूक्षता को भुलाने के बदले कवि और पाठक को वे उसकी और भी याद दिलाते हैं। छायावादी कवि अछूते सौंदर्य और मादक नवीनता की खोज में थे, अतएव वे दैनिक जीवन से भागकर परियों के देश में पहुँच गये। परियों के देश का निर्माण कवियों का प्रिय कार्य रहा है; प्रत्युत् यह कहना चाहिए कि परी-लोक की सफल रचना करने वाले कवि अत्यअल्प विरोधों के साथ श्रेष्ठ कवि माने जाते रहे हैं।"[1] "छायावाद ने काव्य- सम्बन्धी जिस धारणा को सबसे अधिक पुष्ट किया, वह यह मानी जाएगी कि कविता स्वप्न है, कविता परियों की कहानी है, कविता रहस्य की वाणी है, कविता परिचित विश्व से बहुत दूर निकल जानेवाले कवि की आवाज है तथा जो व्यक्ति कविता के स्पर्श मात्र से, स्वतः, यह नहीं समझ सकता कि कविता क्या है, उसे किसी भी प्रकार यह समझना कठिन है कि कविता अमुक वस्तु होती है।"[2]

दिनकर मानते हैं कि- "छायावाद-युग की सबसे बड़ी देन यह रही कि उसके यन्त्र-गृह में, एक समय कर्कश समझी जानेवाली, खड़ी बोली गलकर मोम हो गयी।"[3] पन्त जी को उत्तराधिकार में मैथिलीशरण गुप्त जी की भाषा तो मिली परंतु उन्होंने स्वयं के 'पल्लव' के

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 40
2 काव्य की भूमिका, पृ. 41
3 काव्य की भूमिका, पृ. 41

लिए एक नई भाषा का ईजाद कर लिया। "छायावाद काल में भाषा ने जो रूप धारण किया, उसी का परिणाम हुआ कि खड़ी बोली में भी कविता कविता सी लगने लगी।"[1] "जितना परिचय छन्दों के नये विधान, शब्दों के नवीन चयन और भाषा के नूतन संस्कार को मिला, उतना और कहीं नहीं।"[2] "इस युग के छन्दों में तो इतनी विविधता उत्पन्न की कि, सचमुच ही, हिन्दी-कविता की वीणा सहस्त्र तारोंवाली हो गयी।"[3]

दिनकर छायावाद के प्रदेयों पर विचार करते हुए गीति काव्य को उसकी सबसे बड़ी देन मानते हैं। प्रगीतों के क्षेत्र में छायावाद युग में पर्याप्त विकास हुआ। इसी युग ने प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, बच्चन, जानकीबल्लभ शास्त्री जैसे अनेक गीतकारों को जन्म देकर गीति काव्य को उत्कर्ष पर पहुँचाया। ये गीत विशिष्ट प्रकार के हैं जो अपनी ज्योतिर्मयता के कारण संपूर्ण हिन्दी गीत साहित्य में अलग से पहचाने जा सकते हैं- ".....और छायावाद मुख्यतः प्रगीतों का अंदोलन था। छायावाद-काल में हिन्दी के कुछ अद्‌भूत गीत लिखे गये जो हिन्दी के सभी गीतों में मिश्रित कर दिये जाएँ, तब भी अपनी ज्योतिर्मयता के कारण वे अलग पहचान लिये जाएँगे। इससे भी बड़ी बात यह हुई कि छायावादी प्रयोगों ने गीतों की विशाल भूमि का द्वार उन्मुक्त कर दिया। छायावाद के बाद, हिन्दी में जितने भी प्रकार की कविताएँ लिखीं गयी हैं, उनमें गीतों की संख्या सबसे विशाल है और इनमें से कितने ही गीत ऐसे हैं, जो अपनी झंकार से हमारे पूरे जीवन को झंकृत कर देते हैं।"[4] छायावादी काव्य को जीवन विमुख नहीं कहा जा सकता। इसके सौंदर्योपासक कवि ने राष्ट्रीयता को भी जगाया है और जीवन पक्ष की व्यंजना भी की है। छायावाद के महत्त्व और प्रभाव की और पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए दिनकर कहते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद की अवधि मात्र बीस बर्षों की रही है, पर इस छोटी अवधि में छायावाद ने अपने वैशिष्टय की मुहर लगा दी है। पंत ने छायावाद के माध्यम से

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 41
2 काव्य की भूमिका, पृ. 41
3 काव्य की भूमिका, पृ. 41
4 काव्य की भूमिका, पृ. 41

प्रकृति की छवियों को चित्रित किया और निराला ने उसके कंठ से पौरुष के जागरण-गीत गाये। छायावाद की दार्शनिकता, कल्पना, और आनंदवादी चेतना के माध्यम से प्रसाद के काव्य में मुखरित हुई है। छायावाद की आध्यात्मिकता महादेवी के गीतो में अभिव्यक्त हुई है। मैथिलीशरण जैसे द्विवेदीयुगीन कवि भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। माने यह कि छायावाद में प्रकृति, दर्शन, पुरुषार्थ, आध्यात्मिकता आदि सभी चीज़ें काव्य का अंग बनकर आई हैं और इन सब स्थलों पर अनुभूति की सच्चाई तथा कला की बारीकी है। इस तरह छायावाद के दिव्य स्पर्श से अनेक कवि प्रकाशवान हो उठे हैं। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी, माखनलाल, गुप्तबंधु, सुभद्रा कुमारी चौहान, नवीन जी आदि इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। छायावाद की हिन्दी साहित्य को देन के सम्बन्ध में दिनकर जी का यह कथन तर्कसंगत लगता है- "छायावाद ने हिन्दी कविता की अमूल्य सेवा की। समग्र हिन्दी साहित्य के इतिहास में कोई और काल ऐसा नहीं गुजरा है, जब 15-20 बर्षो की अत्यल्प अवधि मे साहित्य के भाव और भंगी, दोनों क्षेत्रों में ऐसे आमूल परिवर्तन हुए हों जैसे छायावाद-काल में हुए। संभव हैं संपूर्ण विश्व के किसी भी साहित्य के लिए यह दृष्टांत अप्रतिम और नवीन रहा हो।"[1] छायावादी काव्य की विशेषताओं का प्रभाव दूरगामी हुआ और कोई भी इससे अछूता नहीं रह पाया इसकी खुमारी ऐसी चढ़ी...ऐसा रंग चढ़ा कि दिनकरजी को कहना ही पड़ा- "यह आंदोलन विचित्र जादूगर बनकर आया था। जिधर को भी इसने एक मुट्ठी गुलाल फेंक दी, उधर का क्षितिज लाल हो गया।"[2]

दिनकर की दृष्टि में छायावाद की सीमाएँ :

छायावाद इतना क्रांतिकारी और महत्त्वपूर्ण आंदोलन था, फिर भी वह अनेक तरह की आलोचनाओं का शिकार हुआ। उसे अपने ही समय में वह महत्त्व नहीं मिला जिसका वह हकदार था। इसके कारणो के रूप में दिनकर हमारे सामने दो बिन्दुओं को रखते हैं- (१)

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 74

2 काव्य की भूमिका, पृ. 42

छायावादी काव्य की सही-सही विवेचना करने वाले आलोचकों का अभाव और (२) आरंभिक छायावाद के अभिव्यक्ति पक्ष की कमज़ोरी।

"छायावाद की उत्त्पति के कारणों की सैध्दांतिक विवेचना जितनी सुन्दर और महान है, हिन्दी में प्रकट हुए उसके असली रूप का विश्लेषण उतना ही असंगतिपूर्ण और निराशजनक। यह भी ध्यान देने की बात है कि छायावाद के समर्थन में आरंभ से लेकर आज तक जितने भी निबंध लिखे गये, उन सबमें हम इसकी दुर्बलताओं को बड़े-बड़े सिद्धांतों के घटाटोप से ढँक देने का एक सचेष्ट प्रयास पाते हैं। 'सान्त को अनन्त से मिलने की आकुलता', 'प्रकृति के कण-कण में एक अज्ञात सत्ता का प्रतिबिम्ब', 'मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों की श्रेष्ठता', और 'सौंदर्य तथा रहस्य की सूक्ष्मतम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति', ये ही कुछ सत्य तथा कल्पित सिद्धान्त थे जिनके बल पर आलोचक छायावाद को जनता के द्वारा ग्राह्य सिद्ध करना चाहता था। जिन लोगों से यह आशा की जाती थी कि वे बुद्धि के औसत धरातल पर आकर जनता के साथ इसका सम्यक् परिचय करा सकेंगे, उन्होंने भी जब लेखनी उठाई तब सिद्धान्तों की ही विवेचना करने लगे या उससे आगे बढ़े तो प्राचीन इतिहास से मिलती-जुलती रचनाओं के उदाहरण लेकर जनता से कहने लगे कि यह धारा बिल्कुल नई नहीं है; हमारे साहित्य में ऐसा पहले भी हुआ था। श्रीमती महादेवी वर्मा और स्वर्गीय प्रसाद के छायावाद और रहस्यवाद- सम्बन्धी लेख इसी उद्देश्य से लिखे गये मिलते हैं। उनके लेखों में हम ऐसी सतर्कता पाते हैं जो अपने पक्ष की दुर्बलताओं को जानते रहने के कारण, स्पष्टता के छिपाने के प्रयास से जन्म लेती हैं।"[1]

दिनकर का कहना है कि छायावादी कवियों का भावपक्ष जितना प्रबल था, उनका अभिव्यक्ति पक्ष उतना ही कमज़ोर था, फलतः अभिव्यक्ति की दुरूहता उनके काव्य का दोष बन गई और जन-मानस तक नहीं पहुँच पायी। भावप्रवणता के आधिक्य को वे बुद्धि के द्वारा संयत नहीं कर पाये थे और जब उन्होंने ऐसा किया, तब वे उच्च कोटि की रचना में समर्थ हुए। दिनकर

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 13-14

छायावाद की असफलता से अपने को एकाकार नहीं कर पाये और साहित्यकार तथा जनजीवन के बीच एक खाई बन गई। यदि वे द्विवेदी युग से अभिव्यक्ति की स्वच्छता और जीवन को ग्रहण कर चलते तो उन्हें सफलता मिलती। छायावादी कवि पलायनवदी नहीं थे। कवि का भाव-क्षेत्र में प्रवेश करना पलायनवाद नहीं है ओर कवि की भावधारा का निर्धारण करना भी किसी के लिए संभव नहीं।

"सबसे बड़ी गलती छायावाद को रहस्यवाद सिद्ध करने में हुई।"[1] मात्र "छायावाद को रहस्यवाद सिद्ध करने से जनता की जिज्ञासा की शान्ति नहीं हो सकती थी। उसे भारत की प्राचीन संपत्ति बताने से भी छायावाद के प्रति जनता का आदर नहीं बढ़ सकता था। जनता का विरोध साहित्य लेखक धार्मिक भावों से नहीं था। वह सिर्फ यह जानना चाहती थी कि छायावद में सच्ची धार्मिकता है या नहीं। एक अधार्मिक युग, धर्म के उदय का संवाद सुनकर लोगों में संशय उत्पन्न होना बहुत स्वभाविक था।"[2] "फिर इन कविताओं में कहीं भी प्राचीन सन्त कवियों की प्रार्थना की शीतलता, आध्यात्मिक विरह की बैचेनी तथा आनन्द के लोक में आत्मा के महाजागरण का उल्लास नहीं मिलता था। जो कुछ मिलती थी, वह थी गहरी अस्पष्टता, गहरा धुँधलापन और प्रत्येक वस्तु को एक नई दृष्टि से देखने का गहरा मोह।"[3]

"अगर दृष्टिकोण की नवीनता पर ज़ोर दिया जाता तो, संभव है कि जनता उतना नहीं चिढ़ती; यह भी संभव है कि दृष्टिकोण की नवीनता पर ज़ोर देने का प्रभाव उन नये कवियों पर कुछ दूसरे रूप से पड़ता जो नई कविता के क्षेत्र में अपनी किस्मत आजमाने के लिए झुण्ड बाँधकर आ रहे थे। किंतु, उन्होंने बाहर रहते हुए जो कुछ सुना था उसमें प्रमुख संवाद यह नहीं था कि हिन्दी-कविता में एक प्रचण्ड क्रांति हुई है तथा उसकी शैली और भाव दोनों ही बड़ी तेजी से बदल रहे हैं, प्रत्युत यह कि हिन्दी में कविता करना सरल हो गया है तथा उसमें प्रेम और वेदना के गीत बड़ी आसानी से गाये जा सकते हैं। और सत्य ही काव्य-क्षेत्र में ऐसी

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 14
2 मिट्टी की ओर, पृ. 15
3 मिट्टी की ओर, पृ. 15-16

कुहेलिका छायी हुई थी कि उसके भीतर छिपकर कुछ भी कहा जा सकता था और पीछे उसकी कुछ भी टीका की जा सकती थी। उसमें शारीरिक आसक्ति के गीतों की व्याख्या प्रभू के प्रीति में हो रही थी और वासना का नाम अध्यात्मिक प्रेम दिया जा रहा था।"[1] "छायावाद-कालीन रचनाओं में यह संकेत भी नहीं मिलता है कि कवियों ने समकालीन जीवन को भली-भाँति देखकर उसे रुक्ष एवं अकाव्यात्मक समझकर छोड़ दिया हो। अधिकांश कवियों ने आस-पास की दुनिया को समझने का थोड़ा भी प्रयास नहीं किया। ऐसा दीखता है कि काव्य की चेतना सीधे ऊपर से आती थी और, प्रायः, सदैव दार्शनिक सिद्धान्तों के स्तर तक ही आकर रुक जाती थी; उससे नीचे जो सुख-दुःख से मिश्रित एक दैनिक लोक था, जिनकी अनुभूतियों से दर्शन के सिद्धान्त बनते हैं, वहाँ तक आने की प्रवृत्ति किसी में भी नहीं थी।"[2] यह भी ध्यान देने की बात है कि इन लोगों के ठीक पीछे जो लोग आ रहे थे, उनमें भी आरंभ में जीवन की रुक्षताओं का समाना करने की उमंग नहीं थी। छायावाद ने जिस निराशा की सृष्टि कर दी थी, उससे बिल्कुल ऊपर उठ जाना, प्रायः ..... कठिन मालूम होता था। निराशा भी एक प्रकार की रूढ़ि हो गई थी और कवि की मनोदशा पर उसका कोई-न-कोई प्रभाव अनायास ही पड़ जाता था। यह सच है कि पीछे आनेवाले कवि कल्पित अनुभूतियों की तेजोहीनता एवं निस्सारता को एक हद तक पहचान चुके थे, किंतु नैराश्य की परंपरा अज्ञात रूप से उन्हें भी घेरे हुए थी।"[3]

"छायावाद एक क्रांति का संदेश लेकर आया था, किंतु, अपने क्रांतिकारी होने के प्रचार में वह ऐसा फँसा कि वास्तविक उद्देश्य का कहना ही भूल गया। वह उस नेता के समान था जो हर चीज़ को पुरानी और सड़ी हुई बतलाता है, किंतु उसकी जगह पर कौनसी चीज़ आनी चाहिए, यही नहीं कह पाता।"[4]

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 16
2 मिट्टी की ओर, पृ. 19
3 मिट्टी की ओर, पृ. 19
4 मिट्टी की ओर, पृ. 20

"छायावाद-काल की अधिकांश रचनाओं में इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि कवियों के जीवन की दैनिक वास्तविकता का त्याग किया किसी बड़ी वास्तविकता को ग्रहण करने के लिए किया हो अथवा अपने आस-पास के लोगों को छोड़कर वे प्रवास में इसलिए गये हों कि वहाँ से वापस आने पर जीवन की व्याख्या अधिक गंभीरता से कर सकें।"[1]

दिनकर छायावाद की खूबियों से अगर भली-भाँति परिचित थे तो उसकी खामियों से भी उनका दूर का सारोकार नहीं था, उन्होंने छायावाद का गहन अध्ययन किया था तथा वे छायावाद के पक्ष में सदैव खड़े रहे, परन्तु वे इस बात से भी वाकिफ थे कि साहित्य जगत् में एक बड़ी और महत्त्वपूर्ण क्रांति होने के बावजूद अपने खामियों की वजह से छायावाद को हमेशा दरकिनार किया जाएगा। इसी कारण दिनकर कहते हैं कि- "कोई बहुत आगे का साहित्यकार जब छायावादी युग के पन्ने उलटने लगेगा तब, संभव है कि वह इस युग को कविता का वैराग्ययुग कह डाले; क्योंकि, कुछ समर्थ कवियों को छोड़कर, बाकी जितने लोग उस समय मैदान में थे, सब के सब जीवन से विरक्त, अपने आस-पास के लोगों से नाराज और इस दुनिया को छोड़कर कही अन्यत्र चल देने को तैयार बैठे थे।"[2]

इस तरह छायावाद- सम्बन्धी उनके विचार इतिहास को आधार बनाकर प्रस्तुत हुए हैं। वे विचार संस्मरणात्मक भी हैं, तथ्यपरक, तलस्पर्शी और स्पष्ट भी। छायावाद के उद्‌भव के कारण, उसके वैशिष्टय, उसके स्वरूप, देन और दुर्बलताओं को प्रस्तुत करने में उन्होंने एक गंभीर अन्तर्दृष्टि संपन्न आलोचक का परिचय दिया है और प्रसाद जी की छायावादी सम्बन्धी धारणा से अलग अपना महत्त्व स्थापित किया है।

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 20

2 मिट्टी की ओर, पृ. 16

1.2.2. **दिनकर का काव्य और छायावाद :**

छायावाद जब किशोरावस्था से निकलकर युवावस्था की दहलीज की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा था, तभी हिन्दी साहित्याकाश में दिनकर का उदय हुआ। जैसा कि दिनकर ने स्वयं लिखा है- "प्रत्येक युग अपने पूर्ववर्ती युग के अनुभवों से शिक्षा लेकर आगे बढ़ता है ओर समाप्त होते-होते आगामी युग के लिए अपने अनुभवों का निचोड़ छोड़ जाता है। एक युग से दूसरे युग का यह क्रिया या प्रतिक्रिया का सम्बन्ध है।"[1] ठीक इसी तरह यह बात भी सत्य है कि प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों, साहित्य-रूपों और काव्य-शैलियों से प्रभाव ग्रहण करता है और अनायास वह प्रभाव उसके साहित्य में व्यक्त होने लगता है। दिनकर भी इस कथन के अपवाद नहीं है। यह बात और है कि जब 1925-26 से वे छायावादी रचनाओं के संपर्क में आने लगे, तो छायावादी कविताएँ उनकी समझ में कम आतीं थीं, और अपने काव्यप्रेमी मित्रों से बात करते समय वे इसका विरोध करते थे। 1928 के मुजफ्फरपूर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन(अखिल भारतीय) में उन्हें छायावादी कविताओं की निंदा और प्रशंसा, दोनों सुनने का मौका मिला था और छायावाद को निकट से समझने का मौका भी। पुनः कालेज जीवन में छायावादी कविताओं से परिचय भी बढ़ा, पर इन कविताओं पर उनकी निश्छल श्रद्धा कभी नहीं हो सकी।

छायावाद हिन्दी साहित्य में एक बड़ी क्रांति बनकर आया था और उसमें निहित तत्त्वों का प्रभाव उस युग के कवियों पर पड़ना स्वभाविक ही था। दिनकर के प्रारंभिक काव्य 'रेणुका', 'रसवन्ती', 'हुंकार' और 'द्वन्द्वगीत' में छायावाद की रोमांटिकता, कल्पनाशीलता, विराट प्रकृति के प्रति जिज्ञासा एवं आकर्षण, राष्ट्रीयता, नवोत्थानवादी भावना, वेदना, कुंठा और पलायन-सभी तत्त्व विद्यमान हैं। जैसा कि डॉ. सावित्री सिन्हा ने लिखा है- "छायावाद के युवक कवियों की रेशमी झिलमिलाहट से भी उनका कल्पनाशील युवा व्यक्तित्व प्रभावित हुए बिना नहीं रह

---

[1] काव्य की भूमिका, पृ. 24

सका।"[1] "वे यह भी कहती हैं कि छायावाद की कुंठा, वेदना और नैराश्य भी उनमें हैं।"[2] "उनकी रोमांटिकता उनके राष्ट्रीयता उनकी भावुकता से उत्पन्न हुई है जिसमें क्रांति और विध्वंस का नाद तो सुनाई पड़ता है, पर निर्माण की भावना नहीं है। तात्पर्य यह कि वे भावुकता के आवेश में रचना करते हैं। उनपर बुद्धि का आवश्यक नियंत्रण नहीं है, अतः अपेक्षित संतुलन का अभाव है, जो छायावादी काव्य का गुण है।"[3] वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं- "आरंभ में छायावादी ढंग की कुछ कविताएँ मैंने लिखीं थीं, जिनमें अधिकांश विनष्ट हो गई, किंतु, कुछेक 'रेणुका' से लेकर 'रसवन्ती' तक में अब मौजूद भी हैं। जो नष्ट हो गई विशेषतः, उन कविताओं के सम्बन्ध में ऐसा याद आता है कि उन्हें लिख लेने के बाद मुझे लगा मानों, मेरी सारी बातें कसमसा कर मेरे भीतर ही छूट गयी हो और जो कुछ मैं कह पाया हूँ वह अकथित या कथ्य का आभास मात्र हो। छायावाद में जो कोमलता थी, उसमें नई-नई सुषमाओं के जो अनेक वातायन खुलते थे, उन सबके लिए मुझमें आकर्षण और लोभ था और इस लोभ से प्रेरित होकर जब मैं कोई कविता करने बैठता, मैं अपने आप से प्रसन्न हो उठता था।"[4] आगे दिनकर का कथन है कि काव्य निर्माण के सिलसिले में उनके सामने मूल प्रश्न अभिव्यक्ति की स्वच्छता का था और उन्होंने द्विवेदीयुग और छायावाद युग के मध्य से ही कोई मार्ग निकालना चाहा था। उन्हें छायावादी युगीन भाव और अनुभूतियाँ आकर्षित करती थीं पर अभिव्यक्ति उन्हें गुप्तजी एवं त्रिपाठी जी की ठीक प्रतीत होती थी। अपने मनोद्वन्द्व को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि- "कदाचित्, मैं पन्त के सपने को मैथिलीशरण की सफाई के साथ लिखना चाहता था।"[5]

वे छायावादी धूमिलता से बचना चाहते थे, पर उनकी राह द्विवेदी युग ओर छायावाद के बीचों-बीच पड़ गयी। वे छायावादी कवियों में प्रसाद, निराला महादेवी ओर पन्त की अपेक्षा अपने

---

1 युगचारण, पृ. 68
2 युगचारण, पृ. 68
3 युगचारण, पृ. 68
4 काव्य की भूमिका, पृ. 50
5 काव्य की भूमिका, पृ. 50

को माखनलाल चतुर्वेदी, रामसिंहासन सिंह सहाय, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त के अधिक निकट मानते हैं।

दिनकर काव्य की मूल चेतना तीन धाराओं में बही है-प्रेम, कल्पना, और सौंदर्य से युक्त श्रृंगार भावना, ओज से युक्त राष्ट्रीयता, और शांत या निर्वेद का भाव। इन सबके बीज छायावाद में ही विद्यमान थे ओर इनकी रचनाओं में भी ये तत्त्व हैं।

अतीतप्रियता उनके काव्य में पूरी तरह व्याप्त है। एक तो इतिहास के छात्र होने के नाते उनकी रचनाओं में भारतीय अतीत और संस्कृति के स्वर प्रबल हो उठे हैं, दूसरे छायावादी संस्कारों के कारण उनकी 'हिमालय'। 'पाटलिपुत्री की गंगा से', 'मिथिला' आदि कविताएँ अतीत को प्रकाश में लाने में समर्थ हैं। छायावाद युग में पुनरुत्थानवादी भावनाओं से प्रेरित होकर नारी देखने की जो दृष्टि बनी थी वह दिनकर-काव्य में भी है और नारी उन्हें सौंदर्य, श्रृंगार, प्रेम और पावनता की प्रतिमा-सी प्रतीत होती है। इस अर्थ में उनमें पन्त, प्रसाद और निराला से साम्य भी दिखाई पड़ता है।

जहाँ तक दिनकर-काव्य की राष्ट्रीय चेतना का प्रश्न है वह उन्हें छायावादियों से उत्तराधिकार में ही मिली थी। यह राष्ट्रीय चेतना छायावादी काव्य की बड़ी विशेषता है, जैसा कि दिनकर कहते हैं- 'छायावादी युग में पाठकों के बीच हिन्दी कविता की बहुत कुछ प्रतिष्ठा राष्ट्रीय कविताओं ने रखी।' उनकी यह राष्ट्रीय चेतना प्रशस्ति गान, देश के उज्ज्वल एवं मनोरम अतीत के चित्रण, वर्तमान के चित्रण एवम् आक्रोश, क्रांति के स्वर एवं बलिदान के शंखनाद से पूरित हैं।

जहाँ तक छायावादी प्रतीकात्मकता का सवाल है, दिनकर की भी 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' को छोड़कर बाकी रचनाएँ गीति काव्य का अनन्य प्रस्तुत करती हैं। 'रसवन्ती' की 'गीत', 'अतीत कौन सुन्दर है', अथवा 'संगिनी' 'जी भर गा न सका मैं', 'प्रीति', 'दाह की कोयल', 'रास की मुरली' आदि में उनके सरस गीतकार रूप के दर्शन सहज ही होते हैं।

इन गुणों के अतिरिक्त छायावाद का पौरुष, उसकी दार्शनिकता, उसकी चित्रात्मकता, क्रांति भावना आदि को भी उन्होंने ग्रहण किया है। वे भी एक क्रांतिकारी कवि हैं। भले ही छायावाद की पूर्णता के युग में आने के कारण उन्होंने प्रारंभ से ही अपने काव्य में जीवन का राग छेड़ा है तथा छायावादियों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता और अभिव्यक्ति की स्वच्छता पर उन्होंने ध्यान दिया है। इसके लिए उन्होंने लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं संकेत आदि को अधिक महत्त्व न देकर अभिद्या से काम लिया है।

निचोड़ के रूप में हम कह सकते हैं कि दिनकर एक अर्थ में छायावाद द्वारा उन्मुक्त नयी काव्य-चेतना के ही विस्तार हैं।

1.2. रहस्यवादः सामान्य परिचय :

मनुष्य सृष्टि का अविभाज्य अंश है और जिज्ञासा की भावना मानव प्रकृति का अभिन्न अंग है। जबसे मनुष्य ने आँखे खोली हैं, तब से सृष्टि के असीम विस्तार और रहस्य को जानने के लिए वह आकुल है। यह प्रकृति क्या है? जीवन और मृत्यु क्या है? यह सृष्टि किसकी रूपात्मक अभिव्यक्ति है? ये ऐसे प्रश्न हैं जो मनुष्य को अनादिकाल से आंदोलित करते रहे हैं और विज्ञान की ऊँची मंज़िल की ओर बढ़ते जाने पर भी उसकी इस जिज्ञासा, उसके इन प्रश्नों का सम्यक् समाधान नहीं हो पाया है।

रहस्यवाद सभी देशों और सभी कालों में मानवता को आंदोलित करने वाला दर्शन रहा है। फलतः संसार के सभी कालों और भाषाओं में रहस्यवादी साहित्य का जन्म हुआ है और इस

साहित्य का परिमाण प्रचुर है। रहस्यवाद साहित्य का सबसे पुराना वाद है क्योंकि रहस्यवाद का दर्शन मानवता की भाँति पुराना है।

जब मनुष्य अपने भीतर प्रवेश कर अपनी आत्मा को पहचानने, उसका परिष्कार और विस्तार करने तथा ब्रह्म के साथ उसकी एकता की अनुभूति करने का प्रयास करता है तो रहस्यवाद का जन्म होता है। रहस्यवादी साधक अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को उदात्त बनाना चाहता है, उनका परिष्कार ही उसकी साधना का अंग है। फलतः जगत की संपूर्ण सत्ता के साथ वह तादात्म्य अनुभव करता है, इसलिए वह जाति, धर्म, राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर संपूर्ण मानवता को अविभाज्य मानता है और सबमें सच्चिदानंद ब्रह्म का निवास पाता है। रहस्यवादी के लिए इश्वर का ज्ञान नहीं, वरन् अनुभूति का विषय होता है। उनका सत्य स्वतंत्र होता है। वे अगम, अगोचर, वर्णनातीत और अदृश्य सत्ता तथा आत्मा की सत्ता के तादात्म्य एवम् एकता में विश्वास करते हैं और ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान का दावा भी करते हैं।

रहस्यवादियों ने और संतो, कलाकारों, साहित्यकारों, दार्शनिकों ने बुद्धि तर्क आदि की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि अथवा सहाजानुभूति पर विशेष बल दिया है, जिसके आधार पर मनुष्य परमतत्त्व ब्रह्म से साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार उसकी उपलब्धि होता है। इस अनुभूति के क्षण-विशेष में आत्मा को नया आलोक और नई शक्ति का अनुभव होता है, उसे अलौकिक शब्द और ध्वनि सुनाई पड़ते हैं। यह बात आम आदमी की समझ से परे होती हैं। जिन संतों को इस प्रकार के अनुभव होते हैं, उनका जीवन भी श्रेष्ठ होता है। इस बात के अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में उपलब्ध हैं। सच्ची रहस्यानुभूति के उपरांत व्यक्ति का दिव्य परिवर्तन होता है, उसकी भावनाएँ उदात्त हो जाती हैं, उसमें असीम करुणा, प्रेम, पवित्रता का वास हो जाता है।

समग्र मानवीय संस्कृति पर रहस्यवाद का व्यापक प्रभाव है। इसने साहित्य और कला को भी बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। विश्व के सभी देशों में रहस्यवाद की लंबी परंपरा रही है। पर भारत तो रहस्य-साधना की प्रमुख भूमि ही रहा है। प्रसाद की रहस्यवादी धारणा का विश्लेषण करते हुए डॉ. दिनेश्वर प्रसाद कहते हैं कि- "यदि विचारपूर्वक परीक्षा की जाए तो

इस निष्कर्ष पर भी पहुँचना कठिन नहीं होगा कि अपने देश में रहस्यवाद की परंपरा बहुत प्राचीन है।" आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के रहस्यवादी संतों ने भारतीय मिट्टी को, इसके वातावरण को सुरभित किया है जिससे पश्चिम जगत के लोग भी प्रभावित हुए हैं।

"उपनिषदें भारतीय रहस्यवाद का हृदय हैं। उपनिषदें वह हिमालय है जिससे वेदान्त की विविध गंगाओं की धाराएँ प्रवाहित हुई हैं।" यहाँ की भक्ति धारा के सभी साधक, निर्गुण और बौद्ध सभी तरह के संतों में रहस्यवाद का स्वर है। आधुनिक युग में भी राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द, रवीन्द्र नाथ सभी उच्चकोटि के रहस्यवादी साधक हुए। राधाकृष्णन ने तो रहस्यवाद की व्याख्या ही धर्म के प्रसंग में प्रस्तुत की है।

1.1.1. दिनकर का रहस्यवाद सम्बन्धी विवेचन :

दिनकर ने रहस्यवाद की कोई नूतन व्याख्या न कर पूर्वोक्त बातों की ही पुनर्स्थापना की है, जिसमें आधुनिकता का भी स्पर्श है और यही उनकी नवीनता है। उनका विश्वास है कि भौतिक ऊँचाई पर मनुष्य चाहे जहाँ तक पहुँचे पर धर्म और रहस्यवाद की भावना उसके साथ रहेगी। उनका कहना है- "धर्म और रहस्यवाद की भावना मनुष्य से छीनी नहीं जा सकती। आदमी ज्ञान के रास्ते से चले या विज्ञान के रास्ते से, वह अंत में एक ऐसी जगह पहुँच कर रहता है, जहाँ बुद्धि काम नहीं करती, जहाँ की अनुभूतियों को हमारी भाषा आसानी से उठा नहीं सकती।"[1]

रहस्यवाद के स्वरूप पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि- "रहस्यवाद वह धूमिल वाणी है जो अदृश्य वास्तविकता की कल्पना से फूटती है, जो उस मनुष्य के मुख से निकलती है जो अदृश्य सत्यों की काल्पनिक झाँकी से अभिभूत हो उठा है। इसीलिए, रहस्यवाद का

[1] शुद्ध कविता की खोज, पृ. 247

कितना अंश कल्पना और कितना अतिरंजित सत्य, इसे हम नहीं जान सकते।"[2] इसके कारण पर विचार करते हुए कहते हैं कि मनुष्य की अपनी सीमा है और ब्रह्म निगुढ़ सत्य-"धुँधली बातें बोलना उसके लिए स्वाभाविक है जो सीमित मनुष्य है और कल्पना को बहुत दूर खींचने अथवा समाधि को सिंधुवत् गंभीर बना लेने पर भी जिसे अदृश्य वास्तविकता का संपूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। किंतु, जो कुछ उसे दिखलायी पड़ता है उसी से चकित, विस्मित और उत्तेजित होकर वह अद्भूत बातें बोलने लगता है, जैसे कबीर बोल गये हैं, जैसे दादू और मीरा बोल गयी हैं।"[3]

उनका कथन है कि इसके बाद वाला स्तर रहस्यवाद का अध्यात्मिक स्तर होता है जहाँ अस्पष्टता, रहस्यात्मकता जैसी चीज़ें नहीं रह जाती- "रहस्यवाद में अदृश्य, अगोचर तथा अज्ञेय पर चकित एवं विस्मित होने का भाव रहता है। किंतु, इससे भी ऊपर चेतना का एक और स्तर है जहाँ पहुँच कर सत्य का वर्णन इस भाव से किया जाता है मानों जो रहस्य था वह उन्मुक्त हो गया हो, जो अज्ञात था वह ज्ञात हो गया हो। यह स्तर अध्यात्म का स्तर है जिसकी कविता, मुख्यतः गीता में स्वयं भगवान ने कही है अथवा वह यत्र-तत्र उपनिषदों में दृष्टिगोचर होती है।"[1] रहस्यवाद की जिज्ञासा आत्मा को पहचानने की जिज्ञासा है-"रहस्यवादी का ध्येय शरीर नहीं, आत्मा होती है। किंतु आत्मा का चित्रण भी वह शरीर की ही भाषा में करता है। कबीर, जायसी, मीरा, दादू, और रवीन्द्र का लक्ष्य आत्मा का धरातल है, किंतु, इस धरातल के अस्पष्ट होने के कारण ही इन कवियों ने ऐंद्रिय एवं शारीरिक संकेतों का आश्रय लिया है जिससे जो अस्पष्ट है उसे सुस्पष्ट बनाया जा सके , जो दूर है वह समीप लाया जा सके तथा जो अरूप है उसका हम मानसिक स्पर्श कर सकें।"[2] दिनकर का मानना है कि रहस्यवाद वहीं है जहाँ आत्मा के धरातल का विवेचन और अनुसंधान किया जाता है- "तब भी, रहस्यवाद हम वहीं मानते हैं जहाँ आत्मा की भाषा का अनुकरण किया जाता है, जहाँ अतिन्द्रिय धरातल की

---

2 पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 91
3 पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 91
1 पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 91-92
2 पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 92

चेतना की वाणी उधार ली जाती है, जहाँ आत्मा की वस्तुस्थिति का वर्णन नहीं, उसकी धुँधली झाँकियों का बखान होता है।"[1] रहस्यवाद की उनकी यह विवेचना बड़ी ग्राह्य प्रतीत होती है कि बुद्धि की पहुँच के परे वाले स्थल तक अन्तर्दृष्टि द्वारा पहुँचने की कोशिश रहस्यवाद है- "इसलिए जहाँ बुद्धि और कल्पना की समानांतर दौड़ का क्षेत्र है वहाँ तक रहस्यवाद जैसे किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानी जा सकती। असल में रहस्यवाद वहीं आ सकता है जहाँ बुद्धि श्रांत होकर बैठ जाय और कल्पना आगे बढ़कर अदृश्य का संकेत देती हो।"[2]

साथ ही साथ वे यह भी मानते हैं कि रहस्यवाद ढ़ोंग नहीं है, उसे बुद्धि से जोड़ कर भी देखा जाना चाहिए। रहस्यवाद में कल्पना की अतिशयता होना ज़रूरी है ताकि उस सत्य को पाया जा सके जो आम वास्तविकता से परे की चीज़ है वहीं इस बात की भी सतर्कता बरती जानी चाहिए कि कल्पना ईर्ष्यावश बुद्धि की सत्ता को न नकारे, क्योंकि ऐसी कल्पना के सहारे सच्ची रहस्यात्मकता की सृष्टि नहीं हो सकती- "प्रत्येक प्रकार की धुंधली वाणी को हम रहस्यवाद मान लें , यह रहस्यवाद जैसे महंगे शब्द का मान घटाना तथा असमर्थ उद्‌गारों को अनुचित महत्त्व देना है। वाणी धुँधली इसलिए भी हो सकती है कि जो तत्त्व बुद्धिगम्य है, उसका सुस्पष्ट चित्रण कवि अपनी अक्षमता के कारण नहीं कर सका हो, उसके भीतर साधारणीकरण की शक्ति सीमित हो अथवा उसक़ी भाषा में बल नहीं हो। बुद्धि हमारी जिज्ञासाओं का जहाँ तक समाधान कर सकती है, वहाँ तक वह रहस्यवादी को भी ग्राह्य होनी चाहिए।"[3] "अतएव सच्ची रहस्यात्मकता के पीछे बुद्धि का भी प्रबल आधार होता है।"[4]

कल्पना और बुद्धि के परे भी दिनकर एक और सत्ता को स्वीकारते हैं वह है सहज प्रवृत्ति(Intuition) की-"हाँ यह संभव है कि प्रत्येक रहस्यवादी की बुद्धि अध्ययन और मनन-जनित अथवा शास्त्रीय नहीं होती; क्योंकि मनुष्य के अंदर सहज प्रवृत्ति(Intuition) नाम की भी

---

1 पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 92
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 129
3 अर्धनारीश्वर, पृ. 128
4 अर्धनारीश्वर, पृ. 128

एक शक्ति है जो वहीं काम करती है जिसका सम्बन्ध ज्ञान अथवा बुद्धि से है। कबीर, दादू, और नानक के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये महात्मा बड़े विद्वान नहीं थे और जब-तब मस्ती में आकर उन्होंने पांडित्य का कुछ निरादर भी किया है। फिर भी अपनी साधना के बल पर वे जिन निर्णयों पर पहुँचे थे, वे ज्ञानियों और पंडितों के निर्णय से बहुत भिन्न नहीं है।"[1] ये साधक "ज्ञान के उस स्तर तक पहुँच गये जहाँ पहुँचते-पहुँचते पंडितों की भी आयु थक जाती है। यह चमत्कार सहज प्रवृत्ति का है। यह चमत्कार उस शक्ति का है जिसे हम, अन्य कोई नाम न पाकर, हृदय की शक्ति कहते हैं। अक्ल जिसे समझ नहीं सकती, दिल उसे आँखों से देखता है। हठयोगी जिसे विविध क्रियाओं के द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकता, वही समाधि किसी-किसी को आप-से-आप लग जाती है।"[2]

दिनकर सच्ची रहस्यात्मकता के लिए बुद्धि के प्रबल आधार को मानने के बावजूद बुद्धि और विज्ञान की सत्ता को नकारते हैं तथा कल्पना और सहज प्रवृत्ति(Intuition) को यथेष्ट महत्ता प्रदान करते हैं। अपनी बात को और पुख़्ता बनाने के लिए वे कहते हैं- "रहस्यवाद पूर्णता की अपूर्ण अनुभूति है, रहस्यवाद उस अगोचर को छूने का प्रयास है जिसे तर्क छू नहीं सकता, जो बुद्धि के स्पर्श से परे है। अपनी समाधि में फैलते-फैलते मनुष्य जब गोचर परिधि के पार जाने लगता है तब उसकी अनुभूति शब्दों में स्पष्ट रूप से नहीं कही जा सकती। शब्द उस अनुभूति का सिर्फ संकेत भर देते हैं और उन्हीं संकेतों के बल पर हमें उसे ग्रहण करना होता है। व्यक्ति में किसी ऐसी भाव-दशा की सत्ता संभव है या नहीं इस प्रश्न पर विज्ञान से प्रमाण माँगना उसे व्यर्थ ही असमंजस में डालना है; क्योंकि संसार की विभिन्न भाषाओं में ऐसे कितने ही कवि और संत हुए हैं, जिनकी आत्मा ने ऐसे प्रसार का अनुभव किया था।"[3] इनकी कोई उपयोगिता जीवन में है या नहीं यह बेकार हैं- इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि- "हमारे

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 128
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 128-129
3 अर्धनारीश्वर, पृ. 129-130

भीतर ऐसे कितनी ही शक्तियाँ हैं जिनका आधिभौतिक जीवन में कोई प्रत्यक्ष उपयोग नहीं है, किंतु, जिनके विकास से हमारी आंतरिक संपन्नता में वृद्धि होती है और हमारे चौकौर(Rounded) व्यक्तित्व के निर्माण में सहायता मिलती है। गोचर के घेरे में उमड़कर अगोचर से टकरानेवाला हमारा आत्मिक प्रसार भी, इसी प्रकार, हमारे व्यक्तित्व को और भी अधिक संपन्न बनाता है, हमें और भी अधिक पूर्ण करता है।"[1] दिनकर भविष्य की ओर संकेत करते हुए रहस्यवाद की सार्थकता को दर्शाने की चेष्टा करते हैं- "आधुनिक साहित्य के उच्चत्तम शिखर पर रहस्यवाद की कुहेलिका मँडराने लगी है। यानी सामान्य बुद्धि पहले जहाँ थक कर बैठ जाती थी, अब वहाँ से भी सहजानुभूति के सहारे आगे बढ़ने की चेष्टा कर रही है। और यह प्रवृत्ति सिर्फ उन्हीं कवियों में देखने को नहीं मिलती जो धार्मिक अथवा आस्तिक हैं। बल्कि, यह उनका भी प्रमुख लक्षण हैं जो नास्तिक रहे हैं अथवा जिन्होंने खुल कर ईश्वरीय सत्ता में अविश्वास प्रकट किया है।"[2]

दिनकर ने विदेशी रहस्यवादी साहित्यकारों में रसेल को रहस्यवादी माना है और मलार्मे, बोदलेयर, इट्स, इलियट आदि को इसी अन्तर्दृष्टि से संपन्न माना है- "मलार्मे, समायँ, हाउसमैन, बाल्ट ह्विटमैन, यीट्स, और इलियट, प्रायः, नवयुग के जो भी तगड़े कवि हुए हैं, उनका धार्मिक विश्वास चाहे जैसा भी रहा हो, किंतु द्रव्य के विश्लेषण में वे बुद्धि की रेखा से बहुत आगे जाते रहे हैं तथा उस सहजानुभूति से काम लेकर उन्होंने अगोचर को छूने का प्रयास किया है जिसे वह बुद्धि का ही एक रूप कह के बर्खास्त कर देना चाहता है।"[3] यह सहज प्रवृत्ति ज्ञान का ही एक माध्यम है जो गाँधी, कबीर आदि महापुरुषों में थी। लेकिन सहज ज्ञान के उस स्तर तक पहुँचे थे, जहाँ पंड़ितों का पहुँचाना भी कठिन होता है।

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 130
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 167
3 अर्धनारीश्वर, पृ. 167-168

इस तरह वे रहस्यवाद की सत्ता स्वीकार करते हुए इस बात पर ज़ोर देते हैं कि विज्ञान जिस लोक का उद्‌घाटन नहीं कर पाता, उस लोक तक रहस्यवादी अपनी अन्तर्दृष्टि और सहज ज्ञान के द्वारा पहुँचता है। आज के बुद्धिवादी युग में बुद्धिवादी चिन्तक भी रहस्यवादी हुए हैं और उनके प्रति शंका व्यक्त करना उचित नहीं है।

1.1.2. दिनकर का काव्य और रहस्यवाद :

जहाँ तक उनके काव्य में रहस्यवाद की सत्ता की बात है, यह नहीं कहा जा सकता कि एक कवि के रूप में वे रहस्यवादी हैं और कबीर, नानक, महादेवी, अरविंद, जार्ज रसेल आदि कवियों द्वारा जो रहस्यात्मक अनुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं वह उनके काव्य में है। आम तौर पर वे ओज और श्रृंगार के कवि हैं जिनकी एक धारा राष्ट्रीयता है तो दूसरी श्रृंगारिकता। पर इन दोनों के मध्य निर्वेद की भी संक्षिप्त झाँकी उनमें मिलती है। उनमें छायावादियों की भाँति रहस्यवाद की सतही झाँकी मिलती है। छायावाद-युग में माखनलाल, पंत, निराला, और महादेवी ने रहस्यात्मक कविताएँ लिखी हैं। पर महादेवी को छोड़कर कोई भी उच्चकोटि का रहस्यवादी नहीं हुआ। उनकी अनुभूति अन्तःप्रेरित न थी बल्कि ऊपरी थी, अतः उनका रहस्यवाद साधक का नहीं था। वैसे ही दिनकर के 'द्वन्द्वगीत', 'नीलकुसुम', 'हारे को हरिनाम' में कुछ ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें प्रकृति और ब्रह्म के प्रति उत्सुकता एवं जिज्ञासा की अभिव्यक्त हुई है। 'द्वन्द्वगीत' के कुछ प्रसंगों में जीव और ब्रह्म सम्बन्धी द्वन्द्वात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। इस रचना में रहस्यवाद का ऊपरी संकेत मिलता है-

'हेर थका मैं भेद, गगन पर
क्यों उड़-घाड़ी चमकती है
देख रहा मैं खड़ा, मग्न
आँखों की तृषा न छकती है/
मैं प्रेमी, तू ज्ञान-विशारद,

मुझमें, तुझमें भेद यही,
हृदय देखता उसे, तर्क से
बुद्धि न जिसे समझती है।'[1]

कवि अपने आवागमन की जिज्ञासा से बेचैन हो उठता है-

'भेजा किसने? क्यों? कहाँ?
भेद अब तक न शुद्ध यह जान सका।
युग-युग का मैं यह पथिक श्रांत
अपने को अब तक पा न सका।'[2]

ईश्वर के प्रति अपनी विरहानुभूति व्यक्त करता हुआ कवि कहता है-

'तिल तिल कर हम जल चुके,
विश्व की तीव्र आँच कुछ मंद करो,
सहने की अब सामर्थ्य नहीं,
लीला प्रसार यह बन्द करो,
चिंतित श्रम जाल समेट धरो,
हम खेल खेलते हार चुके,
निर्वासित करो प्रदीप, शून्य में
एक तुम्हीं आनन्द करो।'[3]

सृष्टि ईश्वर की अभिव्यक्ति है और उसके कण-कण में रहस्यवादियों में ईश्वर की झाँकी पाई है। दिनकर के 'द्वन्द्वगीत' में यह भाव व्यक्त हुआ है। इस तरह सृष्टि के प्रति जिज्ञासा, विरह भावना, अस्तित्व की खोज-ये भाव रहस्यवादी कवि के भाव हैं।

इसी तरह 'हारे को हरिनाम' में भी इस संपूर्ण जगत के क्रियाकलाप में ईश्वरत्व का दर्शन करते हैं। प्रभात का कलरव और सौन्दर्य ईश्वर का प्रसाद ही है, और दुर्दिन की झँझा

---

1 द्वन्द्वगीत, पृ. 50
2 द्वन्द्वगीत, पृ. 65
3 द्वन्द्वगीत, पृ. 65

में कठोर वज्र को वे ईश्वर का ही शंखनाद मानते हैं और अपनी संपूर्ण पीड़ा को उसी पर समर्पित कर देना चाहते हैं-

'उषा: लोक का पुलकाकुल कलरव
मधुर जिसका प्रसाद है।
दुर्दिन की झंझा में वज्र कठोर
उसी का शंखनाद है।
जिसका दिवस ललाट, उसी का निशा चिकुर है
क्षम उसमें, जो है दिगन्त में क्षमा।
हृदय, आकुल मत होना।'[1]

दिनकर की इस रहस्यवादी भावना में एक ओर भारतीय रहस्यवादी भावना का बल है तो दूसरी ओर आधुनिक बुद्धिमूलकता का।

1.3. प्रगतिवाद : सामान्य परिचय :

आम तौर पर लोगों का यह कहना है कि हिन्दी साहित्य में जैसे छायावाद एक क्रांतिकारी घटना के रूप में आया, वैसे छायावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रगतिवाद और प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयोगवाद का जन्म हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिवाद का जन्म 1936 ई० से माना जाता है, जब प्रेमचंद जी की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक हुई। इससे एक वर्ष पूर्व 1935 ई० में लंदन में क्रांतिकारी लेखकों की एक बैठक हुई थी और विश्व के प्रगतिशील लेखक संघ का जन्म हुआ था। यहाँ से प्रगतिवाद का स्वर विश्व साहित्य में सुना जाने लगा।

हिन्दी साहित्य में 'प्रगतिवाद' के नाम से जिस साहित्यिक विधा से हमारा परिचय है, उसमें कल्पनाशीलता, सौंदर्यप्रियता, कोमलता, भावुकता और सूक्ष्मता के विपरीत जीवन का उसी रूप में चित्रण आवश्यक माना गया जिस रूप में उसमें कुरूपता और स्थूलता है। प्रगतिवाद के

[1] हारे को हरिनाम, पृ. 1

अनुसार साहित्य मात्र कल्पना का विलास नहीं, फूलों और तितलियों का देश नहीं है, इसमें जीवन के आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का महत्त्व अधिक है। इस दृष्टि के कारण कला की बारीकियों को गौण माना जाने लगा। जीवन का यथातथ्य चित्रण ही साहित्य का लक्ष्य मान लिया गया और उसी के अनुरूप जीवन से ही सरल भाषा-शैली और प्रतीक को भी ग्रहण किया गया। इसमें परिगणित कलाकार सामाजिक, वैषम्य, शोषण, अनाचार, साम्राज्यवाद और औपनिवेशिकता के विरुद्ध थे। इसमें मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन को स्वीकृति दी गई जिसका मूल लक्ष्य वर्गहीन समाज की स्थापना था। मार्क्स के सिद्धान्तों के फलस्वरूप ही संपूर्ण विश्व में औद्योगिक क्रांति की लहर फैली और भारत भी उससे प्रभावित हुआ। भारत में हृदय-परिवर्तन की जगह पर लोगों ने उस क्रांति को स्वीकृति देना बेहतर समझा जिससे समाज-शरीर के रुग्ण हिस्से निकाल कर उसे स्वस्थ जीवन दिया जा सके। साहित्य का प्रगतिवाद राजनीति के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ, अतः यह भी कहा जा सकता है कि राजनीति का समाजवाद ही साहित्य में प्रगतिवाद के नाम से विख्यात हुआ।

1.3.1. **दिनकर का प्रगतिवाद सम्बन्धी विवेचन :**

लोगों का विश्वास है कि साहित्य का यह प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया है। दिनकर इस विचार का खण्डन करते हैं। पहली बात तो यह है कि वे प्रगतिवाद को छायावाद या प्रयोगवाद की तरह न कोई क्रांति नहीं मानते हैं, न साहित्यिक मूल्य परिवर्तन की दिशा में कोई परिवर्तन की दिशा में कोई प्रयास और न साहित्य की कोई विशिष्ट धारा। उनका कहना है कि प्रगतिवाद साहित्य की कोई विशिष्ट धारा न होकर छायावाद का ही परिपाक है। उनके इस कथन का कारण उनकी यह धारणा है कि छायावाद की जो त्रुटियाँ थीं, वे ही मार्जित होकर जनता के सामने आई। अनेक चीज़ें, जो छायावाद में थीं, प्रगतिवाद में भी बनी रहीं - यहाँ तक कि छायावाद के अनेक उन्नायक कवि ही प्रगतिवाद के श्रेष्ठ कवि हुए। इसलिए वे इस प्रगतिवाद न कहकर छायावादोत्तर काल कहते हैं : "इसलिए मेरा विचार है कि जिसे हम प्रगतिवाद कहते हैं

वह छायावाद के परिपाक के सिवा कुछ नहीं है। प्रगतिवाद को, कवितागत किसी नये जागरण का पर्याय मानना अनेक दृष्टियों से अत्युक्तियुक्त और खण्डनीय है, सबसे पहले तो प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दी में जो कुछ भी सुन्दर रचनाएँ की गई हैं, उनकी शैली, लक्षणा, व्यंजना, विशेषण-विपर्यय, नाद-चित्रण, मानवीकरण, अन्योक्ति-समासोक्ति से युक्त वही शैली है जिसकी विशिष्टता छायावाद ने स्थापित की थी। फिर उसके कवि भी अधिकांश मे वे ही लोग हैं जो छायावाद का उन्नयन अथवा अनुगमन करते हुए यहाँ तक आये हैं।"[1]

जिन प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं के आधार पर प्रगतिवाद युग की संज्ञा छायावादोत्तर युग को दी गई, उनके सम्बन्ध में दिनकर का विचार यह है कि वे सभी विशेषताएँ छायावाद युग के पहले भारतेन्दु और द्विवेदी युग से ही विकसित होती हुई छायावाद युग में भी आई और पुष्ट हुई। उदाहरण के लिए भारतेन्दु तथा नवीन जी की कितनी ही रचनाएँ प्रगतिवादी युग की श्रेष्ठ रचनाओं से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था का जो विरोध प्रगतिवादी युग का मूल विषय है, वह नवीन जी की रचनाओं में भी देखा जा सकता है, जैसे सामाजिकता। इस कथन को और पुख्ता करते हुए दिनकर कहते हैं कि- "जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, हिन्दी में उल्लेख प्रगतिवादी युग का नहीं, प्रगतिशील प्रवृत्ति का होना चाहिए। और यह प्रवृत्ति छायावाद युग के बाद ही दिखाई नहीं पड़ी। वह भारतेन्दु हरिशचन्द्र में भी थी और बालमुकुन्द गुप्त में भी तथा द्विवेदी-युग में भी इस प्रवृत्ति का प्रभूत प्रमाण उपलब्ध है। स्वयं छायावादी युग में जो राष्ट्रीय कविताएं लिखी गयीं, वे प्रगतिशील काव्य का ही दृष्टांत थीं।"[2] सन् १९३० के बाद हिन्दी कविता में सुस्पष्टता, दृढ़ता, ओज आदि जिन गुणों का विकास हुआ, वे भी छायावाद में उपलब्ध गुणों के विकास थे। अतः काव्य-क्षेत्र में वे प्रगतिवाद को कोई नवीन जागरण नहीं

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 27

2 काव्य की भूमिका, पृ. 46

मानते- "प्रगतिवाद साहित्य का नूतन जागरण नहीं, प्रत्युत उसी क्रांति के परिपाक का फल जिसका आरंभ छायावाद के साथ हुआ था।"[1]

प्रगतिवाद के क्षेत्र में आनेवाले जितने भी कवि हैं, जैसे बच्चन, नरेन्द्र, नेपाली, आरसी, केसरी, सुधीन्द्र और श्यामनारायण पाण्डेय, उन्हें न तो छायावादी कहा जा सकता है और न प्रगतिवाद के अन्तर्गत लिया जा सकता है, क्योंकि ये सारे कवि छायावादी कवियों के ठीक पीठ पर आने वाले कवि थे। स्वयं दिनकर ने भी अपने आपको इसी युग का माना है जबकि लोग उन्हें प्रगतिवादी कहते हैं। इसलिए वे परंपरा से चली आ रही मान्यताओं का खंडन करते हैं- हिन्दी में एक प्रथा सी चल पड़ी है कि आलोचक और इतिहासकार द्विवेदी-युग के बाद छायावाद-युग और छायावाद-युग के बाद प्रगतिवाद-युग की चर्चा करते लगते हैं। इससे कई कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि जैसे द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के व्यक्तित्व एक-दूसरे के बाद अलग-अलग स्पष्ट दिखायी देते हैं, उस प्रकार प्रगतिवाद-काल का कँगुरा अलग दिखायी नहीं देता, न इस युग का व्यक्तित्व स्पष्ट हैं। यदि कोई कहे कि छायावाद-युग के बाद, सचमुच ही, एक युग आया था जिसका नाम प्रगतिवादी युग है तो सहज ही यह प्रश्न उठेगा कि यह प्रगतिवादी युग, मोटे तौर पर, कब-से-कब तक रहा और उसके कवि कौन लोग थे?

दिनकर के शब्दों में- "जिसे हम प्रगतिवाद कहते हैं वह छायावाद के परिपाक के सिवा और कुछ नहीं है। प्रगतिवाद को, कविता-गत किसी नये जागरण का पर्याय मानना अनेक दृष्टियों से अयुक्तियुक्त और खण्डनीय हैं, सबसे पहले तो प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दी में जो कुछ भी सुन्दर रचनाएँ की गई हैं, उनकी शैली, लक्षणा, व्यंजना, विशेषण-विपर्यय, नाद-चित्रण, मानवीकरण, अन्योक्ति और समासोक्ति से युक्त वही शैली है, जिसकी विशिष्टता छायावाद ने स्थापित की थी। फिर उसके कवि भी अधिकांश में वे ही लोग हैं जो छायावाद का उन्नयन अथवा अनुगमन करते हुए यहाँ तक आये हैं।.....प्रगतिवाद की सबसे बड़ी विशेषता शायद यह

[1] काव्य की भूमिका, पृ. 46

है कि उसने काव्य में राजनीति की स्थापना की है; किंतु यहाँ स्मरणीय है कि छायावाद का पर्याय रोमांसवाद, प्रायः सभी देशों में उग्र राजनीतिक आंदोलनों के प्रति सदैव सहानुभूति पूर्व था, तथा आरंभ से ही हिन्दी में भी वह उग्रता का समर्थक रहा है।"[1]

इस तरह वे प्रगतिवाद में छायावाद जैसे कविता की शैली और भाव की कोई क्रांति नहीं देखते।

वे प्रगतिवाद को साहित्यिक आंदोलन न मानकर उसे साहित्येतर आंदोलन मानते हैं, किसी भी आंदोलन को हम साहित्यिक आंदोलन की कसौटी पर तभी रख सकते हैं जब उससे साहित्य की शैली में परिवर्तन हो- "……प्रगतिवाद ने कभी कोई वैसा काम नहीं किया। न तो उसने शैलियों में कोई परिवर्तन करवाया, न भावों की दिशा में ही नये क्षितिजों का संकेत दिया।"[2] "प्रगतिवाद ने साहित्य पर कोई भी प्रभाव नहीं ड़ाला जिसे हम किसी भी दृष्टि से साहित्यिक प्रभाव कह सकें।"[3] दिनकर कहते हैं कि कुछ लोगों ने राजनीति के प्रचार के लिए इसका सहारा लिया, मार्क्सवादी सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले लोगों ने साहित्य के माध्यम से राजनीति का शंखनाद किया- "यह मुख्यतः, साहित्येतर आंदोलन था जो साहित्य के भीतर केवल राजनीतिक उपयोग के लिए साहित्यिकों का शोषण करने आया था।"[4]

प्रगतिवाद में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का व्यापक उपयोग हुआ है। वर्गविहीन समाज तथा सर्वहारा वर्ग के प्रति उसकी सहानुभूति रही है तथा उनके उत्थान के नारे साहित्य के माध्यम से लगाये हैं। छायावादोत्तर काव्य और प्रगतिवादी काव्य में सिर्फ इतना ही अंतर है कि छायावाद साहित्यिक आंदोलन था और उसमें हमारी चेतना को प्रभावित करनेवाली अनुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं- राजनीतिक सिद्धान्त नहीं, जबकि प्रगतिवाद में मार्क्सवादी सिद्धान्तों को भी स्थान दिया गया है।

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 27-28
2 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 45
3 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 45
4 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 45

दिनकर हमेशा से समन्वयवादी रहे। वे न तो अति शुद्ध कलावादी रचनाओं के पक्ष में थे और न ही उग्र सामाजिक यथार्थवादी रचनाओं के। वे सदैव से यह मानते रहे कि साहित्य में किसी भी विचारधारा की अति ठीक नहीं जब साहित्य में प्रगतिवाद का खोल पहनकर मार्क्सवादी सिद्धान्तों ने प्रवेश किया तो ऐसे आलोचक जो कला को केवल एकमात्र सौंदर्यानुभूति का माध्यम मानते हैं उन्हें यह चिन्ता सताने लगी कि किस प्रकार साहित्य को राजनीति का अनुचर बनने से रोका जाये तथा साहित्यिक मूल्यों एवं मर्यादाओं की रक्षा की जाए। दिनकर कहते हैं कि- "साहित्य-रचना मनुष्य के मस्तिष्क की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसके विषय और द्रव्य किसी युग या वस्तु-विशेष तक ही सीमित नहीं रखे जा सकते।"[1] माने यह कि साहित्य पर यगानुरूप परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। साहित्य और राजनीति दोनों का जन्म जीवन से ही होता है। ऐसे में साहित्य को बाह्य परिस्थितियों से कदापि नहीं बचाया जा सकता। दिनकर कहते हैं कि साहित्य का सर्जन आनन्दानुभूति के लिए होता है तथा साहित्येतर रचनाओं का आधार मिमांसा और बुद्धि के सामान्य सिद्धान्त होते हैं। एक ईमानदार साहित्यकार के लिए यह मायने नहीं रखता कि वह फूलों से घिरा हुआ है या उसके आसपास की भू शहीदों से पटी हुई है। जो महत्वपूर्ण होता है वह यह कि इन दोनों स्थितियों से भी आनन्द सृजन कर सकता है या नहीं-"कलाकार का आनन्द सर्जन की प्रक्रिया का आनन्द है और पूलों का चित्र बनाकर उसे जो आनन्द मिलता है; वही आनन्द उसे काँटों की तस्वीर बनाने से भी मिलता है। कलाकार की जननी कलाकार के हृदय की प्रसन्नता है। वर्ण्य विषय के प्रति सहानुभूति, आशा, विश्वास तथा तादात्म्य के भाव के बिना कला का जन्म नहीं हो सकता।"[2] यह वर्ण्य विषय बाह्य परिवेश से ही आता हैं, ऐसे में युगानुरूप साहित्य में परिवर्तन होना स्वभाविक है, साहित्य में सौंदर्यबोध की पहली शर्त ही यह है कि वह उन तमाम विषयों को ग्रहण करे जिससे सौंदर्य वृद्धि हो। ऐसे मे साहित्य अगर बाह्य प्रभावों की अवहेलना करने लगे तो साहित्यकार किस

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 81

2 मिट्टी की ओर, पृ. 81

अनुभूति की अभिव्यक्ति करेगा। दिनकर केवल इतना जताना चाहते हैं कि साहित्य को किसी विचारधारा अथवा राजनीति के प्रचार-प्रसार अभियान के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता, हाँ यह ज़रूर किया जा सकता है कि यथार्थ और आदर्श का सही सही घाल-मेल किया जाए, दोनों की अभिव्यक्ति हो।

इसी बात को और पुख्ता करते हुए वे कहते हैं कि- "किसी भी कृति को मार्क्सवादी सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर उसे क्रांतिकारी अथवा श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा अयुक्तियुक्त एवं अन्यायपूर्ण है, क्योंकि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त वे नहीं है जिनसे कला की जाँच की जाती है। मनुष्य को भूख इसलिए नहीं लगती कि उसके पास रोटी खरीदने के लिए पैसे मौजूद हैं और न पैसों के अभाव में उसकी क्षुधा रुकी रहती है। उसी प्रकार कला भी आत्मा की प्रेरणा से तथा उसकी आवश्यकताओं के अनुसार जन्म ग्रहण करती हैं। मार्क्सवाद यह भले ही बतला दे कि किसी कला के रूप-विशेष का विकास किसी युग-विशेष में ही क्यों हुआ, किंतु उसका यह धर्म नही है कि वह आंदोलनों के द्वारा अपनी राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य की रूप-रेखा को पलटने का प्रयास करे।"[1]

दिनकर इस बात से भी सहमत हैं कि जहाँ प्रगतिवाद ने राजनीति के लिये साहित्य के माध्यम से अपना मार्ग प्रशस्त किया वहीं दूसरी ओर इसने सामाजिक लक्ष्य से प्रेरित साहित्य को भी अत्याधिक महत्त्व दिया। दिनकर इसका कारण समकालीनता मानते हैं- "एक युग का साहित्य किसी दूसरे युग का ह्रदय ठीक उसी तरह नहीं छू सकता, जिस तरह उसका अपना साहित्य छू सकता है। गंभीर हो या छिछला, सुन्दर हो या असुन्दर, प्रत्येक युग में उसका समकालीन साहित्य ही प्रधान होता है, क्योंकि इसी साहित्य में उसका अपना ताप, उसकी अपनी व्यथा तथा उसके अपने आवेग ध्वनित होते हैं। गलत या सही तौर पर प्रगतिकामी कहकर हम अर्वाचीन साहित्य के जिस अंश को कलाविहिन तथा स्थूल कहते हैं, वह समकालीन जीवन की ही व्याख्या का प्रयास है। प्रगतिवाद की दृष्टि केवल सौन्दर्य-बोध पर नहीं

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 105-106

है, वह जीवन को उन तमाम विद्याओं के माध्यम से देखने की कोशीश कर रहा है जो जीवन की समकालीन समस्याओं की व्याख्या से उत्पन्न हुई हैं और जो अपने व्यापक प्रसार के कारण उन सभी लोगों के लिए आवश्यक हो रही हैं, जो समाज की वर्तमान दुरावस्थाओं को ईमानदारी से समझना चाहते हैं।"[1] दिनकर प्रगतिवादी साहित्य में कला के निखार, रस और माधुरी के उद्रेक तथा साहित्य के स्वाभाविक वातावरण के स्पष्ट अभाव के कारण को समझाते हुए कहते हैं कि- "साहित्य में प्रगतिवाद का आविर्भाव किसी कलात्मक अथवा सौन्दर्य-बोध-विषयक जागरण का सूचक नहीं है, क्योंकि अभी तक उसके प्रति जनता के आकर्षण का कारण उसकी कलात्मक शोभा नहीं, प्रत्युत्, समकालीन जीवन के प्रति अत्यंत श्रद्धा और आस्था के भाव हैं।"[2]

दिनकर केवल इतनी ख्वाहिश रखते हैं कि सामाजिकता के उद्देश्य में कहीं आदर्श और कलापक्ष गौण न रह जाए। फिर भी वे प्रगतिवादी साहित्य और जीवन का अनिवार्य सबंध स्वीकार करते हैं। प्रगतिवादी साहित्य में लेखक और कवि ने सौन्दर्य पक्ष की अवहेलना ज़रूर की है, पर वह जीवन को निकट से देखने के लिए प्रयत्नशील हैं- इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस बात को भी दरकिनार नहीं किया जा सकता कि शैली पक्ष से गौण होते हुए भी प्रगतिवादी साहित्य ने अपने भाव पक्ष के कारण ख्याति अर्जित की। आगे चलकर दिनकर यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रगतिवाद "विश्व-साहित्य में अपना झण्डा उडाये चल रहा है। कुछ दिनों तक तो ऐसा लगा, मानों, प्रगतिवाद के भीतर से राजनीति साहित्य पर चढ़ी आ रही हो। किंतु यह उफान अब दब गया है और लोग मानने लग गये हैं कि प्रगतिवाद राजनीति नहीं वरन्, साहित्य में ही एक विशिष्ट प्रकार की नविनता का द्योतक है, जिसका समाज की प्रगतिशील प्रवृत्तियों से पूरा सामंजस्य है।"[1]

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 86
2 मिट्टी की ओर, पृ. 87
1 अर्धनारीश्वर, पृ. 38

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष सामने आता है कि दिनकर प्रगतिवाद को छायावाद का ही परिपाक मानते हैं और उसकी राजनीतिक चेतना को युग का आवश्यक प्रभाव मानकर उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं।

1.3.2. **दिनकर का काव्य और प्रगतिवाद :**

जहाँ तक दिनकर के काव्य का प्रश्न है, आम तौर पर सभी लोगों ने उन्हें प्रगतिवादी धारा का कवि कहा है। इसका कारण यह है कि प्रगतिवाद की सभी स्वीकृत विशेषताएँ दिनकर काव्य में विद्यमान हैं। कुछ लोगों ने तो इन्हें इस धारा का निर्माता कवि तक कहा है। उनकी 'रेणुका' की कुछ रचनाएँ, 'हुंकार', 'सामधेनी', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'परशुराम की प्रतीक्षा', 'दिल्ली', 'नीम के पत्त', आदि अनेक रचनाएँ उनकी प्रगतिवादी भावनाओं के ज्वलंत प्रमाण हैं। साहित्य जगत् में वे क्रांतिकारी के रूप में ही आये हैं। उनकी रचनाओं में वैयक्तिक अनुभूति से अधिक सामूहिक चेतना को वाणी दी गयी है। जीवन के यथार्थ का चित्रण करने मे भी वे अनुपम हैं। एक ओर वे राष्ट्रीय चेतना और प्रगतिशीलता की दृष्टि से भारतेन्दु की परम्परा के उल्लेख्य विस्तार है, तो दूसरी ओर अपनी क्रांतिकारी भावना के अंकन में वे बँगला के क्रांतिकारी कवि नज़रुल के समकक्ष हैं।

उनकी यह प्रगतिवादी चेतना सीमित दायरे तक ही संरचित नहीं होती, बल्कि संपूर्ण जीवन के मंगलमय भविष्य की कामना करती है। उनके भाव जन-जीवन से लिये गये हैं जिसमें ग्रामीण और नगर जीवन के पर्याप्त चित्र है। उनमें अनुभूति की बेधकता के साथ अभिव्यक्तिगत स्वच्छता भी है। उनकी भाषा जन-जीवन के निकट है और शैली में प्रसाद गुण एवं अभिद्या को अपनाया गया है। उनका काव्य मात्र सूक्ष्म की उपासना न होकर स्थूल की अराधना भी है। सामयिक जीवन से जितने विविध चित्र उनकी तूलिका से निर्मित हुए हैं, हिन्दी में उतने ही चित्र कम ही साहित्यकारों की लेखनियाँ निर्मित कर सकी हैं। एक बात यह भी है कि उन्होंने अपने साहित्य

के माध्यम से न केवल सामाजिक जीवन की विषमता, अन्याय आदि के चित्र अंकित किये हैं, वरन् उसमें सामाजिक परिवर्तन की कामना भी अभिव्यक्त की है।

उनके काव्य में प्रगतिवादी चेतना किस रूप में अभिव्यक्त हुई हैं, इस बात को कुछ उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। 'हुंकार' में उन्होंने जन-जीवन की विषमता और सामन्तवादी-पूँजीवादी व्यवस्था की विकृतियों का अंकन किया है। 'हुंकार' की पंक्तियाँ हैं-

"हटो व्योम के मेघ! पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध, दूध' ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम आते हैं।"[1]

ऋण और शोषण की मार सह रहे लोगों के प्रति कविता की शक्ति द्वारा संभावनाएँ रखना एक प्रगतिवादी कवि ही कर सकता है-

"ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे, दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगा हृदय, लाज से आँख नहीं वे पायेगी।
इतने पर भी धनपतियों की उनपर होगी मार,
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।"[2]

इसी प्रकार 'कस्मै देवाय' कविता में वे कविता से क्रांति ला देने का आह्वान करते हैं-

दलित हुए निर्बल सबलों से मिटे भ्रष्ट, उजड़े दरिद्र जन,
आह ! सभ्यता आज कर रही असहायों का शोणित शोषण।
क्रांति-धात्रि कविते! जाग उठ, आडम्बर में आग लगा दे;
पतन, पाप, पाखण्ड जलें, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे।"[1]

---

1 हुँकार, हाहाकार, पृ. 23

2 रश्मि-लोक, कविता की पुकार कविता से, पृ. 10

पूँजीवाद के कारण जो घोर वैषम्य पनपा है तथा एक सचेत कवि की प्रतिक्रिया निम्नलिखित पंक्तियों मे द्रष्टव्य हैं-

"श्वानों को मिलते दूध-वत्स, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार तब देता मुझको आमन्त्रण,
झन-झन-झन-झन-झन-झन-झन।"[2]

भारत की त्रासद स्थिति पर अपनी व्यथा का उद्‌गार दिखाते हुए एक प्रगतिशील कवि की यह पंक्तियाँ कितनी मर्मान्तक हैं-

"ओ बदनसीब! इस ज्वाला में, आदर्श तुम्हारा जलता है।
समझायें कैसे तुम्हें कि, भारतवर्ष तुम्हारा जलता है।
जलते हैं हिन्दू-मुसलमान, भारत की आँखें जलती है।
आनेवाली आजादी की , लो दोनों पाँखें जलती हैं।"[3]

आम जन जो की किसी भी देश की रीढ़ हैं, वास्तव में वही हैं जिन्हें सारे सुख पाने का अधिकार है, परन्तु ऐसा होता नहीं है, दिनकर इस मंशा को साफ लफ्जों में व्यक्त करते हैं-

"जिसने श्रम जल दिया, उसे, पीछे मत रह जाने दो।
विजित प्रकृति से सबसे पहले उसको सुख पाने दो।
जो कुछ न्यस्त प्रकृति में है, वह मनुज मात्र का धन है।
धर्मराज, उसके कण-कण का अधिकारी जन-जन है।"[4]

---

1 रश्मि-लोक,कस्मै देवाय? कविता से, पृ. 18
2 हुँकार, विपथगा कविता से, पृ. 89
3 सामधेनी, हे मेरे स्वदेश, पृ. 31
4 कुरुक्षेत्र, सर्ग-7 से

नेताओं और राजनीतिज्ञों पर उनका यह व्यंग्य प्रगतिवादी कविता का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है-

"हो गया नेता मैं भी? तो बंधु, सुनो
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ,
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती,
मैं चाँदनियों का बोझ किसी विध सहता हूँ।"[1]

जिस आजादी को भारतीय जनता ने कितनी कुर्बानियों के बाद उपलब्ध किया उसका अर्थ कितना सीमित हो गया है-

"आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
आजादी, टोपी एक नुकीली तनी हुई।
फैशनवालों के लिए एक नया फैशन निकला,
मोटर में बाँधो तीन रंग वाला चीथड़ा।
अरे, गिनो की आँखें कितनी पड़ती हैं हम पर,
हम पर, यानी, आजादी के पैगम्बर पर।"[2]

भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ मात्र कागजी हैं, उनसे देश में आर्थिक और सामाजिक विषमता को दूर करने में विशेष सहायता नहीं मिल पाती। नेता जनता को केवल सब्जबाग दिखाकर ही रह जाते हैं-

"किस्मतें खेत छप रहीं, मगर, जलधार?
प्यासी हरियाली सूख रही है खेतों में,
निर्धन का धन पी रहे लोभ के प्रेत छिपे
पानी विलीन होता जाता है रेतों में।"[3]

---

1 चक्रवाल, पृ. 395
2 नीम के पत्ते, पृ. 97
3 चक्रवाल, पृ. 395

'रश्मिरथी' में उन्होंने जाति-प्रथा जैसी भारतीय जीवन की रूढ़ि पर कट्टर प्रहार किया है और प्रतिमा को महत्त्व दिया है। इसी तरह, नारी जाती के प्रति सहानुभूतिशील होकर उन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। 'कुरुक्षेत्र' में उन्होंने विज्ञान की अपराजेय शक्ति पर विवेक और ह्रदय के अंकुश का आदर्श रखा है तथा युद्ध की समस्या पर जितनी गहराई से विचार किया है वह उनके प्रगतिवादी विचारों की द्योतक है।

अस्तु यह कहा जा सकता है कि दिनकर के संपूर्ण काव्य में प्रगतिवादी चेतना मुखर हुई है।

यदि प्रगति का अर्थ विकास और वाद का अर्थ विशिष्ट दर्शन है तो साहित्य में प्रगति किसी खास युग तक सीमित नहीं होती। प्रगति की दृष्टि से विद्यापति, खुसरो, सूर, तुलसी, मीरा, भारतेन्दु, पंत, प्रसाद, निराला, गुप्त आदि सभी की रचनाओं में प्रगतिशील तत्त्वों का समावेश है। दिनकर के काव्य की चेतना भी प्रगतिशील है और प्रगतिवाद का राजनीतिक स्वर भी उनमें मुखर हुआ है। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि 'दिनकर प्रगतिवादी, किंतु स्वाभाविक रूप से एक प्रगतिशील कवि हैं।'

नगेन्द्र जी ने भी अपनी संपादित 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में दिनकर के बारे में जो कुछ लिखा है वह उनके समन्वयवादी और प्रगतिवादी दृष्टिकोण को और बल प्रदान करते हैं- "दिनकर में भाव और विचार का बड़ा सुन्दर समन्वय दिखायी पड़ता है। चाहे व्यक्तिगत प्रेम-सौन्दर्यामूलक कविताएँ हों, चाहे राष्ट्रीय कविताएँ, सभी कवि की संवेदना से स्पंदित हैं। दिनकर में आरंभ से ही अपने को अपने परिवेश से जोड़ने की तड़प दिखायी पड़ती है, इसलिए उसमें सर्वत्र एक खुलापन है, लोकोन्मुखता है, सहजता है- व्यक्तिगत प्रेम-सौन्दर्यामूलक कविताओं में भी।.....दिनकर की सबसे बड़ी विशेषता है- अपने देश और युग-सत्य के प्रति जागरूकता। कवि देश और काल के सत्य को अनुभूति और चिन्तन दोनों स्तरों पर ग्रहण करने में समर्थ हुआ है। कविने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं, विषमताओं, समताओं आदि के ही रूप में नहीं, उसकी संश्लिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के रूप में पहचाना है और उसके

प्राचीन मूल्यों का नये जीवन-सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में आकलन कर एक ओर उन्हें जीवन्तता प्रदान की है, दूसरी ओर वर्तमान की समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्त्व देते हुए उन्हें अपने प्राचीन किंतु जीवन्त मूल्यों से जोड़ना चाहा है। दिनकर ने राष्ट्रीयता की पहचान को मात्र भावनात्मक प्रतिक्रिया से उबरकर चिन्तन, परीक्षण तथा आत्मालोचन का स्वस्थ रूप देने का प्रयत्न किया है; साथ ही इस राष्ट्रीयता के सार्वभौम मानवता के रूप में विकसित होने का स्वप्न देखा। यह विकास तभी संभव है जब बुद्धि के ऊपर संवेदनशील हृदय का शासन हो।दिनकर का संवेदनशील हृदय, जीवन से सच्चा लगाव, उनके प्रगतिवादी व्यक्तित्त्व को दर्शाता हैं।"[1]

डॉ. सत्यकाम शर्मा तो उन्हें सबसे बड़ा प्रगतिवादी कवि मानते हैं, हाँ वह यह ज़रूर कहते हैं कि प्रगतिवाद के सारे मानदंडों पर वे खरे नहीं उतरते। "दिनकर परम्परागत ढंग के या साम्प्रदायिक ढंग के प्रगतिवादी कवि नहीं है। उनका कवित्त्व किसी भी आग्रह से मुक्त होकर बड़ा है। पर यदि प्रगतिवाद का अर्थ प्रगतिशीलता से है, और प्रगतिवादी कवि का अर्थ युग-विद्रोही कवि से है, तो दिनकर सबसे बड़े प्रगतिवादी कवि हैं। उन्होंने तथाकथित प्रगतिवाद की सीमित मान्यताओं तक को तोड़ गिराया है।"[2]

सार यह कि दिनकर एक स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में साहित्य जगत् में उभर कर आए। उन्होंने प्रगतिवादी आंदोलन को कभी भी साहित्यिक आंदोलन नहीं माना। वे इसे उस काल की परिस्थितियों के समक्ष रख मात्र राजनैतिक आंदोलन माना है। यही वजह है कि वे प्रगतिवादी आंदोलन का केवल प्रगतिशील अंश ही ग्रहण कर पाए। जब तक इसमें राष्ट्रीयता का बोलबाला रहा, दिनकर इसके हामी रहे उन्होंने वर्ग-वैषम्य, शोषित और शोषक दल के साथ ही सर्वहारा दल की आवाज को बुलन्द किया। समय के साथ ही इन्होंने अपनी आवाज को दबाया नहीं, वरन् उसके बाद 'रश्मिरथी', 'कुरूक्षेत्र', 'सामधेनी', और 'परशुराम की प्रतीक्षा' आदि में

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 321

2 जनकवि दिनकर, पृ. 6

उनका यह स्वर दृढ़ और मुखर होता चला गया। दिनकर के अन्तः का यह आक्रोश ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं था, वरन् यह उनके जीवन का सत्य था। जिसे उन्होंने जिया था।

1.4. आदर्शवाद : सामान्य परिचय :

साहित्य की एक परिभाषा है- 'सहितस्य भावः साहित्यः।' इस कसौटी पर साहित्य में सत्य, शिव, और सुन्दर-तीनों का समावेश हो जाता है जिसमें उसका शिव रूप आदर्श भावना से ही अनुप्राणित दीख पड़ता है। इसलिए साहित्य में आदर्शवाद का अस्तित्व बहुत प्राचीन है। आदर्शवाद एक प्रकार का दृष्टिकोण है जो जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों को अधिक महत्त्व देता है। यह बुद्धिपरक दर्शन है जो भौतिकता की अपेक्षा सूक्ष्म सत्य को अधिक महत्त्व देता है।दर्शन, कला और राजनीति में एक स्वर आदर्शवाद का भी मिलता है। साहित्य में जिस आदर्श को महत्त्व दिया जाता है, वह मानव जीवन के आन्तरिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास तथा परिमार्जन को ही अपना लक्ष्य मानकर चलता है। यह मानव-जीवन की उच्च संभावनाओं पर विचार करता है जिसके मूल्य शुद्ध और सर्जनात्मक होते हैं। आदर्शवादी साहित्य भाव और कला की ऊँचाई में विश्वास करता है, फलतः इसके अन्तर्गत रहस्यवाद और अध्यात्म की भी व्यंजना होती है। इसमें उपदेशात्मकता होती है तथा शाश्वत मानव-मूल्यों को ग्रहण किया जाता है।

प्रत्येक साहित्यकार एक सीमा तक आदर्शवादी होता है। भारतीय जीवन हमेशा आदर्श की ओर उन्मुख रहा है। यहाँ के ऋषि-मनीषी और साहित्यकार-सभी ने असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर जाने का संदेश दिया है। अतः हमारा जातीय साहित्य आदर्श का समर्थक रहा है।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल आदर्श से अनुप्राणित है। मानवीय वृत्तियों के चरम विकास के द्वारा जिस आध्यात्मिक व्यक्तित्व के निर्माण का स्वर उसमें गूँजा है, वह आदर्श साहित्य का ही प्रभाव है।

यद्यपि आधुनिक भारतीय साहित्यकार पाश्चात्य प्रभावों और जीवन की स्थितियों से यथार्थवाद की ओर उन्मुख हुए हैं, लेकिन उनका भी स्वर आदर्शोन्मुखी रहा है। 'कामयानी' इसका ज्वलंत प्रमाण है। प्रेमचंद भी आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी साहित्यकार रहे हैं।

1.4.1. दिनकर का आदर्शवाद सम्बन्धी विवेचनः

दिनकर ने आदर्शवाद के सम्बन्ध में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि की भाँति कहीं विस्तार से विचार नहीं किया है, पर साहित्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने कई ऐसे प्रसंगों को रखा है जिससे उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। आदर्श-सम्बन्धी उनकी धारणा कि साहित्य वही है जो जीवन से संबद्ध होता है और चिरकालीन होता है। कला के प्रति जो व्यक्ति ईमानदार है उसका साहित्य स्वतः आदर्श के अन्तर्गत आ ही जाएगा। ".....क्योंकि वह जो कुछ लिख रहा है वही वस्तु है, वही आदर्श, और प्रगतिशील चाहे वह हो या न हो, लेकिन एकमात्र वही सार्थक साहित्यकार है जो आजतक जीवित आया है और आगे भी जीवित रहेगा।"[1]

इतना ही नहीं, जब वे कहते हैं कि "कविता को हम मिट्टी पर घसीटना नहीं चाहते और न यही चाहते हैं कि वह नीचे रहे। किन्तु, उसे बराबर हमारे जीवन के बीच से उठकर ऊपर जाना चाहिये। यह फूलों, पादपों और पर्वतों का धर्म है।"[2] तब यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कविता की भूमि को वे आदर्श की ही भूमि मानते हैं पर उस आदर्श की आधारशिला जीवन हो। कला में अलौकिकता का जब प्रश्न उठाते हैं तो यह भी उनकी आदर्शवादिता का प्रमाण देता है। इसी तरह कला में सत्य, शिव और सुन्दर के समन्वय पर विचार करते हुए वे आदर्शवाद की ओर ही उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। वे जब कहते हैं- "साहित्य न तो केवल मिट्टी है न आकाश। वह ऐसा

---

1 रसवन्ती, भूमिका, पृ. 3

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 39

ईथर है जो धरती के ऊपर छाया रहता है।"[1] तब भी वे यथार्थोन्मुखी आदर्शवादी प्रतीत होते हैं।

1.4.2. दिनकर का काव्य और आदर्शवाद :

विज्ञान की सार्थकता वे तभी स्वीकार करते हैं, जबकि भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों समन्वित होकर मानव-जाति के विकास में सहायक होगा। बुद्धि पर हृदय के अंकुश की आवश्यकता उनका यथार्थपरक आदर्शवादिता का ही प्रमाण है। आदर्शवाद उपदेशात्मकता को लेकर चलता है। दिनकर के काव्य मे उपदेशों की बहुलता है। आदर्शवाद आन्तरिक वृत्तियों के परिमार्जन और विकास पक्ष पर ज़ोर देता है, उच्च मानवीय संभावनाओं पर विचार करता है। दिनकर-काव्य का मूल स्वर आन्तरिक वृत्तियों का परिमार्जन, उच्च मानवीय संभावनाओं का विकास और जीवन के स्थूल का सूक्ष्म से समन्वय ही है। आदर्शवाद की विशेषता आनंदवाद भी है। दिनकर ने अपने शुद्ध और सर्जनात्मक मूल्यों के द्वारा आनन्द-प्राप्ति को ही काव्य का अन्तिम उद्देश्य माना है। आदर्शवाद का एक पक्ष आध्यात्मिकता भी होता है और यह आध्यात्मिकता भी दिनकर काव्य का महत्त्वपूर्ण अंश है। उनके अर्धनारीश्वर की कल्पना यथार्थ और आदर्श के समन्वय के सिवा और क्या कही जा सकती है? वे जीवन को एक सामान्य गृहस्थ की भाँति भोगते हुए अमृत तत्त्व की तलाश में बेचैन दीखते हैं। भारतीय मनीषियों के निष्काम कर्मयोग के द्वारा उच्च मानवीय जीवन की स्थापना ही उनका आदर्श है। आदर्शवाद की रहस्यवादिता भी उनके काव्य में है। 'उर्वशी' में उन्होंने मानव-प्रेम के यथार्थरूप की बड़ी विशद् और स्वाभाविक व्यंजना की है पर उसका भी अन्त आदर्शवाद में हुआ है। नर-नारी सम्बन्धों की जो कल्पना उन्होंने की है, वह उच्च आदर्शों की संभावना पर ही आधारित कही जा सकती है। इस तरह उनका आदर्शवाद यथार्थपरक है।

दिनकर भी सर्वत्र यथार्थोन्मुखी आदर्शवादी रहे हैं। उन्होंने यथार्थ का चित्रण आदर्श-जीवन और आदर्श-समाज के निर्माण के लिए ही किया है। यथार्थ के बिना वे आदर्श की सत्ता को

---

[1] अर्धनारीश्वर, पृ. 39

स्वीकार नहीं स्वीकार करते। उनके स्वर में सर्वत्र भारतीय आदर्शवादी चेतना ही मुखर हुई है। वे यथार्थ का चित्रण मनुष्य के मन में क्रांति और विद्रोह जगाने के लिए करते हैं जिससे यथार्थ और आदर्श की सम्मिलित भूमि पर ही वह श्रेष्ठ साहित्य उत्पन्न हुआ है जो देश और काल की सीमा पार कर शाश्वत और चिरंतन बन गया है। आज के जीवन में भी इन दोनों के समन्वय की आवश्यकता है और दिनकर ने अपनी 'प्रणभंग' पुस्तक से 'हारे को हरिनाम' तक इस प्रकार की समन्वयवादी चेतना का परिचय दिया है। यह बात और है कि उनकी कुछ रचनाओं में यह स्वर अधिक प्रबल है कुछ में क्षीण हो गया है, पर यह उनके साहित्य का सर्वोपरि स्वर है। एक सच्चे कलाकार की भाँति वे अपनी अनुभूति को प्रखरता और सच्चाई के साथ जन-जीवन के सामने प्रस्तुत करता है। यथार्थ के चित्रण द्वारा आदर्श की ओर गमन का उपक्रम सर्वत्र इनके काव्य में है। वस्तुतः यथार्थवाद और आदर्शवाद एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, एक ही सत्य के दो रुप हैं और इन्हीं दोनों रूपों के सफल चितेरे के रूप में वे यह स्पष्ट करते हैं कि कला के माध्यम से साहित्यकार को उच्च बिन्दु तक पहुँचना चाहिये ताकि वह पाठक से जीवन के उत्तरोत्तर विकास में सहायक हो सके। संक्षेप में यही उनके यथार्थोन्मुखी आदर्शवाद के विविध आयाम हैं। दिनकर का सारा का सारा साहित्य आदर्श से अटा पड़ा है, जो कि एक सच्चे साहित्यकार की असल पहचान है, वह मात्र टीका-टिपण्णी नहीं करता वरन् एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करता है जो की भविष्य के हित में हो। निम्नलिखित गद्यांशों और पद्यांशों पर नजर दौड़ाने पर यह बात और भी पुख्ता हो जाएगी-

"सरस्वती की जवानी कविता और उसका बुढ़ापा दर्शन होता है', 'उगती सभ्यता के कवि भावनाशील और बुझती सभ्यता के कवि बुद्धि पीड़ित होते हैं', 'जातियाँ जब थकती हैं, तब उनका ध्यान रचना से हटकर आलोचना पर चला जाता है', 'आदर्श मनुष्य शरीर से दैत्य और मन से महात्मा होता है', 'बिना आत्मखंडन किए सत्य का सेवन चल नहीं सकता', 'प्रेम स्वतःस्फूर्त भावना है और विवाह एक कठोर कर्तव्य', 'युद्ध राजनीति की उस अवस्था को कहते

हैं , जब वह लोहू से लाल हो उठती है। और शांति राजनीति का वह रूप है, जब वह कंठी माला और चंदन से विभूषित रहती है' जैसी हजारों सूक्तियाँ उनकी गद्य कृतियों में भरी-पड़ी हैं।"[1] ऐसे ही और अनेक उदाहरण हैं जो उनके एक सजग चिन्तक होने को और ज्यादा मजबूत बनाते हैं तथा जिनसे आदर्श सहज ही निसृत होता है-

'जब नई कविता जन्म लेती है, तब उसके साथ आलोचना के नये सिद्धान्त भी जन्म लेते हैं और जब नया कवि आता है, तब उसके पीछे-पीछे नया आलोचक भी आता है'[2] 'काव्य और गद्य की भाषा एक हो, यह तो साहित्य के स्वास्थ्य की निशानी है।'[3] 'कविता जिस विषय पर भी हो, उसे सबसे पहले कविता होनी चाहिए।'[4] 'जब नीति और धर्म की मान्यताएँ सुदृढ़ होती हैं और लोगों को उनके विषय में शंका नहीं रहती, तब साहित्य में क्लासिक शैली का जन्म होता है।'[5] 'जब वायु अंसतुष्ठ और क्रांति आसन्न होती है, तब साहित्य की धारा रोमांटिक हो उठती है।'[6] 'जब मान्यताएँ बिखर जाती हैं और कोई मूल्य स्थिर नहीं रह जाता, तब कवि को अपने विश्वासों के लिए बार-बार लड़ना पड़ता है।'[7] 'छोटे नियमों की पाबन्दी तोड़ना उन्हीं को शोभा देता है, जो बड़े नियमों की पाबन्दी में रहना चाहते हैं।'[8] 'ज्ञान ने मनुष्य को बूढ़ा कर दिया। इस बूढ़े मनुष्य को फिर से किशोर बनाना है।'[9] 'पहले अनैतिकता का कारण अंधविश्वास था। आज उसका कारण दिमाग है, बुद्धि की प्रखरता है, ज्ञान का तीव्र आलोक है।'[10] 'प्रतिभा का विकास एकान्त में और व्यक्तित्व का निर्माण धारा के प्रवाह में होता है।'[1]

---

1 इन्द्रप्रस्थ भारती, दिनकर का आलोचना साहित्य लेख से, डॉ. रवि रंजन, पृ. 59
2 उजली आग, पृ. 46
3 उजली आग, पृ. 48
4 उजली आग, पृ. 48
5 उजली आग, पृ. 49
6 उजली आग, पृ. 49
7 उजली आग, पृ. 50
8 उजली आग, पृ. 51
9 उजली आग, पृ. 53
10 उजली आग, पृ. 53

'चरित्र व्यक्तित्व के प्रस्तीकरण का नाम है।'[2] 'चरित्र की दृढ़ता को भावनाएँ पिघला नहीं सकती, न अनुभूति उस पर नयी रेखाएँ खींच सकती है।'[3] 'और सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की पहचान यह कि वह दुराग्राही नहीं होता।'[4] 'यदि बुद्धि निस्सीम है, तो काव्य-रचना मनुष्य का निरर्थक प्रयास है।'[5] 'बड़ा काम करने की योग्यता छोटे काम करने से आती है। बड़े परिणाम छोटे कारणों से निकलते हैं।'[6] 'हर उपदेशक जानता है कि दूसरों को वह जहाँ ले जाना चाहता है, उसे वहाँ ले जाने का सबसे सजह उपाय यह है कि पहले वह खुद उस स्थान पर पहुँच जाय।'[7] 'वह कविता फीकी है, जो कवि के पसीने से नहीं टपक कर उसकी कल्पना से आती है।'[8] 'धर्म और दर्शन,ये मृत्यु-रूपी विष के प्रतिबिंब हैं।'[9] 'मृत्यु के भय से दर्शन जन्म लेता है, बुद्ध इसके प्रमाण हैं।'[10] 'उन्माद की स्थिति निद्रा की स्थिति नहीं होती, उलटे वह अतिशय जागरूकता की स्थिति है।काव्य रचते समय कवि दो धरातलों पर एक साथ जगता है।'[11] 'इतिहास घटना- विशेष तक सीमित रहता है। कविता घटनाओं की सार्वभौम संभावनाओं को लेकर चलती है।'[12] 'भविष्य की कविता पाठकों को विश्व से बाहर न ले जाकर उन्हें साथ लिये हुए विश्व के आंतरिकता में प्रवेश करेगी। वह रिझाने, दुलारने और गुदगुदाने की कविता नहीं होगी। वह अपने पाठकों का मनोरंजन कम, उन्हें सोचने को विवश करेगी।'[13] 'शक्तियाँ मनुष्य की ज्ञान और विज्ञान से आती हैं, किन्तु, उसके मानवीय गुणों का विकास साहित्य और

---

1 उजली आग, पृ. 54
2 उजली आग, पृ. 54
3 उजली आग, पृ. 54
4 उजली आग, पृ. 55
5 उजली आग, पृ. 55
6 उजली आग, पृ. 61
7 उजली आग, पृ. 64
8 उजली आग, पृ. 64
9 उजली आग, पृ. 70
10 उजली आग, पृ. 70
11 काव्य की भूमिका, पृ. 130
12 काव्य की भूमिका, पृ. 106
13 काव्य की भूमिका, पृ. 102

कला से होता है।'[1] 'यदि ज्ञान का संचय, अपने आप में ही आनन्द की वस्तु न हो तो कोई भी व्यक्ति अधिक ज्ञान संचित करना नहीं चाहेगा।'[2] 'सभ्यता ज्यों-ज्यों प्रगति करती है, कविता की आग त्यों-त्यों मन्द होती जाती है।'[3]

'जब ज्ञान बढ़ता है, तब अशांति भी बढ़ती है। जिसने अपने भीतर इल्म की रोशनी जलायी है, उसने अपनी गम की बत्ती को भी तेज कर लिया है।'[4] 'दुनिया की मैनेजरी बुद्धि ने ले ली है, यह बहुत अच्छी बात है, किंतु मनुष्य की उन्नति का जो चरम सोपान है, वहाँ तक हमें बुद्धि नहीं, केवल भावना ले जाती है।'[5] 'साधना या संघर्ष का मार्ग साहित्य का सबसे उन्नत, अतः सबसे कठोर मार्ग है।'[6] 'काव्य या साहित्य किसी भी रूप में प्रचार को उद्देश्य बनाकर नहीं चल सकता।'[7]

कुछ पद्यांश भी द्रष्टव्य हैं-

कुरूक्षेत्र के तृतीय सर्ग में दिनकर एक प्रश्न उठाते हैं-

"पापी कौन? मनुज से उसका
न्याय चुकाने वाला
या कि पापी न्याय खोजते बिछा का शीश उठाने वाला?"[8]

जब प्रेम का प्रश्न उठ खड़ा हो, मनुष्य प्रेम के आधार पर परस्पर सम्बन्ध जोड़ने के इच्छुक हों तो वह मानवतावाद का ही विराट स्वर है न कि अराजकतावाद का। इस सम्बन्ध में कवि के ये शब्द प्रत्यक्ष हैं-

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 94
2 काव्य की भूमिका, पृ. 90
3 काव्य की भूमिका, पृ. 86
4 साहित्यमुखी, पृ. 124
5 साहित्यमुखी, पृ. 128
6 मिट्टी की ओर, पृ. 66
7 मिट्टी की ओर, पृ. 83
8 कुरूक्षेत्र, पृ. 32

"श्रेय होगा धर्म का वह आलोक निर्बन्ध

मनुज जोड़ेगा मनुज से, जब उचित सम्बन्ध।"[1]

इसी प्रकार 'शबनम और जंजीर' में कवि अपनी चिन्तनशीलता का परिचय देता है। उसके अनुसार विनाशक विज्ञान की आवश्यकता नहीं अपितु कलाओं की अपेक्षा है, जो बातों को जीवन दे सके तथा मानव-मन में धाराएँ उत्पन्न कर सके-

"विज्ञान का कर चुका; हाथ उसका रोको;

आगे आने दो गुणी। कला कल्याणी को।

जो भार नहीं विश्राट महाबल उठा सके,

दो उसे उठाने किसी क्षीणबल प्राणी को।"[2]

स्पष्टतः दिनकर ने अपने समग्र साहित्य में आदर्शवाद को स्थूल या सूक्ष्म रूप में कहीं न कहीं प्रस्तुत किया है। यह एक सफल भविष्य-द्रष्टा चिन्तक की पहचान है।

1.5. प्रयोगवाद : सामान्य परिचय :

सन् 1946 ई० से ही 'तारसप्तक' के प्रकाशन से ही प्रयोगवादी काव्य-धारा का आविर्भाव माना जाता है। किन्तु 'प्रयोगवाद' नाम उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया जो कुछ नये बोधों, संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरु हुआ। प्रयोगवाद का विकास प्रगतिशील कविताओं के साथ ही हुआ तथा पर्यावासन नयी कविता में। इस धारा के अन्तर्गत कुछ तो प्रगतिवाद-युग ही के कवि आये और कुछ ऐसे कवि जिन्होंने अपने अन्वेषों में भाव-वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। "'तार सप्तक' और 'प्रतीक' पत्रिका को देखने से यह स्पष्ट होता है कि इनमें संगृहित या प्रकाशित कवियों के अनुभव का क्षेत्र, दृष्टिकोण और कथ्य एक ही प्रकार के नहीं हैं; कुछ ऐसे हैं जो विचारों से समाजवादी हैं और संस्कारों से

---

1 कुरूक्षेत्र, पृ. 81

2 नीलकुसुम, पृ. 83

व्यक्तिवादी, जैसे-शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता और नेमिचन्द्र जैन। कुछ ऐसे हैं जो प्रगतिशील कविता के द्वारा व्यक्त होते हुए जीवन-मूल्यों और सामाजिक प्रश्नों को असत्य या सत्याभास मानकर अपने व्यक्तिगत जीवन में तड़पनेवाली गहरी संवेदनाओं को ही रूपायित करना चाहते हैं। प्रायः यह सभी कवि मध्य वर्ग के हैं। जिन कवियों ने समाजवादी विश्वासों को अपने संस्कारों में ढ़ालकर कविताएं लिखी हैं वे वास्तव में जनवादी कवि हैं, किन्तु जो ऐसा नहीं कर सके हैं या करना चाहते हैं, वे अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों की संवेदनाओं को ही अपने काव्य का सत्य मानकर उन्हें नये-नये माध्यमों द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। आलोचकों ने प्रयोगवाद की चर्चा करते समय इन्हीं कवियों को ध्यान में रखा है।"[1]

निचोड़ यह कि प्रयोगवादी काव्य-धारा के समय में भाव, भाषा और शैली के नवीन प्रयोग आरंभ हुए, जो उसे युग की जटिल संवेदनाओं, उलझी मानव समस्याओं, बदलते हुए जीवन मूल्यों को चित्रित कर पाए तथा भाषा, छन्द, तकनीक को भी नये रूपों में परिभाषित कर सके। फलतः, प्रयोगवादी कविता में ह्रासोन्मुखी मध्यवर्ग का जीवन-यथार्थ उभर कर आया। "प्रयोगवादी कवि ने जिस नये सत्य के शोध और प्रेषण के नये माध्यम की खोज की घोषणा की थी, वह सत्य इसी माध्यवर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य था। अतः प्रश्न यह उठाया गया कि क्यों न हम उसी यथार्थ को अभिव्यक्ति दें जिसे हम भोगते हैं, अनुभव करते हैं अर्थात् जिसे आत्मसात् कर लेते हैं।"[2] अज्ञेय ने जिस 'तार-सप्तक' का प्रकाशन किया, उसके सात कवि भिन्न-भिन्न राहों से आकर खड़े होने को उत्सुक दिखलाई पड़ते हैं। इसके बाद प्रयोगवादी रचनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली दूसरी रचना 'दूसरा-सप्तक' निकली। 'तार-सप्तक' के कवि थे गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय। 'दूसरा सप्तक' के कवि थे- भावानी प्रसाद

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 627

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 627

मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती।

इन कवियों ने अपनी अनुभूतियों को सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति दी-"व्यापक जीवन की बड़ी-बड़ी सैद्धान्तिक बातें और नैतिकता के बड़े-बड़े फलसफे ज्ञन-विज्ञान के क्षेत्र में भले ही उपादेय हों, वे कला के क्षेत्र में कलाकार के 'स्व' की आंच में तपे बिना न तो खप सकते हैं और न उपादेय ही हैं। प्रश्न यह नहीं कि हमने कला के जीवन के कितने व्यापक अंश को समेटा है, प्रश्न यह है कि हमने लिये हुए अंश को कितना जिया है, कितना भोगा है और कितनी ईमानदारी और सच्चाई के साथ व्यक्त किया है।"[1] प्रयोगवादी कवियों ने इसीलिए व्यापक जन-जीवन के अंकन के फेर में न पड़कर अपने जिये हुए जीवन के ही विभिन्न दर्दों को अंकित करना पसंद किया। "प्रयोगवाद ने बड़ी-बड़ी घटनाओं, बड़े-बड़े संघर्षों, बड़े-बड़े व्यक्तियों या समुदायों, बड़े-बड़े जीवन-प्रसंगों के विशाल फलक पर इतिवृत्तात्मक काव्य का निर्माण नहीं किया, उसने व्यक्ति के अन्तः संघर्षों, क्षणों की अनुभूतियों और सूक्ष्म से सूक्ष्म, छोटी से छोटी संवेदनाओं और मन की विभिन्न स्थितियों को लेकर छोटी-छोटी तीव्र प्रभावशाली कविताएँ लिखीं, फ्लैश दिये।"[2]

1.5.1. दिनकर का प्रयोगवाद- सम्बन्धी विचार :

दिनकर ने अपनी आलोचना पुस्तकों में हिन्दी की सशक्त काव्यधारा प्रयोगवाद पर भी विचार किया है। 'तारसप्तक' का प्रकाशन सन् 1943 में हुआ और 1946 में 'मिट्टी की ओर' पुस्तक में 'इतिहास के दृष्टिकोण' शीर्षक निबन्ध ने उन्होंने हिन्दी साहित्य की तत्कालीन नवीनतम काव्य विधा पर विचार किया है। किन्तु उसके दस वर्षों बाद 'काव्य की भूमिका' में उन्होंने

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 627-628

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 628-629

प्रयोगवाद पर विचार करते हुए अपनी कुछ धारणाओं में भी परिवर्तन किया है। 'मिट्टी की ओर' में प्रयोगवाद के कई लक्षणों पर विचार करते हुए उसे वे जीवन की कविता एवं विशिष्ट मनोदशा की अभिव्यक्ति कहते हैं, किन्तु निष्कर्ष के रूप में जो कुछ कहते हैं, उसे प्रयोगवाद के सम्बन्ध में उनकी कोई अच्छी और तटस्थ धारणा का परिचय नहीं मिलता- "सब मिलाकर मैं इन कविताओं की प्रशंसा नहीं कर सकता, क्योंकि इनकी पृष्ठभूमि में जो कुछ दीखता है वह निर्जन और विषण्ण है तथा यह समझ में नहीं आता कि विप्लव और संघर्ष के पथ पर आरूढ़ देश में ऐसा कविताओं का जन्म क्यों हो जो रक्तहीनता के दोष से पीड़ित और पाण्डु हों।"[1]

प्रयोगवाद के आविर्भाव की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि प्रयोगवाद का बीज छायावाद में पहले से ही वर्तमान था क्योंकि व्यैक्तिकता तो दोनों युगों के कवियों में थी, परन्तु कई कारणों से ऐसा हुआ नहीं, वे विस्तार से इन कारणों की तफ्तीश करते हुए कहते हैं कि- "यह आन्दोलन छायावाद की पीठ पर भी आ सकता था, क्योंकि इसका मुख्य ध्येय अनुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों को स्वच्छ बनाना है और छायावाद-काल में ये दोनों ही चीज़ें, अधिकांश रचनाओं में, अस्वच्छ थीं। किन्तु, यह आन्दोलन छायावाद-काल की समाप्ति के साथ नहीं आया, जिसका एक कारण तो यह था कि उस समय हिन्दी में ऐसे युवक थोड़े थे, कविता के सम्बन्ध में जिनकी रूचि अन्तर्राष्ट्रीय रूचि से प्रभावित रही हो। दूसरे, अपनी तमाम दुर्बलताओं के साथ छायावाद पूर्णरूप से कलापूर्ण और साहित्यिकता से ओतप्रोत था। अतएव, उस समय यह अत्यन्त अप्रासंगिक बात होती यदि कोई नया आन्दोलन यह घोषणा करने को आ जाता कि साहित्य में कला और साहित्यिकता की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। यह तो कमल को रँगने और गुलाब को सुवासित करने के समान हास्यास्पद बात होती है। छायावाद में सबसे बड़ी कमी सुस्पष्टता की थी जो सबको अनुभूत होती थी और सुस्पष्टता की दिशा में हिन्दी कविता ने छावादोत्तर काल में प्रगति भी की। किन्तु, जब प्रगतिवाद के नाम पर साहित्य में

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 29

कनस्तर बजाये जाने लगे और साहित्यिक मूल्यों का ह्रास होने लगा, तब यह आवश्यक हो गया कि हिन्दी में कला और शैली के हिलते हुए महत्त्व को फिर से सुस्थिर करने के लिए कोई बड़ा प्रयास किया जाए। वही प्रयास, धीरे-धीरे, बढ़कर प्रयोगवाद बन गया। यह और बात है कि अब इस आन्दोलन के दर्शन की पीठिका पर छायावादी और छावादोत्तर युगों की प्रवृत्तियाँ भी खराद पर चढ़ी हुई मालूम होती हैं।"[1] आगे चलकर अपने मंतव्य को और पुष्ट करते हुए वे कहते हैं कि- "मुझे इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं है कि प्रगतिवादी आन्दोलन, ने साहित्य में साहित्येतर मूल्यों को प्रोत्साहन देकर जो स्थिति उत्पन्न की, उसी से युवकों को, फिर से, शैली की महिमा पर विचार करने की प्रेरणा मिली और इसी चिन्तन से प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ, जिसका वास्तविक उद्देश्य काव्य में अधिक कवित्त्व और साहित्य में अधिक साहित्यिकता को उत्तेजित करना है।"[2]

प्रयोगवाद के सम्यक् मूल्यांकन न होने पर तथा उसे वह श्रेय न मिलने पर जिसका वह हकदार था, इस पर दिनकर विचार करते हुए कहते हैं कि- "यह आन्दोलन अपनी किशोरावस्था को पार कर चुका है, किन्तु, तब भी इसका सही तो क्या, आनुपातिक मूल्यांकन भी अभी तक नहीं हो पाया है। जहाँ तक मेरा ख्याल है, आज तक भी प्रयोगवाद का कोई ऐसा घोषणापत्र कहीं नहीं निकला(यद्यपि कई सूत्रों का एक कार्यक्रम पत्रों में छापा है) जैसी घोषणा 'पल्लव' की भूमिका में छायावाद ने की थी। और इसके उद्देश्य और लक्ष्य के बारे में जो थोड़ा-कुछ भी कहा गया है, वह उतना विशद और पुष्ट नहीं है जिससे काव्य-रसिक जनता यह समझ सके कि प्रयोगवाद कविता के किन गुणों पर ज़ोर देना चाहता है और वह कैसी उपलब्धि के प्रयास में है। इस आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियों को पहचानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि प्रयोगवाद का गढ़ आगे-पीछे, ऊपर नीचे, सर्वत्र नक्कालों से भर गया है और जो असली कवि

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 65

2 काव्य की भूमिका, पृ. 65

हैं वे इस भीड़ को दबाकर आगे आने में कठिनाईयों का अनुभव कर रहे हैं।"[1] "कविता के क्षेत्र में अभी गुण नहीं, संख्या का बोलबाला है। और र्सख्या की विशालता के कारण ही इस कविता की सच्ची पहचान गंभीर समस्या का रूप लेती जा रही है।"[2]

दिनकर के अनुसार कला की दृष्टि से देखने पर काव्य-दृष्टि के दो सोपान होते हैं। पहला सोपान प्रेरणा का और दूसरा सोपान रचना का होता है। उनके अनुसार प्रेरणा जहाँ शिक्षा-दीक्षा, संस्कार से प्राप्त होती है वहीं रचना का धरातल परिश्रम और अभ्यास का धरातल होता है ताकि रचनाकार अपनी प्रेरणाओं को पाठक की प्रेरणा बना सकने में सक्षम हो, इसे वे कवि की साधना कहते हैं, कि हम जो अनुभव करते हैं उसे अनुरूप ढंग से अभिव्यक्त कर सकें। वे प्रयोगवादी कवियों की प्रेरणा को तो सराहते हैं किन्तु जब रचना के धरातल पर बात आती है तो उनपर परिश्रमी न होने का दोष लगाते हैं। ऐसे में कवि और पाठक के बीच एक गहरी खाई उभर आती है जिसे पाटना दुष्कर हो जाता है-"अधिकांश प्रयोगवादियों पर हमारा यह आक्षेप है कि वे अपनी मेहनत बचाकर पाठकों की कठिनाई बढ़ा रहें हैं। उदाहरण के लिए, प्रयोगवाद के जो अच्छे कवि हैं, उनमें भी यह दोष है कि वे पूर्वापर सम्बन्धों के निर्वाह पर ध्यान नहीं देते अथवा कविता कहते-कहते अचानक वे ऐसी बात बोल उठते हैं जिससे पहले के भाव का कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। पाठक यह स्पष्ट अनुभव करता है कि दो भावों के बीच कोई और कड़ी होगी जिसे कवि को बतला देना चाहिए था। किन्तु, कवि, न जानें क्यों, पुल की दो-एक पटरियाँ बीच से अचानक खींच लेता है और चाहता है कि इस दूरी को पाठक अपने आप तय करे। कभी-कभी तो ऐसा लगता है, मानों, कवि ने आधी कविता लिखकर ही पूरी कविता समाप्त कर दी हो। कवि की दृष्टि में यह आधा काव्य पूरे काव्य से अधिक पूर्ण भले ही दीखे, किन्तु, वह पाठक की दृष्टि में आधा ही रहता है।"[3] ऐसी काव्य-रचना के खतरे को लेकर

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 57
2 काव्य की भूमिका, पृ. 58
3 काव्य की भूमिका, पृ. 60-61

दिनकर आगाह करते हैं कि- ''.....जिस कौशल से वह पाठक की कल्पना को उत्तेजित करना चाहता है, उसी का यह परिणाम भी हो सकता है कि पाठक खिन्न, उदास या अप्रसन्न होकर कविता को फेंक दे। और सबसे बुरी बात तो यह है कि ऐसी कविताएँ पाठकों की कल्पना के भरोसे रची तो जाती हैं, किन्तु, वे कल्पना को जगाने तो क्या, उसे छेड़ने में भी असमर्थ होती हैं।''[1] दिनकर का यह भी कहना है कि प्रयोगवादियों ने बदलाव की बड़ी-बड़ी बातें तो की परन्तु अपने स्वप्नों का परिचय न तो पाठक से कराया और न ही नवीन भंगीमा के कारण जो विशेषण पसन्द करते हैं उसे पाठकों में उतारा, उनका कहना है कि- ''प्रयोगवादियों के बीच ज्यादा शोर तो इसी बात का सुनायी देता है कि पुरानी कविता पुरानी हो गयी, नयी कविताएँ लेकर अब हम आ रहे हैं और हमारे साथ साहित्य में एक नया युग प्रवेश कर रहा है।''[2]

दिनकर ने बदलाव की हामी तो भरी, परन्तु परम्परा भंजन की जिस भूमि पर प्रयोगवादी कवि अपनी नींव तैयार करना चाहते थे, उस पर उन्होंने सहमति नहीं जतायी, इलियट का हवाला देते हुए उन्होंने इस बात की पुष्टि की-''इलियट परम्परा को तोड़कर चले, यह बात नवयुवकों को बहुत पसन्द आयी। किन्तु, वे यह देखा भूल गये कि परम्परा की जितनी टूटी कड़ियाँ इलियट में आकर जुड़ीं, उतनी पहले और कभी नहीं जुड़ीं थीं।''[3] उन्होंने खेद व्यक्त करते हुए कहा कि-''इलियट में परम्परा-भंजन का जो नाद है, उसे तो हमारे नवयुवकों ने सुना, उनके भीतर परम्परा को जोड़नेवाले जो विचार हैं, उन्हें ही ये कवि पकड़ नहीं पाते।''[4] प्रयोगवादी कविगण जिस वर्तमान की कसौटी पर खड़ा होना चाहते हैं उसे समझाते हुए दिनकर कहते हैं- ''वर्तमान की चेतना, वस्तुतः, अतीत का ज्ञान है। हम मृत लेखकों की अपेक्षा कुछ अधिक जानते भी क्या हैं? सारा साहित्य सातत्य का अविछिन्न प्रवाह है, जिसका वर्तमान

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 61
2 काव्य की भूमिका, पृ. 61
3 काव्य की भूमिका, पृ. 61
4 काव्य की भूमिका, पृ. 62

बराबर अतीत को अपने साथ लिये रहता है।"[1] परन्तु अतीत से नितान्त अलग रह अपने अस्तित्व को बनाने के हठ को लेकर दिनकर प्रयोगवादियों को इंगित करते हुए कहते हैं कि यह ठीक है कि वे अपना नया वजूद बनाना चाहते हैं, पर ऐसा करने में वे प्रयत्नशील नहीं लग रहे, कर्म के प्रति जो सजगता होनी चाहिए वह नहीं है, वे कर्म निरत हैं- "ऐतिहासिक सत्य केवल इतना है कि हर युग नया जल लेकर आता है और हर युग जब जाने लगता है, तब उसके लाए हुए जल से आगामी युग की प्यास नहीं बुझ पाती। इसलिए, प्रत्येक युग को अपना कुआँ आप खोदना पड़ता है, चाहे वह छिछला ही क्यों न हो। किन्तु, मेरा अनुमान, हमारे नये कवि साधनापूर्वक अपने युग का कुआँ खोदने में निरत नहीं रहकर, बार-बार यह घोषणा करने में अपना समय बर्बाद कर रहे हैं कि हमारा कुआँ पहले के कुओं के समान नहीं होगा। पहले के कूप अच्छे नहीं थे, अब हम अच्छा कूप तैयार कर रहे हैं।"[2]

किन्तु अपनी धारणाओं में परिवर्तन के क्रम में वे प्रयोगवाद को एक विशिष्ट वाद के रूप में स्वीकृति देते हैं और कहते हैं कि यह शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है-"वह आदि से अन्त तक, शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है और उसका मुख्य ध्येय काव्य एवं कला-सम्बन्धी हमारी धारणाओं को परिवर्तित करना है।"[3]

इसी संदर्भ में वे यह कहते हैं कि हिन्दी साहित्य में छायावाद युग में एक क्रांति परिलक्षित हुई थी और दूसरी क्रांति प्रयोगवादी युग में। क्योंकि प्रगतिवाद में कला के प्रति आग्रह का भाव बिल्कुल नहीं था पर प्रयोगवाद में भाव, भाषा और तकनीक सभी दृष्टियों से एक साहित्यिक क्रांति हुई है, यद्यपि परम्परा का पुरा त्याग कर देना संभव नहीं होता, प्रत्येक आनेवाला युग परम्परा से कुछ न कुछ ग्रहण करता ही है। किन्तु किसी न किसी सीमा तक प्रयोगवाद का जन्म साहित्य की नई शैली की स्वाभाविक माँग के फलस्वरूप हुआ है।

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 62

2 काव्य की भूमिका, पृ. 62-63

3 काव्य की भूमिका, पृ. 62-63

प्रयोगवाद के भीतर हिन्दी के नूतन क्षितिज के विस्तार की संभावनाओं पर भी वे विचार करते हैं-"प्रयोगवाद अपने ऊपर साहित्यिकता के संपूर्ण निर्वाह का अत्यन्त गुरू दायित्व लेकर आया है।"[1] उन्हें ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में काम करनेवाले लोग साधना और तपस्या के सहारे श्रेष्ठ साहित्य को जन्म दे सकेंगे। यह काव्य-मात्र की श्रेष्ठ दिशा की संभावनाओं को अपने भीतर समेटे है- "मेरा विचार है कि प्रयोगवाद हिन्दी-कविता को जिस ओर जाने का संकेत दे रहा है, वह काव्यमात्र की सबसे श्रेष्ठ दिशा है और इसीलिए, प्रयोग की साधना भी ऐसी साधना है जिससे अधिक कठोर साधना की कल्पना नहीं की जा सकती।"[2]

दिनकर प्रयोगवाद की महत्ता का कारण यह भी मानते हैं कि उसमें रोमांस की हल्की भावुकता नहीं है वरन, यह काव्यधारा बुद्धि-सम्मत काव्यात्मक चेतना को आधार बनाकर चल रही है। इसके श्रेष्ठ कवि अपने गुरुतर दायित्व के निर्वाह में संलगन प्रतीत होते हैं। ये प्रेरणा को बौध्दिकता और विचार संयत कर काव्यात्मक अभिव्यक्ति को ही लक्ष्य बनाकर चल रहे हैं और यही इनकी सफलता होगी। तभी तो वे कहते हैं कि- "किन्तु क्लासिक चिंतन की ही दिशा अब एक नई दिशा उत्पन्न हो रही है जो उड़ने नहीं, जमकर मिट्टी तोड़ने की मुद्रा है, जो पर्वत पर मूर्ति खिचने नहीं सदेह उसके भीतर प्रवेश करना चाहती है।"[3]

प्रयोगवादी धारा को वे उपन्यास और मनोविज्ञान के निकट मानते हैं। वे प्रयोगवादी काव्यधारा की तुलना अंग्रेज़ी के इमेजिस्ट आन्दोलन से करते हैं।

प्रयोगवादी कवियों और कविताओं के बारे में कहते वे कहते हैं कि इन कवियों ने अन्तर्राष्ट्रीय रूचि एवं विचारों का परिचय दिया है। जिनमें गांभीर्य दर्शनीय है तथा वे काव्य के रूप से अधिक उसके अन्तस के प्रति ज्यादा जागरूक दिखाई पड़ते हैं। आगे प्रयोगवादी कविता के सत्त्व को इलियट का उदाहरण देते हुए बताते हैं- "इलियट आसानी से आज विश्व के

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 66
2 काव्य की भूमिका, पृ. 67
3 काव्य की भूमिका, पृ. 66

सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। और उनका उद्‌भव साहित्य-जगत् के लिए कोई आकस्मिक घटना भी नहीं है। बहुत दिनों से कविता छिलकों को तोड़ कर बीज के भीतर प्रवेश करने का प्रयास करती आ रही है और इस, क्रम में, छिलके बहुत बार टूटे भी हैं और कभी-कभी कवियों ने बीज के भीतर प्रवेश भी किया है। किन्तु, कविता का अधिक सौन्दर्य अब तक छिलकों के रंग से लिपटा रहा है। मगर, नये प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो रही है कि वस्तुओं के ऊपर-ऊपर अब काव्य नहीं है। कविता तो वस्तुओं के अंतराल में बसती है। यह नया प्रयोग प्रत्येक वस्तु की उसी आन्तरिकता में धँसने का प्रयास है। यह उन महलों में दीपक जलाने की तैयारी है जहाँ पहले किसी ने दिये नहीं जलाये थे। महर्षि अरविन्द की कल्पना थी कि अगले युग की कविता मंत्र के समान होगी अर्थात् आकार उसका छोटा होगा, किन्तु, उसका प्रत्येक शब्द पाठक के भीतर अपार अनुभूतियों का द्वार खोलनेवाला होगा। कविता का यह मंत्रत्व क्या होगा, इस बात की कुछ थोड़ी झाँकी इलियट की कविताओं में मिलने लगी है। हिन्दी-कविता का चरम लक्ष्य इसी मन्त्रत्व की प्राप्ति है और राह भी उसकी वही हो सकती है जिस पर आज इतना कोलाहल मचा हुआ है।"[1]

दिनकर आशा करते हैं कि यदि प्रयोगवाद सफल हुआ तो उसका आलोचना की पुरानी कसौटियों पर मूल्यांकन करना दुष्कर हो जाएगा तथा इसके लिए नये मानदण्डों की ज़रूरत होगी क्योंकि वर्ण्य-विषय और कथ्य दोनों पारंपरिक काव्य-शैली के कटघरे के बाहर के होंगे- "ज्यों-ज्यों यह कविता विकसित होगी, त्यों-त्यों आलोचकों की कठिनाई बढ़ती जाएगी"[2] परन्तु इस सफलता का परिणाम यह होगा कि कविता उस ऊँचाई या गहराई में पहुँच जाएगी जहाँ वह पहले कभी नहीं पहुँची थी।

अन्ततः दिनकर प्रयोगवाद के तमाम खामियों एवं खुबियों का जिक्र करते हुए कहते हैं कि- "ये कविताएँ शायद अच्छी न भी कही जा सकें, किन्तु ऐसा लगता है कि इनके भीतर से

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 67-68

2 काव्य की भूमिका, पृ. 67

हिन्दी-कविता कोई नया कदम उठा रही है। ये छिछली भी हैं तथा इनका कोई निश्चित आकार भावना की पकड़ में नहीं आता। किन्तु, शायद, यह आकार हीनता को ही आकार देने का प्रयास है; शायद आनेवाले युग की कविता इनमें अपनी ट्रेनिंग पा रही हो।"[1] "अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि इन कविताओं में समाज की समस्याओं पर सोचते रहनेवाले किसी कवि या मनुष्य की मनोदशा विशेष खण्डित होकर अभिव्यक्त हुई है। इसमें उस चेतना का प्रतिबिंब है जो जीवन की विरूपताओं पर विचार करनेवाले असंतोषी मनुष्य से उत्पन्न होती है।"[2]

गोपालकृष्ण कौल के साथ हुई भेंटवार्ता में दिनकर जिक्र करते हैं- "वस्तुस्थिति यह होती है कि नयी भाषा का आविष्कार नयी अनुभूतियाँ करती हैं, अनुभूति की दिशा हिन्दी में हम लोगों के बाद भी बदली है, बल्कि, गद्य हिन्दी में अनुभूतियों की जो दिशाएँ दिखायी दे रही हैं जिनमें से एक की भाषा उनके साथ है, जो नयी कविता के कवि हैं और दूसरी का उनके साथ, जो गीतकार हैं। जब-जब अनुभूतियाँ बदलती हैं, भाषा नवीन हो जाती है और कभी-कभी वह इतनी नवीन हो जाती है कि पहले की काव्य-भाषा से उसका कोई खास सम्बन्ध नहीं रह जाता। एजरा पौंड और इलियट की भाषा से टेनीसन की भाषा का क्या सरोकार है? यह दृश्य कभी हिन्दी में भी उपस्थित हो सकता है।"[3] ज़ाहिर सी बात है कि दिनकर हिन्दी में जिस दृश्य के उपस्थित होने की बात कर रहे थे, वह प्रयोगवाद ही था।

1.5.2. **दिनकर का काव्य और प्रयोगवाद :**

प्रश्न है कि क्या दिनकर की रचनाएँ भी नई कविताएँ या प्रयोगवाद की श्रेणी में आती हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह कथन उद्धृत करना अवांछनीय न होगा- "मैं प्रयोगवाद का अगुआ

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 29
2 मिट्टी की ओर, पृ. 29
3 शेष-निःशेष, कवि की दृष्टि में उसकी दृष्टि, पृ. 401

नहीं पिछलगुआ कवि हूँ, क्योंकि 'नीलकुसुम' की कविताओं की रचना के बहुत पहले 'तारसप्तक' की गूंज देश में खूब छा चुकी थी।"[1] और, "किन्तु भविष्य पर जिनके पंजो की छाप पड़नेवाली है, वे कवि-पुंगव भी इसी झुंड में छीपे हुए हैं। नई आलोचना का धर्म है कि वह उन्हें भीड़से ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढ़े की व्यवस्था करे। जहाँ भविष्य के ये पुरोधा बैठेंगे, वहीं किसी कोने में 'नील कुसुम' भी पायन्दाज का काम देगा। यह नकली विनय नहीं, हृदय की सच्ची आवाज है। हिन्दी-कविता का आकाश बदल रहा है। जो नया क्षितिज सामने चमक रहा है, उसी की ओर खड़ा होकर मैं स्वागत में 'नील कुसुम' बिखेरता हूँ। ये आशीर्वाद के अक्षत नहीं, सचमुच ही, जवानी की पूजा के फूल हैं।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा लगता है कि 'नील कुसुम' की कुछ रचनाएँ प्रयोगवादी रचनाएँ हैं। दिनकर ने कहा भी है कि इसकी सभी कविताएँ तो प्रयोगवादी नहीं है- "किन्तु, मेरा निवेदन है कि 'नील कुसुम' की पाँच-सात कविताओं में प्रयोग है और वह प्रयोग, प्रयोगवादियों की श्रेणी में स्थान बनाने को नहीं, प्रत्युत्, अपने आप को 'गियर' में वापस में लाने को किया गया है।"[3] इसमें "परम्परागत शैली की भी कविताएँ हैं और कुछ रोमांटिक गीत भी हैं। किन्तु मेरे जानते ये कविताएँ 'नील कुसुम' की विशिष्टता का प्रमाण नहीं है। इस संग्रह की विशिष्टता उन कविताओं में देखी जा सकती है, जिनका छन्द गद्य की भंगिमा लिये हुए हैं तथा जिनकी भाषा बिल्कुल साधारण बोलचाल की है। और इन्हीं कविताओं में भावुकता भी बौद्धिकता के अनुशासन में चलती है। 'शबनम की जंजीर', 'कल कहा एक साथी ने तुम बर्बाद हुए', 'तुम क्यों लिखते हो', 'सपनों का धुआँ', 'नील कुसुम', 'भावी पीढ़ी से', 'सबसे बड़ी आवाज', आदि कविताओं की रचना मैं जानबूझकर अपनी तकनीक बदलने के लिए नहीं की

---

1 नीलकुसुम, दो शब्द- ग

2 नीलकुसुम, दो शब्द-ङ

3 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 59

थी। जीवन की समस्याओं पर सोचते-सोचते ये कविताएँ आप से आप स्फुरित हो गयीं। हाँ, रचना के बाद मैंने देखा कि इन कविताओं की भंगिमा या वातावरण वही नहीं है जो मेरी पहली कविताओं में था। फिर, मुझे यह भी लगा कि ये कविताएँ अधिक ताजी और मेरी आत्मा के अधिक समीप है। अतएव, मुझे अपने ही कृत प्रयोग से यह भासित हो गया कि कविता की प्रचलित शैली अपूर्ण होने लगी है ओर यहाँ से काव्य का मार्ग वे प्रशस्त करेंगे जिस पर परम्परा का बन्धन उतना कड़ा नहीं है जितना कि वह हम लोगों पर है।"[1]

"इन पाँच-सात कविताओं की रचना के बाद जो बात मुझे दिखलायी पड़ी वह यह थी की हमारी मनोदशाएँ परिवर्तित हो रही हैं और इन मनोदशाओं की अभिव्यक्ति वे छन्द नहीं कर सकेंगे जो पहले से चले आ रहे हैं। इन कविताओं को लिख कर मैंने सबसे बड़ी चेतावनी अपने-आप को दी थी कि यदि कविता की भूमि में अभी और रहना है तो अब गर्जमान छन्दों से काम नहीं चलेगा।

बन्धु मेरे सिन्धु, यों क्या चीखते हो?
तुम सुयश के भिक्षु मुझको दीखते हो?
मोह में भूले हुए प्रात में पुकारे,
या कि उससे भी अधिक निज कण्ठ फाड़ो।
यह जगत इस छोर से उस छोर तक
क्या कभी गर्जन तुम्हारा सुन सकेगा?
जिस तरह तुम धुन रहे मस्तक यहाँ पर
उस तरह संसार क्या सिर धुन सकेगा?
मूक हो जाओ अगर बल चाहते हो।
स्व नहीं, स्वहीन की झंकार है वह,
मूकता के साथ एकाकार है वह,
मूक है, प्रच्छन्न है सबसे बड़ी आवाज।

[1] चक्रवाल की भूमिका, पृ. 68-69

फिर भी, मैं तो युवकों की तुलना में परम्परा का ही प्रतिनिधि हूँ। यदि भविष्य मुझे अपनी लपेट में लेता भी है तो मेरे लिए वैसे छन्द पर्याप्त होंगे जो परम्परागत छंदों से किंचित् भिन्न हैं तथा जिनमें चिन्तन की प्रक्रिया बाधित नहीं होती जैसे वह गेय छन्दों में रूकती है। किन्तु, यह सीमा युवकों के लिए नहीं है। जब मुझे ही यह भाषित हो रहा है कि सभी छन्द मेरे अनुकूल नहीं रहे, बल्कि, सब से अनुकूल अब वे छन्द हैं जो गद्य के पास से होकर चलते हैं, तब युवकों की चेतना तो उन्हें खींच कर कहीं भी ले जा सकती है। इसीलिए, मेरी आधी सहानुभूति उन सभी लोगों के साथ है जो छन्दों को अपनी चेतना के प्रतिकूल पाकर उन्हें तोड़ रहे हैं अथवा अर्ध-छन्दों या गद्य-खण्डों में अपनी कविताएँ लिख रहें हैं।"[1]

दिनकर ने प्रयोगवाद के सम्बन्ध में अपनी मान्यताएँ स्थिर की हैं। वे प्रयोगवाद को एक वाद के दायरे से अलग नहीं मानते हैं, जबकि प्रयोगवादियों के अग्रगण्य कवि अज्ञेय जी प्रयोगवाद को वाद के दायरे में बाँधना नहीं चाहते।

यह उल्लेख्य है कि प्रयोगवाद का मूल्यांकन करते समय उनका दृष्टिकोण अपेक्षाकृत परम्परावादी है और इस अर्थ में वे छायावादोत्तर युग की दृष्टि से आबद्ध है। 'दिनकरः सृष्टि और दृष्टि' पुस्तक में प्रयोगवाद पर विचार करते हुए अजित कुमार ने कहा है कि "उन्होंने प्रयोगवाद को अपेक्षित परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा है और उसकी आध्यात्मिकता आवश्यकता और दार्शनिक अवधारणा की व्याख्या पूरी तरह नहीं की है। अजित कुमार के अनुसार, उनका विवेचन ऊपरी है, अतः परस्परविरोधी निष्कर्ष दिखलाई पड़ती है। फिर भी समय के साथ होनेवाली प्रतिक्रियाओं पर अपने विचार को प्रकट करके वे अपने आलोचक और सृजनशील व्यक्तित्त्व का परिचय देते हैं।"[2]

दिनकर जी के कुछ प्रयोगशील उदाहरण द्रष्टव्य हैं जो समयानुसार उनमें खुद-ब-खुद आ गए -

---

1 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 69-70

2 दिनकर : सृष्टि और दृष्टि, पृ. 65

"'गोचर को दे छोड़, अगोचर को भज प्यारे।'
कहा धर्म ने, 'जो कुछ है, ऊपर नभ में है।'
और मनुज, सचमुच, मिट्टी को छोड़ युगों तक
धूम- जाल में ग्रस्त घूमता रहा गगन में।
तब आया विज्ञान और बोला यन्त्रों से
छू सकते हैं हम जिसे, सत्य है; और सत्य है
वह भी, जो तर्कों से जाना जा सकता है।
थी इतनी-सी बात, नहीं विज्ञान गलत था,
क्योंकि मौन था वह उस पर, जो कुछ अदृश्य है
या कि जहाँ तक पहुँच नहीं है गोचर मन की।
किन्तु मार्क्स ले उड़े, 'सत्य है पत्थर केवल,
वायु सत्य है उससे कम , नभ बिल्कुल असत्य है।
ईश्वर नर की भ्रान्ति और यह धर्म जहर है।"[1]

"रचना तो पूरी हुई, जान भी है इसमें?
पुछूँ जो कोई बात, मूर्ति बतलायेगी?
लग जाय आग यदि किसी रोज देवालय में,
चौंकेगी या यह खड़ी-खड़ी जल जायेगी?
ढाँचे में तो सब ठीक-ठीक उतरा, लेकिन,
बेजान बातों के कारीगर, कुछ होश करो;
जब तक पत्थर के भीतर साँस नहीं चलती,
सौगन्ध इसी की, तुम्हें, न तुम संतोष करो।"[2]

"तुम क्यों लिखते हो? क्या अपने अंतस्तम को

---

1 कोयला और कवित्त्व, पृ. 59
2 नील कुसुम, शबनम और जंजीर, पृ.71

औरों के अंतस्तम के साथ मिलाने को?
अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को?
यदि छिपा चाहते हो दुनिया की आँखों से,
तब तो मेरे भाई! तुमने यह बुरा किया।
है किसे फिक्र ही यहाँ, कौन क्या लाया है?
तुमने ही क्यों अपने को अद्भूत मान लिया?"[1]

"तबीयत चाहती है, बात कुछ तुमको सुनाऊँ
मगर, तुम कौन हो जो पंक्ति मेरी पढ़ रहे हो?
कला के पारखी हो? चाँदनी के चाहनेवाले?
हवा की साँस में जो दर्द है उसको समझते हो?
बिताई है कभी क्या पूर्णिमा की रात खेतों में
खड़ी हरियालियों को देखते, बोले बिना कुछ भी?
पहाड़ों को कभी क्या देखकर यह भाव जगा है,
तुम्हारी और उनकी रूह आपस में सहेली हैं?
सितारों की सभा में बैठते हो? घूमते हो क्या
ऊषा के जावकों में और संध्या के जुही-वन में?
जवानी की लटों को देख मन कसमस बदलता है?
भरे-उभरे बदन से क्या घनों की याद आती है?
रखा है याद सौ में एक कोई गीत वह चुनकर
कि जिस में रूपसी कोई सरोवर में नहाती हो,
पलों के दो दलों पर, बाहु-मूलों पर, कपोलों पर
झलकते हों फुहारे शुभ्र जल के मोतियों-जैसे,
कमल-दल पर सुबह में जिस तरह शबनम चमकती है?"[1]

---

[1] नीलकुसुम,तुम क्यों लिखते हो?, पृ.49

"'है यहाँ, आगे भी ऐसा ही तम है,
तुम नील कुसुम के लिए कहाँ तक जाओगे?
जो गया, आज तक नहीं कभी वह लौट सका,
अज्ञान मर्द! क्यों अपनी जान गँवाओगे?
प्रेमिका? अरे, उन शोख बतों का क्या कहना!
वे तो यों ही उन्माद जगाया करती है;
पतली से लेतीं बाँध प्राण की डोर प्रथम,
पीछे चुम्बन पर कैद लगाया करती हैं।
इनमें से किसने कहा, चाँद, से कम लूँगी?
पर, चाँद तोड़ कर कौन मही पर लाया है?
किसके मन की कल्पना गोद में बैठ सकी?
किसका जहाज फिर देश लौट कर आया है?"[2]

"हम तुम में साकार नहीं तो छिपे हुए हैं।
तुम भी लेकर नाव हमारे उष्ण रुधिर में
घूम रहे इच्छाओं की दुनिया टटोलते,
ले जाने को उसे, तत्त्व जो अविनश्वर है,
जा सकता है जो कुम्हलाये बिना वहाँ तक
जहाँ पहुँच तट छोड़ तुम्हें ऊपर आना है।

ये कुछ भींगे कमल और ये गीली कलियाँ?
ऐसी ही थीं, हम सब की ईजाद नहीं है।
जो हम को दे गये, उन्होंने भी पाया था,

---

1 नील कुसुम, स्वप्न और सत्य, पृ.12-13

2 नील कुसुम, नील कुसुम, पृ. 1

अपने पूर्व-पुरुष के हाथों से ऐसा ही।
जीत वही जो मनु के चरणों में लोटी थी;
हार वही जिसके नीचे वह काँप उठा था।
रहे धूल में पड़ा कि गंगा में नहलाओ,
आदम का बेटा आदम का ही बेटा है।"[1]

"शून्य का जो उत्स, उसके पास है वह।
काल की निस्सीमता की साँस है वह।
है पची हर चीज़ के आकार में,
फूटती लेकिन नहीं झंकार में
मूक है, प्रच्छन्न है सबसे बड़ी आवाज।
सिन्धु गर्जन कर रहा है;
ये नहीं मर जायँ अंबर में बिखर कर,
अमरता के लोभ से हर एक स्वर को
भूमि की श्रुति में युगों से भर रहा है।
भूमि, लेकिन, कब तलक रहती रहेगी?
अमरता की प्यास में जलती हुई
कान में कब तक जुगाये नाद की लहरी रहेगी?
सिन्धु को जाना जहाँ है,
भूमि को अपना विलय पाना वहाँ है।
बोलनेवाली तरंगे मौन होंगी,
तब तक यहाँ आवाज उठती कौन होगी?"[2]

ध्यान देने की बात है कि बालस्वरूप राही उनकी इन रचनाओं को प्रयोगवादी रचना नहीं मानते। "'नील कुसुम' को प्रयोगवादी कृति मैं इसलिए भी नहीं मानना चाहूँगा, क्योंकि इसमें

---

1 नील कुसुम, भावी पीढी से, पृ. 17
2 नील कुसुम, सबसे बड़ी आवाज, पृ. 20

संकलित कविताओं के विषय अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित नहीं है।"[1] ऐसे में कहा जा सकता है कि दिनकर जी का जीवन दर्शन और उसका मूल स्वर भी प्रयोगवादी रचनाओं से नितान्त भिन्न है। वे मूलतः भाषा के स्तर पर अपने प्रयोगवादी होने को इंगित कर रहे थे।

1.6. शुद्ध कविता : सामान्य परिचय :

युरोपीय साहित्य में फ्रांस साहित्यिक क्रान्ति के क्षेत्र में सदैव आगे रहता आया है। शुद्ध कविता का जो आन्दोलन इंगलैण्ड में बिसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में दिखलाई पड़ा और भारत में चौथे-पाँचवें दशक में आया, उसकी शुरुआत 19वीं शताब्दी में ही फ्रांस में हो गयी थी। पर वहाँ से अंग्रेज़ी साहित्य पर ही यह प्रभाव देर से पड़ा और फिर भारतीय साहित्य में अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से काफी देर से पहुँचा।

"जिसे हम शुद्ध कविता कहते हैं, वह साहित्य की कोई सर्वथा नवीन विधा नहीं है। जब से मनुष्य ने काव्यकला का आविष्कार किया, शुद्ध कविता की रचना वह तभी से करता आ रहा है। किन्तु, पहले उसे यह पता नहीं था कि जो कुछ वह लिखता है, उसमें दो प्रकार की कविताएँ होती हैं। एक वे, जिनका उद्देश्य केवल आनन्द-दान होता है; और दूसरी वे, जिनमें आनन्द के साथ कुछ ज्ञान भी रहता है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कुछ उपदेश भी रहते हैं तथा, दूर पर कहीं, किसी कर्तव्य की प्रेरणा भी रहती है। शुद्ध कविता को अब शुद्ध कविता कहने का रिवाज है किन्तु, जो कविताएँ परिभाषा के अनुसार ठीक-ठीक शुद्ध नहीं हैं, उन्हें क्या कहा जाना चाहिए? उनका एक ढीला-ढाला सामान्य नाम सोद्देश्य काव्य चलता है।

जब कविता का आविष्कार हुआ था, विद्या का विभाजन शाखाओं में नहीं हो पाया था, न आदमी को यही मालूम था कि ज्ञान और भाव के बीच भी भेद है। किन्तु, कुछ समय बीतने पर साहित्य-शास्त्र के आचार्यों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने यह अनुभव किया कि कविता का

---

[1] सृष्टि और दृष्टि, पृ. 212

काम ज्ञान का कथन नहीं, केवल भावों का आख्यान है। इसलिए उन्होंने भावों की छानबीन की, उनका नौ जातियों में वर्गीकरण किया(जो साहित्य के नौ मूल भावों के रूप में प्रसिद्ध हैं) और कितने ही ऐसे क्षणस्थायी भावों को भी स्वीकार किया, जो साहित्य के संचारी भाव कहलाते हैं।

यदि आचार्यों का बस चलता तो साहित्य में केवल भाव-ही-भाव होते, उसमें उपदेश अथवा ज्ञान की बातें कभी आती ही नहीं। किन्तु, यह संभव नहीं हुआ। कुछ कवि तो मुख्यतः भावों तक ही सीमित रहे(जैसे हाल, गोवर्धन, अमरुक, जयदेव, बिहारीलाल, गालिब आदि) किन्तु, बाकी कवियों ने भावों के साथ ज्ञान को भी मिला दिया और आचार्यों के बनाए हुए नियमों के विरुद्ध वे ही अधिक शक्तिशाली भी निकले। फिर आचार्यों ने उनकी महिमा को भी स्वीकार किया और साहित्य में एक मान्यता चल पड़ी कि कविता का प्रयोजन सद्यःआनन्द-दान भी है और वह उपदेश भी देती है।"[1]

1.6.1. दिनकर की शुद्ध कविता सम्बन्धी धारणा :

दिनकर का कहना है कि फ्रांस में शुद्ध कवित्व की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ी उसी का नाम शुद्धतावादी काव्य पड़ा। उसका आभास पहले-पहल जर्मनी के साहित्यकार नीत्से में दिखलाई पडा था-"फ्रांस में शुद्ध कविता कवित्व की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, उसका आभास जर्मनी में पहले-पहल नीत्से(1844-1900) ने दिया था।"[2] नीत्से के बाद इसके दर्शन अमेरिका के कवि एडगर एलन पो में हुए जो रोमांटिक युग के कवि थे, पर आगामी काव्य की शैली का पूर्वाभास उन्होंने दे दिया था- "किन्तु, युग के हृदय में छिपी हुई जिस भावना को पूरी अभिव्यक्ति कोई रोमांटिक कवि नहीं दे सका, वह अमेरिका के एक कवि एडगर एलेन पो(मृत्यु 1849 ई.) के मुख में अच्छी भाषा पा गई। इसीलिए, हमारा ख्याल है कि शुद्धतावादी आन्दोलन का आरंभ एडगर एलन पो से ही माना जाना चाहिए। क्योंकि आगामी काव्य के उन्होंने केवल लक्षण ही

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 15

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 81

नहीं कहे, बल्कि, प्रतीकों के प्रयोग से उन्होंने शुद्ध कविताएँ भी लिखकर एक नई परम्परा को जन्म दे दिया।"[1] एडगर एलेन पो ने ऐसे समय अपनी मान्यता को सामने रखा था जब रोमांसवाद का प्रभाव चरम शीर्ष पर था-"ऐसे समय में एडगर एलेन पो ने कला की भूमि पर बम फेंकते हुए यह घौषणा की कि "कला का चरम ध्येय सौन्दर्य का विधान है, भावनाओं का जागरण है, आनन्द की उत्तेजना है और यह काम कला टेरर के जरिए करती हे, ट्रेजेड़ी के जरिए करती है, सनक और पागलपन के भी जरिए करती है, किन्तु सत्य के द्वारा कभी नहीं करती।""[2]

"सोद्देश्य होने की संभावना उसी कवि में रहती है, जो सत्य, वास्तविकता अथवा जीवन के प्रति दायित्व का अनुभव करता है। अतएव, सोद्देश्यता को मिटाने के लिए एलेन पो ने साहित्य में से सत्य को ही मिटा दिया और यह केवल सिद्धान्त की बात नहीं थी। इसका पालन उन्होंने अपने समग्र साहित्य में किया है।"[3] "शुद्ध कवित्व का जो आन्दोलन आगे चलकर उठने वाला था, उसकी पूरी झलक एडगर एलेन पो को रोमांटिक युग में ही दिखाई पड गई थी। किन्तु उन्होंने आगामी काव्य का जो पूर्वाभास दिया था, उस पर अमेरिका और इंगलैंड में उस समय किसी ने भी ध्यान नहीं दिया।"[4] "किन्तु, पो के भीतर चमकनेवाली भविष्य की जिस रोशनी को इंगलैंड और अमेरिका के कवि नहीं देख सके, उसे फ्रांस के दो कवियों-बोदलेयर और मलार्मे ने देख लिया।"[5] आज संपूर्ण विश्व में इस रोशनी की चमक फैल गई है। यों तो कवि के आन्दोलन हमेशा होते हैं और अपना प्रभाव प्रायः आने वाले युग पर छोड़कर लगभग शिथिल हो जाते हैं, पर यह आन्दोलन तेजी से बढ़ता जा रहा है- "नई कविता का आन्दोलन यूरोप में लगभग सौ वर्षों से चल रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि वह अब भी पुराना नहीं पड़ा है।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 50
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 51
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 51
4 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 51
5 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 52

उसके भीतर से बराबर नए आयाम प्रकट होते जा रहे हैं बराबर नई चिनगारियाँ छिटकती जा रही हैं। रोमांटिक युग तक कविता किसी निश्चित चौखटे में जड़ी देखी जा सकती थी; किन्तु उसके बाद से वह दिनों-दिन हर प्रकार के चौखटे से घृणा करती आई है। आज अन्तर्राष्ट्रीय काव्य जहाँ खड़ा है, वहाँ केवल आसमान ही आसमान है, कहीं कोई क्षितिज दिखाई नहीं देता।"[1] नई कविता के हिन्दी के आगमन पर लगभग यही बात उन्होंने नई कविता के पक्ष मे कही- "हिन्दी में नई कविता की जो बानगी आई है वह चाहे जितनी भी अक्षम और असमर्थ हो, किन्तु नये काव्य के पक्षपाती विद्वान आगामी काव्य की जिस रूप में कल्पना करते हैं वह अत्यन्त भव्य है।"[2]

आज तक यह आन्दोलन जारी है पर परम्परावादी लोग इसे पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाते, क्योंकि इसमें जीवन के प्रति लगाव नहीं है। यह काव्य वास्तविकता की सत्ता नहीं स्वीकार करता। यह केवल मन के अतल तल में जाकर ऐसी चीज़ों की तलाश में बेचैन है जिनमें कथ्य नहीं है। दुरूहता है, शैली की चुस्ती, वैयक्तिकता और बौद्धिकता है। "फिर भी, नया काव्य हमारी शान्ति भंग करने में समर्थ है, वह हमारी आत्मा के सरोवर में हिलकोर उठा सकता है। आत्मा के निस्पन्द सरोवर में जब हल्की-सी भी हिलकोर उठती है, आदमी बड़े ही सूक्ष्म आनन्द का अनुभव करता है।"[3]

प्रश्न यह है कि यह आन्दोलन क्या सर्वथा नवीनता का द्योतक है? क्या यह उस नये क्षितिज को छूने का उपक्रम है जो अब तक अछूता है? दिनकर ने भारतीय साहित्य और रोमांसवादी काव्य का संक्षिप्त इतिहास देते हुए स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि जिन विशेषताओं को लेकर शुद्ध काव्य का आन्दोलन चला है, वह सर्वथा नवीन चीज़ नहीं है। भारतीय साहित्य में भी और अंग्रेज़ी साहित्य में भी जनवादी और सौन्दर्यवादी अथवा आनंदवादी साहित्यकार हुए

---

1 कविता और शुद्ध कविता, भूमिका, पृ. 11

2 सीपी और शंख-भूमिका, ङ

3 कविता और शुद्ध कविता, भूमिका, पृ. 12

हैं। भारत में तो पहले काव्य का लक्ष्य आनंद की ही प्राप्ति माना जाता था। ध्वनि, चित्रात्मकता, वक्रोक्ति, शैली, वैयक्तिकता और दुरूहता जैसी विशेषताएँ काव्य में पहले भी महत्त्व दिया गया था। वैसे ही शैली पक्ष की दृष्टि से रीति का स्थान भारतीय काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण था। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है, अतः उसकी शैली भी भिन्न होगी और शैली की यह भिन्नता ही रीति की अनेकता से बोधित होती है।

शुद्ध कविता की सारी विशेषताएँ रोमांसवादी काव्य के बीजरूप से वर्तमान रही हैं- "हर वैचारिक आन्दोलन अपने ही भीतर लिये रहता है। शुद्धतावादी आन्दोलन, वैसे तो, रोमांसवाद के बाद और बहुत-कुछ उसके विरुद्ध उठा था, लेकिन, उसके बीज रोमांटिक कवियों की ही साधना में मौजूद थे। ये बीज कवियों की उन पंक्तियों में मौजूद थे, जो अत्यन्त काव्यात्मक होकर प्रकट होती थीं, जिनमें कोई ज्ञान की बात नहीं होती थी, जो केवल अनुभूतियों का आख्यान, रूप का चित्रण अथवा किसी मनःस्थिति का तटस्थ संकेत देकर समाप्त हो जाती थीं। कविताओं के भीतर ये शुद्ध पंक्तियाँ ही सबसे अधिक लुभावनी भी दिखाई देती थीं। ऐसी ही पंक्तियों को देखकर सजीव संवेदना वाले कवियों के भीतर यह कल्पना उठी होगी कि कविता का सौन्दर्य उसकी शैली में होता है, भाव में नहीं। शैली और भाव के बीच कवियों में शैली के प्रति जो पक्षपात उत्पन्न हुआ, असल में, शुद्धता का आरंभ उसी का पक्षपात था।"[1] जब शुद्धतावादी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, लोगों ने रोमांसवाद में केवल त्रुटियाँ ही पायी, पर स्मरणीय है कि रोमांसवाद काव्य परम्परा में सबसे पहली क्रान्ति माना जाता है। यह अपने युग में आधूनिक भी था और क्रान्तिकारी भी था, पर मन की अतल गहराइयों की ओर झाँकने का प्रयास इनमें भी देखा जा सकता है। यह विशिष्टता और सूक्ष्मता का आन्दोलन था- "किन्तु यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि युगों से आती हुई काव्य-परम्परा में पहली विशाल क्रान्ति रोमांसवादियों ने की थी। काव्य में स्थूल की जगह सूक्ष्म की स्थापना रोमांसवादियों की स्थापना

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 49

थी। बुद्धि और कल्पना के मिश्रण का मार्ग पहले-पहल रोमांसवादियों ने प्रशस्त किया था।"[1] "केवल इतना ही नहीं, रोमांटिक कवियों ने भी ऐसी अनेक कविताएँ रची थीं, जिनका उद्देश्य न तो मनुष्य का सुधार था, न दार्शनिक अनुभूतियों की व्याख्या, जो मात्र कला की सृष्टि थीं तथा जिनका लक्ष्य अभिव्यक्ति की पूर्णता के सिवा और कुछ नहीं था।"[2]

शुद्ध कवित्व का आन्दोलन आज कवि और काव्य के जिन गुणों पर बहुत अधिक ज़ोर दे रहा है, उनमें से बहुत-से गुण रोमांसवादियों में भी विद्यमान थे। अपने आयुकाल में रोमांसवाद आधुनिक और क्रान्तिकारी आन्दोलन था। वह व्यक्तिवाद में विश्वास करता था और अपने इस विश्वास पर उसे नाज भी था। तार्किकता और उपदेशवाद से बचने की प्रवृत्ति रोमांसवाद में भी थी, गरचे इस प्रवृत्ति से वह बच नहीं पाता था। रंगों को कान से सुनने और ध्वनियों का स्पर्श करने का प्रयोग सबसे पहले रोमांसवादियों ने किया था। और इन प्रयोगों के अनुरूप उन्हें शब्द भी मिल जाते थे जो कविता को संगीत के समान निराकार कर सकती है, जो उसे चित्रों के समान साकार भी बना सकती है। यह सत्य है कि जैसे शुद्ध कवित्ववादियों के सभी सपने हाथ नहीं आ रहे हैं, उसी प्रकार रोमांसवादियों के भी सभी सपने साकार नहीं हुए। किन्तु, यह उमंग तो रोमांसवादियों के भीतर भी थी कि कविता लाजिक की अधिणता में नहीं रहे, वह किसी भी शास्त्र की अनुचरता स्वीकार न करे और समाज में अपना स्थान वह अपने ही बल से बनाए।"[3] रोंमांसवादी कवि भावनाओं के मूल तक पहुँचने के लिए कल्पना का सहारा लेते थे जिससे चेतना मन के परे भी देखी जा सके। रोमांसवादी युग में धुंधलापन, संकेत और प्रतीक को महत्ता मिली थी जो शुद्ध कविता के गुण भी हैं। बुद्धि और कल्पना का योग रोमांटिक युग की देन है। कविता भीतर की चीज़ है। यह भी उन्होंने ही कहा था। रोमांसवाद में जीवन को महत्त्व दिया गया, पर नई कविता इसके विपरित है। यही भिन्नता दोनों में है।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 44
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 45
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 46

अतः इस बात को स्वीकारा जा सकता है कि शुद्धतावादी आंदोलन रोमांसवाद के विकास की ही प्रक्रिया है। सर्वविदित है कि प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग की मान्यताओं एवं मूल्यों में कुछ नवीनता को जोड़ता है, किन्तु इतिहास से भी वह जुड़ा होता है। "रोमांटिक युग वह सेतु है, जिस पर चढ़कर पुरानी कविता नये युग में प्रवेश करती है।"[1] वह परम्परा से रस ग्रहण कर, सूत्र पकड़ कर ही आगे बढ़ता है। उसमें परम्परा की गंध अनिवार्य है, क्योंकि चाहकर भी इतिहास की सत्ता को सर्वथा ठुकराया नहीं जा सकता। इतिहास की पीठ पर ही वर्तमान और भविष्य की मजबुत रीढ़ खड़ी होती है। "ये भविष्य की चिनगारियाँ थीं, जो रोमांटिक युग में ही चमकने लगी थीं।"[2] "रोमांसवाद शुद्ध कविता की ओर उठाया गया कदम था।"[3]

नयी कविता मुक्तक परम्परा की कड़ी से जुड़ी प्रतीत होती है। प्राचीन काल में भी मुक्तक-रचना का प्रचलन था। अलग से भी मुक्तक रचनाएँ की जाती थी और महाकाव्यों में भी बीच-बीच में इनका प्रवेश होता था।

मुक्तक काव्य को वे शुद्ध काव्य के समान मानते हैं- "मुक्तक की महिमा यह भी है कि एक समय वे लगभग शुद्ध काव्य के प्रतीक थे। वे छोटे होते थे, उनमें भावों का वर्णन सूत्र-शैली में किया जाता था और वे वहीं समाप्त हो जाते थे, जहाँ भावों की समाप्ति होती थी।"[4]

इसलिए दिनकर कहते हैं कि जिसे हम शुद्ध कविता कहते हैं वह साहित्य की कोई सर्वथा नवीन विधा नहीं है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में शुद्ध कवित्व अति-काव्यात्मक के खिलाफत में हुई थी, दिनकर विद्यापति के "जनम-अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल" के जरिये बताते हैं- "काव्य-रसिकों की जो भावना ऐसी विलक्षण और विशुद्ध पंक्तियों से सर्वाधिक संतोष पाती

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 47
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 50
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 39
4 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 31

थी, उसी ने विकसित होकर अब संपूर्ण काव्य को शुद्ध करने का व्रत ले लिया है। शुद्ध कवित्व का आंदोलन मनुष्य की इसी अति काव्यात्मक प्रवृत्ति का विस्फोट है।"[1]

शुद्ध कविता की रचना काव्य के जन्म के साथ होती आ रही है- भले ही पहले सोद्देश्य काव्य(विचार काव्य) और शुद्ध काव्य का द्वन्द इतना प्रखर नहीं था। यह निश्चित रूप से कहना मुश्किल है कि अमुक कवि शद्धतावादी और अमुक सोद्देश्यवादी हैं। उदाहरण स्वरूप वाल्मीकि, तुलसी, आदि को लिया जा सकता है और शुद्धतावादी कवियों में इलियट, अज्ञेय, धर्मवीर भारती और एक अच्छे अंश तक रवीन्द्र जी के काव्यों में भी विचार के दर्शन होते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भाव और विचार को अलग-अलग करके देखना भी भ्रामक है, क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार भाव के ही परिष्कृत रूप विचार हैं। भारतीय साहित्य में कालिदास को शुद्ध कविता के रचयिता की श्रेणी में ही रखा जाता है, पर वाल्मीकि के काव्य में भी शुद्ध काव्य के प्रमाण हैं। आधुनिक युग में निराला की 'जूही की कली' और 'शेफालिका' तथा 'पल्लव' में 'परिवर्तन' को छोड़कर सभी रचनाएँ और महादेवी की रचनाओं को शुद्ध काव्य में रखा जा सकता है- "आधुनिक युग की रहस्यवादिनी श्रीमती महादेवी वर्मा ने शायद ही, ऐसी कोई कविता लिखी हो, जो शुद्ध कवित्व की कोटि में न रखी जा सके। इसी प्रकार पन्त जी और निराल जी की ऐसी अनेक कविताएँ हैं, जो सौन्दर्य तथा आनन्द की अभिव्यक्ति के बाद और कुछ भी कहना नहीं चाहतीं। निराला जी की 'जूही की कली' और 'शेफालिका' शुद्ध कवित्व के उदाहरण है। पल्लव की सारी की सारी कविताएँ शुद्ध हैं हाँ, परिवर्तन में से उद्देश्य की गन्ध अवश्य आती है।"[2] महादेवी की समस्त रचनाओं को दिनकर शुद्ध कविता की कोटि में इसलिए रखते हैं क्योंकि वे रहस्यवाद को भी शुद्ध काव्य कहते हैं- "रहस्यवाद की सारी कविताएँ शुद्ध कविता की कोटी में आती हैं।"[3]

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 32

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 21-22

3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 21

दिनकर ने शुद्ध काव्य की विशेषताओं और व्याप्तियों पर प्रकाश डालते हुए कई बातें कहीं है जो विचारणीय हैं। उनके अनुसार, शुद्धतावादी आन्दोलन का हर एक कदम काव्य के विशिष्टीकरण की ओर पड़नेवाला कदम रहा है। आज के युग में प्रत्येक विधा अपनी ही शक्ति से जियेगी। उसको प्रभावशाली बनाने के लिए न तो उसमें विचार की अपेक्षा है, न तुक और छंद की, और न अलंकरण की। आज कविता को इस रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा है। आज कविता की इस रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा है कि वह एक ऐसी शक्ति या यंत्र है जिससे मनुष्य का वह रूप पकड़ा जाता है, जिस रूप को पकड़ने में अन्य विद्याएँ असमर्थ होती हैं। फलतः, "शुद्ध कवित्व की तृषा आधुनिक कवियों की सबसे प्रमुख तृषा है।"[1]

शुद्धता की साधना आज के काव्य की सबसे अनिवार्य शर्त हो गई है और इस साधना में सम्पूर्ण विश्व के साहित्यकार लगे हैं। यहाँ आकर परम्परागत काव्य विषयक मान्यताएँ झूठी और निस्सार हो गई हैं। ये कवि तुक, छंद, अर्थ और जीवन की गंध जैसी चीज़ों को काव्य-रचना के लिए आवश्यक नहीं मानते। ये कविता को वह अद्‌भूत सृष्टि मानते हैं जिसका प्रभाव अर्थ समझने के पूर्व ही पाठक पर पड़ने लगता है।

दिनकर काव्य में कभी-कभी दुरूहता को अपेक्षित मानते हैं, क्योंकि "शुद्धतावादी कवि अनुभूतियों के शुद्ध चित्रण को अपना ध्येय समझता है। वह इस भय से घबराकर शुद्धता से विचलित नहीं होता कि लोग उसकी कविता को नहीं समझ सकेंगे अथवा वे उसकी निन्दा करेंगे।"[2] "नई मान्यता के अनुसार छन्द और तुकें तभी तक सार्थक हैं, जब तक वे अकृत्रिम रूप से अपना काम करते हों। कवि का कार्य छन्द और तुकों की घूस देकर पाठकों को रिझाना नहीं है। उसका काम अनुभूतियों को उनके सही रूप में ग्रहण करना है। जिस चिन्ता ने कवि को ग्रस लिया है, छन्द और तुकों के लोभ में, उस चिन्ता को इधर या उधर मुड़ना नहीं चाहिए। उसे सीधे उस दिशा की ओर चलना चाहिए जो उसकी स्वाभाविक गति की दिशा है,

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 26

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 28

उस बिन्दु तक पहुँचना चाहिए जो उसकी चरम परिणति का बिन्दु है। यदि छन्द और तुक चिन्ता की इस स्वच्छ और स्वच्छन्द प्रगति में बाधा डालते हैं(और कौन कह सकता है कि वे बाधा नहीं डालते?) तो वे त्याज्य और तिरस्करणीय हैं। कवि के हाथ में भाषा सोचने का यन्त्र मात्र है। जो कवि उसका प्रयोग पाठकों को रिझाने के लिए करता है, वह अपने कवि-धर्म पर आरूढ़ नहीं है। और भाषा अगर बराबर उसी भूमि में काम करती है, जिसमें बहुत से कवि काम कर चुके हैं, तो वह कोई बड़ा काम नहीं करती। उसका लक्ष्य नई भूमि पर अधिकार करना होना चाहिए। उसे उन संवेदनाओं को शब्दों के भीतर बिठाने की कोशिश करनी चाहिए जिन्हें अब तक भाषा का लिबास नहीं मिला है।"[1] शुद्ध कविता के कवि शैली की चुस्ती पर ज़ोर देते हैं और आवश्यकता इस बात की समझते हैं कि एक भी शब्द जरूरत से फालतू प्रयुक्त नहीं किया जाए। इस सम्बन्ध में दिनकर का विचार यह है-"कविता विचारों के परवान पर चढ़कर अपने आकार को बढाना नहीं चाहती। वह भावना की सच्चाई के बाद एक शब्द भी नहीं बोलती है। जहाँ भावना खत्म होती है, वहीं कविता का भी स्वाभाविक अन्त है। इसलिए, शुद्ध कविता छोटी ही हो सकती है क्योंकि भावना के प्रगाढ़ क्षण ज्यादा देर नहीं टिकते। और यह छोटी कविता और भी छोटी इसलिए हो जाती है कि अनुभूति के चित्रण में कवि उतने से एक भी अधिक शब्द खरचता, जितने की नितान्त आवश्यकता है। चित्रों की नई खूबी यह है कि उनकी रेखाएँ संख्या में न्यून हों। कविता की नई विशेषता यह है कि उसमें एक भी ऐसे शब्द का प्रयोग न किया गया हो, जिसके बिना कवि का काम चल सकता था। नई कविता का मनसूबा सूत्र शैली में बोलने का मनसूबा है। उसकी उमंग मन्त्र के समान सुगठित और संक्षिप्त होने की उमंग है, जिसका कोई भी शब्द ऊर्जा विहीन नहीं होगा।"[2] दुरूहता का एक और कारण वे अगोचर को छूने का प्रयास मानते हैं, और कबीर जी के रहस्यवाद का हवाला देकर उन्होंने इस

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 28

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 29

बात को समझाने की कोशिश की है। शुद्ध कविता की खोज भी अगोचर को छूने का प्रयास है- अन्तर्मन को पाने की चेष्टा है।

शुद्ध कविता में दुरूहता को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, मसलन इसे नकारात्मक रूप में न देख इसे एक खूबी के रूप में ग्रहण किया गया है। टी.एस.इलियट से पूछे जाने पर कि नई कविता में इतनी दुरूहता क्यों है और क्या नई कविता का दुरूह होना आवश्यक है? उनका जवाब था- ''मेरा ख्याल है, दुरूहता कई कारणों से उत्पन्न होती है। उदहारणार्थ, एक दुरूहता तो केवल बहाना ही है। कभी-कभी कवि के पास कहने को कोई गंभीर बात तो होती नहीं, किन्तु, वह इस भ्रम में पड़ जाता है कि उसका कथ्य बड़ा ही गंभीर है। अतएव, उसके भ्रम की अभिव्यक्ति दुरूह हो जाती है।

''दुरूहता का दूसरा कारण यह है कि कवि की अनुभूति तो सच्ची होती है, किन्तु, कभी-कभी उसकी अभिव्यक्ति का मार्ग कठिन होता है। यह कठिनाई प्रायः नए कवियों के सामने आती है। इस प्रकार की कुछ थोड़ी दुरूहता मेरे 'वेस्ट लैंड' में भी है। जो बातें मैं कहना चाहता था, वह उसी शैली में कही जा सकती थीं, अन्यथा मुझे उन्हें अनकहे ही छोड़ देना पड़ता। जैसे-जैसे कवि अपनी कला पर हावी होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी रचना की दुरूहता भी घटती जाती है।

''कभी-कभी विषय के दुरूह होने से भी कविता दुरूह हो जाती है। मेरे 'क्वार्ट्रेस' के पिछले दो भाग दुरूह हैं। कारण यह है कि उनमें जो विचार अभिव्यक्त किए गए हैं, दुरूहता उन विचारों के साथ लिपटी हुई है।

''एक तरह की दुरूहता तब उत्पन्न होती है, जब बातें बिलकुल नए ढंग से कही जाती हैं। यह लक्षण चित्रों में भी देखा गया है। पहले चित्र देखने का हमारा एक खास ढंग था। अब जो चित्र बनते हैं, उन्हें हमें एक-दूसरे ढंग से देखना चाहिए, लेकिन चूँकि चित्रों के देखने का नया ढंग हमने नहीं अपनाया है, इसलिए नए चित्र हमें दुरूह दिखाई देते हैं।

"अन्त में एक यह बात भी है कि कला की जो भी कृतियाँ सबसे ऊँची, सबसे गंभीर हैं, उन्हें पढ़ते समय हमें कभी यह विश्वास नहीं होता कि हम ऐसे बिन्दु पर पहुँच गए हैं, जहाँ सारा का सारा अर्थ हमारी समझ में आ रहा है। यह लक्षण मुख्यतः सभी देशों की बाइबिलों पर घटित होता है।"[1]

"जैसे सभी प्रकार की कविताओं में शुद्ध कवित्व वाली कविताएँ हमेशा हीरों की तरह चमकती रही हैं, उसी प्रकार, सभी युगों में लोग यह भी समझते रहे हैं कि प्रसाद कविता का चाहे जितना भी बड़ा गुण हो, किन्तु अस्पष्टता या दुरूहता से कविता की शक्ति और सुन्दरता घटती नहीं, कुछ और निखार पाती है, बल्कि, अस्पष्टता श्रेष्ठ काव्य का दूषण नहीं, भूषण है।

नई कविता के उत्थान के साथ दुरूहता के आयामों मे वृद्धि अवश्य हुई है, किन्तु, उसके कुछ आयामों का पता पहले के भी आचार्यों को था। दुरूहता इसलिए स्वीकार्य थी कि वह ध्वनि के गांभीर्य से उत्पन्न होती है और ध्वनि काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है। ध्वनि- काव्य ऐसा हो सकता है, जिससे निकलनेवाली किरणें अनेक दिशाओं में छिटक रही हों और पाठक यह निश्चित न कर सके कि इस काव्य का कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है। जब ध्वनि की किरणें अनेक दिशाओं में छिटकने लगें, तब किसी एक अर्थ पर अड़ने का आग्रह करनेवाला पाठक सही नहीं होता। और अनेक अर्थों के बीच सामंजस्य का सूत्र नहीं पा सकने के कारण वह कविता को दुरूह मान लेता है। पाठक सामान्यतः तर्क के अनुसार चलते हैं ओर शब्दों के अर्थ भी वे अपनी तर्क-बुद्धि के ही अनुसार निकालना चाहते हैं। किन्तु, यह पद्धति सर्वत्र कारगर नहीं होती। ऐसी कविताएँ होती हैं, जिसमें शब्द और अर्थ अपने को गुणीभूत करके किसी विशेष अर्थ का संकेत देते हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने ऐसे काव्य को भी सर्वश्रेष्ठ काव्य माना है। दुरूहता की महिमा प्राचीनों को भी स्वीकार्य थी।"[2]

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 126

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 126-127

दिनकर का कहना है कि नयी कविता अनुभूतियों के शुद्ध चित्रण पर ज़ोर देती है, और वैयक्तिकता उसकी प्रधान विशेषता है। इसके लिए नई कविता ने जिस शैली को अपनाया है, वैसी कठिन शैली संसार में कभी नहीं देखी गई थी। यही कारण है कि कवि कर्म में सफलता अब विरले साधकों को ही प्राप्त है। फ्रांस के कवियों ने कविता को वाणी की वह विधा माना है जो भाषा की असमर्थता को पहचानती है। जो अलभ्य, अनिवर्चनीय है और पूर्ण अथवा एब्सोल्यूट है, कविता उसी की अभिव्यक्ति करना चाहती है- "अर्धप्रकाश कला का असली वातावरण है। द्विविधा, अनिश्चय, प्रसंग, ध्वनि, धुँधली स्मृतियाँ, मिश्रित झंकारे, ये मनोवैज्ञानिक जगत् की अर्ध-ज्योतियाँ है और नई कविता ऐसी अर्ध-ज्योति, इसी गोधूलि में निवास करती है।..... कविता ने अपने अनेक उपकरणों का त्याग कर दिया है किन्तु, ध्वनि को, जो कवित्व का सर्वश्रेष्ठ गुण है, वह आज भी रखे हुए हैं।"[1]

इसी तरह दुरूहता के भी अपने प्रकार होते हैं। सभी दुरूहताएँ स्थायी नहीं होती। कोई कृति किसी युग और परिवेश में दुरूह प्रतीत होती है वह भविष्य में अपनी दुरूहता खो बैठती है-"निराला जी की 'राम की शक्ति पूजा' पं. रामनरेश त्रिपाठी को बिलकुल दुरूह प्रतीत हुई थी, किन्तु, अब वह कविता किसी को भी दुरूह नहीं लगती। अपनी भाषा से भिन्न भाषा में कविता पढ़ते समय हमें एक प्रकार की दुरूहता का बोध होता है, किन्तु जब भाषा की दिवार खत्म हो जाती है, कविता का सार हमारे सामने उद्भासित हो उठता है।"[2] "यह भी देखा गया है कि जो रचना सर्वथा मौलिक होती है, वह जनसाधारण को दुरूह प्रतीत होती है। किसी भी सर्वथा मौलिक कृति को, प्रकाशन के साथ ही, तैयार रहती है, जो नवीन होने पर भी परम्परा से अधिक दूर न हों। मौलिक कृतियों को अपना श्रोता आप तैयार करना पड़ता है। और मौलिक कृतियों को ठुकराने की भावना जनसाधारण में ही नहीं होती, कभी-कभी कला के विशेषज्ञ भी

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 137

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 129

इस भावना के शिकार हो जाते हैं।"[1] निराला जी की रचनाओं को अपनी नवीनता के कारण अपेक्षा का शिकार होना पड़ा था। "आन्द्रे जींद जब एक प्रकाशन-गृह के सलाहकार थे, तब उन्होंने प्राउस्ट के एक उपन्यास को छापने से इनकार कर दिया था। ब्लेक की कविताएँ जब ले हंट की समझ में नहीं आईं, तब उन्होंने यह बात कही थी कि "ब्लेक पागल है और वह अगर पागलखाने भेजा नहीं गया है, तो इसका कारण यह है कि उसका पागलपन कुछ मद्धिम किस्म का है।" ब्लेक को वर्ड्सवर्थ भी पागल समझते थे। और इन लोगों की देखा-देखी पं. रामचन्द्र शुक्ल ने भी ब्लेक को नकली रहस्यवादी मान लिया था। किन्तु, अब सभी लोग मानते हैं कि ब्लेक अत्यन्त उच्च कोटि के कवि थे।"[2]

"किन्तु ऐसी भी दुरूहताएँ हैं जो हमेशा कायम रहती हैं। मलार्मे जितने दुरूह अपने जीवनकाल में थे, उतने ही दुरूह आज भी हैं और केवल विदेशियों के लिए ही नहीं,

फ्रांसीसी पाठकों के लिए भी। यही हाल रिल्के का भी है। काल के प्रभाव से इन कवियों की अस्पष्टता में कोई भी कमी नहीं हुई। जिन कवियों की दुरूहता कथ्य की अनिवर्चनीयता के कारण है, वे हमेशा दुरूह रहेंगे। रहस्यवादी कबीर इसी कारण दुरूह हैं। और जो कवि दुरूह इसलिए हैं कि उनकी संदिग्धार्थता का कारण भाषा के प्रयोग में गड़ा है, वे भी हमेशा दुरूह रहेंगे। महादेवी जी, माखनलाल जी और निराला जी की कृतियों में ऐसे कुछ स्थल हैं, जिनकी दुरूहता भाषा के विचित्र प्रयोग के कारण है। ये दुरूहताएँ हमेशा बनी रहने वाली हैं।

कवि की काव्य- सम्बन्धी धारणा जैसे-जैसे बदली है, वैसे ही वैसे काव्य में दुरूहता की वृद्धि होती आई है। साहित्य में जब प्रतीकों का प्रयोग सीमित था, दुरूहता की मात्रा भी अल्प थी। जब प्रतीकों का प्राधान्य हो उठा, दुरूहता घनीभूत हो गई। नई कविता पर दुरूहता का जैसा आक्षेप है, वैसे ही आक्षेप रवीन्द्रनाथ पर उस समय लगाए थे, जब उनकी 'सोनार तरी' नामक कविता प्रकाशित हुई थी। बोदलेयर के समय उनकी कविता बहुत दुरूह समझी जाती

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 129

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 129

थी, किन्तु, रिल्के के पार्श्व में बैठकर देखें तो बोदलेयर बहुत ही प्रसन्न दिखाई देंगे। और खुद रिल्के हमें जितने भी दुरूह दिखलाई दें, किन्तु, सेंट जां पर्सी की तुलना में वे काफ़ी स्पष्ट हैं।"[1]

दूरूहता को दिनकर जी न तो कला पर अधिकार को मानते हैं, न ही उम्र की परिपक्वता में, वे इसे नये कवि की असमर्थता में भी नहीं देखते, उनके अनुसार- "दूरूहता का मूल इससे कुछ अधिक गहराई में है। वह कवि का अभ्यास-जनित दोष नहीं है, उसकी शक्ति के अभाव का गहराई में है। वह कवि का अभ्यास-जनित दोष नहीं है, उसकी शक्ति के अभाव का सूचक नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध उस शैली से है, जिसका जन्म एक नई मनोदशा, एक नए 'विजन', एक नई दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। नई कविता दूरूह मुख्यतः इसलिए है कि नए कवि की दुनिया दुरूह है। वह एक ऐसी उलझी हुई विषण्ण स्थिति का सामना कर रहा है, जिसका वर्णन सफाई के साथ नहीं किया जा सकता। नया कवि जब भी बोलेगा, कहीं-न-कहीं, दुरूहता उसके साथ रहेगी।"[2]

शुद्ध कविता वह आन्दोलन है जो अपने हट के कारण कभी विचलित नहीं हो पाई, इस आन्दोलन ने पहले रोमांसवाद के खिलाफ अपने आपको बुलंद किया और अपने आप को इतना पुख्ता करती गई की प्रतीकवाद, सुरियलिज्म, अभिव्यंजनावाद आदि अनेक आन्दोलनों को पार करने वाली ऐसी आन्दोलन बन गई जो कविता के क्षेत्र में भी संभव है।

जहाँ तक शुद्ध कविता की कमजोरियों का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में दिनकर का विचार है कि नई कविता में परम्परा से हटकर चलने की जो प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है उससे वह जीवन से बिल्कुल कट गइ है। जीवन-विमुखता एवं मूल्यों का अभाव ही इसका दोष है- "नई कविता उस समाज की वाणी है जिसकी परम्पराएँ टूट रही हैं, जिसका विश्वास शंकाओं के समुद्र में खो

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 129-130

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 130

गया है और जिसके सारे, मूल्य डांवाडोल हैं।"[1] "नए कवि काल की महिमा को नहीं मानते। वे अपने को काल-मुक्त समझते हैं।.....कविता में हम जैसा परिवर्तन आज देख रहे हैं, वैसा घनघोर परिवर्तन और कभी देखने में नहीं आया था।"[2]यह ध्यान में रखना ज़रूरी है कि जब शुद्ध कविता उभर कर आ रही थी, तब बहुत सी ऐसी स्थितियाँ पनप चुकीं थीं जिनकी वजह से शुद्ध कविता के कवियों ने अपने सामाजिक दायित्व से नाता तोड़ लिया और नए कविता को बचाए रखने की फिराक में लग गए- "१८५० का आदमी यह समझता था कि दुनिया भगवान की बनाई हुई है और भगवान ने इस संसार की रचना ईसा के जन्म से सिर्फ चार हज़ार साल पहले की थी। यह भी कि आदमी पहले देवता था। देवत्व का भार नहीं सँभाल सकने के कारण वह आदमी हो गया। किन्तु, जब डार्विन की जीवों की उत्पत्ति-विषयक पुस्तक प्रकाशित हुई, भूगर्भशास्त्र का विकास हुआ और ऐतिहासिक अनुसंधानों से मनुष्य के अतीत की जानकारी हासिल हुई, मनुष्य के सभी प्रकार के धार्मिक विश्वास क्षीण होने लगे। उसके बाद जीव-शास्त्र, मनोविज्ञान और आचरणवाद के अनुसंधानों ने और भी क्रान्ति उपस्थित कर दी तथा मनुष्य यह मानने लगा कि मूलतः वह अन्य जीवों से भिन्न नहीं है एवं वह संयम, धर्म, नैतिकता आदि के जो महल खड़े करता है, वे प्रकृति के एक ही झटके से टूटकर खंड-खंड हो जाते हैं। धर्म के भाव मनुष्य को सँभालकर सिंहासन पर आसीन नहीं रख सके। वह लुढ़ककर नीचे आ गया तथा उसका यह अंहकार चूर्ण हो गया कि भगवान न उसे जीवों का सर्ताज बनाया था।"[3] ऐसे में शुद्ध कविता के सर्जकों ने अपनी तरफ से उन सभी प्रतिकूल परिस्थितियों को अपनाना शुरू कर दिया जिसे उन्होंने कविता के अस्तित्व को बचाए रखने के हित में समझा-"उन्नीसवीं सदी के नए कवियों ने कविता के लिए सर्वथा नई भूमि खोज निकालने के लिए जितनी माथापच्ची की, उतनी माथापच्ची किसी और युग के कवि ने नहीं की थी। कविता हमेशा प्रकाश में घूमती

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 131
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 131
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 131

आई थी। नए कवि उसे अपने भीतर अन्धकार में ले गए। मन की उपेक्षा अन्तर्मन की महिमा साहित्य में प्रधान होने लगी और कविगण काव्य के मूल लक्ष्य की खोज में अपनी आत्मा की गहराईयों में डूबने लगे। यहिं से साहित्य में अर्थ की बाधा बढ़ने लगी, क्योंकि ये कवि(नीत्शे, रेम्बू, मलार्मे, लफूर्ज आदि) जिस वस्तु को पकड़ना चाहते थे, वह वस्तु पकड़ में आने से इन्कार करती थी। इन कवियों की कविताएँ पढ़ते समय यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वे जिस वास्तविकता को अभिव्यक्त करना चाहते हैं, वह वास्तविकता भाषा में ठीक से नहीं समाती है, शब्दों और विचारों के बीच ठीक से नहीं अँट पाती है। तब भी वे भाषा को तानते जाते हैं, इतना तानते जाते हैं कि अन्त में वह चरमराकर टूट जाती है। इस नई वास्तविकता को समझने, पकड़ने और अभिव्यक्त करने के प्रयास में इन कवियोंने अपने दिमाग पर इतना अधिक ज़ोर डाला कि उनमें से कई लोग विक्षिप्त हो गए और बाकी कवियों का जीवन रोग और अभाव से ग्रस्त हो गया।"[1]

"इन कवियों की दृष्टि में कविता वाणी की वह विधा है, जो भाषा की असमर्थता को सबसे अधिक पहचानती है। जो अलभ्य है, अनिवर्चनीय और पूर्ण अथच 'एब्सोल्यूट' है, कविता उसी को अभिव्यक्त करना चाहती है। कवि वह अभागा प्राणी है, जो विचार और शब्द के बीच भटकता रहता है। वह जो कुछ कह पाता है, वह उसका अभिप्रेत काव्य नहीं, बल्कि उसके निकटतम पहुँचने का प्रयास है। अचेतन तथा अर्धचेतन की परिभाषा शब्दों में बाँधी नहीं जा सकती। वे शब्दों की उन झंकारों से अधिक अभिव्यक्ति पाते हैं, जो अनिश्चित और निराकार हैं।

इन सारी मान्यताओं का प्रभाव यह हुआ कि पहले जो प्रेरणा महाकाव्यों और नाटकों को जन्म देती थी, अब वह दिमागी और साइकिक बनके घुमड़ने लगी। पाठकों की ओर से जब यह पूछा गया कि आखिर इन कविताओं को हम किस प्रकार समझें, तब कवियों और आलोचकों ने यह उत्तर दिया की कविता अर्थ किए बिना भी समझी जा सकती है।"[2] "जब कवियों ने अपना

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 131

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 133

अभियान एब्सोल्यूट की ओर मोड़ा, काव्यगत संगीत का भी रूप परिवर्तित हो गया। काव्य में संगीत का अर्थ यह था कि छन्द गेय हों, पंक्तियों और पंक्ति-खंडों में लय हो और शब्द संगीत की कड़ी के समान हों।"[1] जिसका प्रतिफलन यह हुआ कि यह धारणा बन गई कि "संगीत का गुण अगेय छन्दों में भी होता है, छन्द-मुक्ति पंक्तियों में भी होती है, विचारों के सामंजस्य और बिम्बों की योजना में भी संगीत है और यही निराकार संगीत काव्य के लिए वरेण्य है।"[2]

"पुरानी कविता आशवस्त समझ की वाणी थी, जिसके मूल्य स्थिर थे, परम्पराएँ दृढ़ थीं, जिसकी शंकाएँ थोड़ी थीं और विश्वास काफी मजबूत था। नई कविता उस समाज की जणी है, जिसकी परम्पराएँ टूठ रही हैं, जिसका विश्वास शंकाओं के समुद्र में खो गया है और जिसके सारे के सारे मूल्य डावाँडोल हैं। पुरानी कविता युद्ध को स्वर्ग का द्वार मानती थी, नई कविता इस बात पर अचरज करती है कि पुराने लोग इतने सीधे क्यों थे। पुरानी कविता देशभक्तों को त्याग और तपस्या का अवतार समझती थी, नई कविता इस पर भी आश्चर्य करती है कि पुराने कवियों ने देशभक्तो के भीतर कुछ और देखने की कोशिश क्यों नहीं की थी। पुरानी कविता ने जजों को जजों के ही रूप में देखा था, नई कविता ने उन्हें भी कठघरों में खड़ा देखा है। पुरानी कविता मन्दिर के देवताओं की पूजा करती थी, नई कविता ने पत्थर की मूर्तियों को चोरबाजारी करते देखा है। 'आफ्टर सच नालेज व्हाट फारगिवनेस?' इस जानकारी के बाद क्षमा की महीमा क्या है?

नई कविता मोह-भंग की कविता है, विफलता-बोध की कविता है, निराशा की कविता है, पूर्वजों की सिधाई पर पश्चात्ताप की कविता है। पुराने कवि मानवता को संवाद पहुँचाते थे कि बाग में फूल खिले हैं और आसमान आज बिलकुल साफ है। नए कवि की दृष्टि उस विपत्ति पर है, जो फूलों से भरे हुए इस सुरम्य भूतल पर मँडरा रही है। "मैं अन्धकार का कवि हूँ। शान्ति से बोलना बेहूदापन है। जो आदमी हँसता है, उसने दुःसंवाद शायद नहीं सुना है।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 13

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 133

कुछ मूल्य थे, जो पुराने कवियों को अटल मालूम होते थे। नया कवि यह जानकर क्रोधित और निराश है कि रुपये और ताकत के सिवा समाज में और किसी भी जीच की हस्ती नहीं है।.....ऐतिहासिक कारणों से नई कविता की जो शैली तैयार हो गई, उसमें प्रसाद के लिए बहुत अधिक गुंजाइश नहीं है। यह शैली अपरिचित रूपकों में बोलती है, एक बिम्ब से दूसरे बिम्ब तक टहलकर नहीं, छलाँग मारकर जाती है। जिन कवियों की विवक्षा पाठक मन में विद्यमान है, उन कड़ियों को भी यह शैली छोड़ देती है। पूरा हस्ताक्षर लिखना नई शैली की रुचि के विरुद्ध है। वह नाम के एक-दो अक्षरों से ही दस्तखत करने की अभ्यासी बन गई है। और इन सभी कारणों से दुरूहता में वृद्धि होती है।"[1]

"दुरूहता का एक कारण यह भी है कि भाषा के सभी शब्द पूर्व कवियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण परम्परा की गंध से भर गए हैं। नया कवि परम्परा से बचने की कोशिश में शब्दों को इस अदा से बिठाता है कि परम्परा से बाँधनेवाले उनके तार टूट जाते हैं, अर्थ शब्दों से विदा ले लेते हैं और कविता उस महल के समान दिखाई देने लगती है जो बिना खंभों के खड़ा हो।

नई कविता अर्जन नहीं, विसर्जन की कविता है। पहले उसने छन्द का त्याग किया, फिर उसने युगों से आती हुई इस परम्परा को तोड़ दिया कि कुछ विषय काव्य के लिए उपयोगी और कुछ अनुपयोगी होते हैं। नई कविता कहानी नहीं कहती, यह काम उसने उपन्यासों के लिए छोड़ दिया है। नई कविता भावों का भी वर्णन नहीं करती, यह काम उसने कहानियों के लिए छोड़ दिया है। उपदेश प्रचार संदेश-वहन, वर्णन और विचार से अलग वह केवल अनुभूतियों को पहचानने की कोशिश करती है, वास्तविकता के एक ऐसे रूप की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है, जो हमारी आँखों के समक्ष नहीं था।"[2]

सिद्धान्ततः नई कविता पहले की अपेक्षा अधिक ईमानदारी की कविता है और पूरी तरह ईमानदारी बरतने की कोशिश में भी वह दूरूह हो जाती है। दुनिया अब जहाँ पहुँच गई है, वहाँ

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 135-136

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 136

जीवन के बारे में कोई भी बात दो टूक ढंग से नहीं कही जा सकती। एक बात कहते समय उसके विरोधी पक्ष पर ध्यान चला जाता है और अनेकान्तवादी होने के सिवा कवि के सामने दूसरी राह नहीं रह जाती। अनुभूतियों के मूल तक जाते-जाते अन्तर्मन की वे अनेक गुत्थियाँ झिलमिलाने लगती हैं, जो किसी भी ज्ञान को गरजकर बोलने देना नहीं चाहतीं। आवेगों के वश में बोलने वाला कवि किसी भी सत्य या ज्ञान की घोषणा काफी सबलता के साथ कर सकता है। किन्तु, जिसके आवेग बुद्धि से दबे हुए हैं, जो व्यक्ति बहुत गहराई में जाकर सत्य का संधान करता है, वह कोई भी बात ज़ोर से नहीं बोल सकता। अनेकान्तवाद की भाषा अहिंसक होती है। स्याद्वाद की भाषा धुँधली और कमज़ोर होती है। किन्तु वही भाषा सत्य के सबसे अधिक समीप पहुँचती है।"[1]

कहा जा सकता है कि दिनकर बहुत सारी बातों को हमारे सामने पेश करते हैं, परन्तु कहीं-न-कहीं एक बेचैनी साफ नजर आती है जो शुद्ध कविता की हिमायती नहीं, दिनकर हमेशा से यह मानते आये और तमाम बदलाव के बावजूद, उन बदलावों के स्पष्टीकरण के बावजूद उन्होंने जीवन को महत्ता दी और उसे ही अन्य तमाम विषयों से सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। मनुष्य सामाजिक प्राणी होता है। जब उसमें जीवन का भाव होता है, तो वह आशावादी होता है। अनैतिकता और जीवन की उपेक्षा श्रेष्ठ कवि को भी श्रेष्ठ नहीं बना सकती। इसके विपरित दिनकर के अनुसार आज भी श्रेष्ठ कवि वे हैं जिनमें गहराई, स्पष्टता और लाघव है और इसके साथ ही जिनकी रचना प्रकाशयुक्त है। उदाहरण के रूप में उन्होंने इलियट और पास्तरनेक को प्रस्तुत किया है।

शुद्धतावादी काव्य के प्रवर्तक मलार्मे, रेम्बू, बोदलेयर, नीत्से, पो आदि में अन्तर्दृष्टि थी। उन्होंने कल की ऊँचाई पार करने की चेष्टा थी, पर उनका जीवन असामान्य था। अतः समाज ने उन्हें स्वीकृति नहीं दी और उनकी राह पर चलने वाले इस आन्दोलन के सामने भी निःसंगता और अकेलेपन की छटपटाहट और बेचैनी है। इससे मुक्त होने की राह उन्हें नहीं मिली।

---

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 137

निष्कर्ष यह कि दिनकर शुद्ध कविता को सर्वश्रेष्ठ कविता नहीं मानते- "शुद्ध कवित्ववादी अब धीरे-धीरे उस स्थापना पर पहुँच गये हैं, जहाँ कविता उस महल के समान अकाश में ठहरना चाहती है, जिसमें न तो कोई खंभा है , न दीवार।"[1]

1.6.2. दिनकर का काव्य और शुद्ध कविता :

दिनकर उपलब्धि के किसी पड़ाव पर आकर नहीं रुकते, वरन् निरंतर गतिशील रहकर साहित्य के नये आन्दोलन, नूतन प्रवृत्तियों को भी अपने काव्य में वाणी देते रहते हैं। यद्यपि वे साहित्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं, पर पाश्चात्य साहित्य और विचारों से प्रभावित वे अपने काव्य में शुद्ध काव्य के प्रभावों को ग्रहण भी करते हैं। यों तो उनमें परिवर्तन के लक्षण 'नील कुसुम' में ही दिख पड़ने लगे थे, पर 'कोयला और कवित्व' तथा 'हारे को हरिनाम' में इस तरह की प्रवृत्तियाँ विशेष लक्षित होती हैं, यहाँ तक कि 'उर्वशी' में भी बिम्ब और प्रतीक योजना में शुद्ध कवित्व का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। 'आत्मा की आँखें', 'सीपी और शंख' यद्यपि अनूदित रचनाएँ हैं, पर उसमें भी उनकी शैली के बदलाव का आभास होता है।

शुद्ध कविता में वैयक्तिकता है और निरुद्देश्य आनन्द की प्रमुखता है। उसमें शैली की चुस्ती है जहाँ शब्दों का उपयोग आवश्यकता भर ही हो। उसमें उपदेशात्मकता का अभाव है। छोटे-छोटे भावों के कारण वह मुक्तक है। उसकी शैली में गद्यात्मकता, चित्रात्मकता और प्रतीकात्मकता को महत्व दिया गया है। इन सारी विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में दिनकर के उन परवर्ती काव्यों को देखा जा सकता है, जहाँ वे नई कविता अथवा शुद्ध कविता के दर्शन से प्रभावित हैं।

उनके सोचने की दिशा में भी परिवर्तन परिलक्षित होने लगा, और उनके छंदों में भी सूक्ष्म परिवर्तन की प्रक्रिया सजग हो उठी। परवर्ती काव्य में आवेग, भावना और सामाजिक चेतना का

---

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 46

कवि अन्तर्मुखी होने लगा और उनके आवेगों पर बुद्धि ने लगाम लगा दी। यहीं चिंतनशीलता के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे जो शुद्ध काव्य की विशेषता है। इसके बाद 'कोयला और कवित्व'(1964) में प्रकाशित हुई जिसमें वे डी.एच.लारेंस से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। इस संग्रह पर सरसरी नजर दौड़ाने पर साफ स्पष्ट हो जाता है कि उनके पूर्ववर्ती काव्य से यह संग्रह बहुत दूर खड़ी है। यह अन्तर, चिन्तन, भावबोध और शिल्प के स्तर पर है। यहाँ उन्होंने कविता के सम्बन्ध में अपनी बदलती हुई मान्यताओं को एजरा पौंड की कविता 'नो, हिज फर्स्ट वर्क वाज दे बेस्ट' के अनुवाद 'पुरानी और नई कविताएँ' की कुछ पंक्तियों द्वारा किया है-

"कविता न गर्जन, न सूक्ति है।
वीर का न तो घोष, न तो वाणी स्वर चिन्तकों की,
चौंके हुए आदमी की उक्ति है।
कविता न पूर्ति है, न माँग है।
सीढ़ियाँ नहीं हैं कि हक्के पाँव सीधा पड़े,
'लाजिक' नहीं है, ये छलाँग है।
अर्थ नहीं, काव्य शब्द-योग है।
वासना का कीर्तन नहीं है, खुद वासना है,
रागों का ये कागजी बखान नहीं,भोग है।"[1]

कविता मन के अज्ञात लोक की वाणी है। यह अगोचर को छूने का प्रयास और सूक्ष्म का कथन है। इसका संकेत भी इन पंक्तियों में मिलता है-

"निश्चित अनिश्चित का संगम जहाँ है सूक्ष्म
कविता का सद्म निरवलम्ब खड़ा होता है।"[1]

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 268

'बादलों की फटन', 'आज शाम को' जैसी कविताओं में उनके निरुद्देश्य आनंद की साधना तथा फैन्टेसी का परिचय मिलता है। उनमें अकेलेपन का दर्द भी है। विज्ञान की उपयोगिता, रहस्यवादिता तथा आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति इन संग्रहों में हुई है। 'हारे को हरिनाम' तो उनकी पूर्ण वैयक्तिक रचना लगती है जिसमें उनकी वैयक्तिक पीड़ा की अनुभूति अभिव्यक्त हुई है।

इन रचनाओं मे प्रतीक, बिम्ब तथा चित्रात्मकता भी पर्याप्त मात्रा में है। 'उर्वशी'काव्य में भी प्रतीक, विम्ब और चित्र आधुनिक आन्दोलनों से प्रभावित दीख पड़ते हैं।

सच तो यह है कि 'कोयला और कवित्व' से दिनकर की काव्य-दिशा बहुत बदलने लगती है, इसकी मूल संवेदना के सम्बन्ध में गोविन्द-रजनीश ने लिखा है- "'कोयला ओर कवित्व' की कविताओं में थकान, निराशा, अवसाद, घुटन, क्लान्ति, रिक्तता और अकेलेपन की अनुभूतियाँ हैं। इस संग्रह का मूल स्वर इन्हीं तत्वों से प्रभावित हैं।"[2]

वस्तुतः 'कोयला और कवित्व' दिनकर के कवि व्यक्तित्व के बदलते हुए आयामों का दर्शन कराती है। यह उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं से भिन्न है तथा "हारे को हरिनाम के निकट है।

ये रचनाएँ शैली की दृष्टि से संक्षिप्त हैं तथा गद्य के निकट हैं। इनकी भाषा भी जीवन के निकट है। छंदों और अलंकारों के प्रति कवि को पहले जैसा मोह नहीं है।

इसी तरह यह कहा जा सकता है कि उनकी कुछ स्वातंत्र्योतर रचनाओं में शुद्ध कवित्व की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 68

2 समीक्षा(दिनकर विशेषांक), पृ. 122, पटना

1.7. अभिव्यंजनावाद (बिम्बवाद या चित्रवाद) : सामान्य परिचय

"अभिव्यंजनावाद अभिव्यक्तियों की खूबियों का आन्दोलन है। अभिव्यक्ति की खूबियों का ध्यान सभी युगों के श्रेष्ठ कवियों को रहा था। किन्तु, पहले के कवि उक्ति और चित्रण की सुन्दरता को साध्य नहीं साधन मानते थे। उनका लक्ष्य उक्ति और चित्रण का प्रयोग कथ्य को प्रभावशाली बनाने को करना था। किन्तु, अभिव्यंजनावादी आन्दोलन ने कथ्य की महीमा को तिरस्कृत कर दिया। वह ज़ोर इस बात पर देने लगा कि कविता कथ्य के प्रचार का माध्यम नहीं है। कवि का काम सिर्फ यह है कि वह जो भी बात कहे, स्वच्छता से कहे, सुस्पष्टता के साथ कहे, कम-से-कम शब्दों में कहे तथा अपनी अनुभूतियों को चित्रों और बिम्बों में परिवर्तित करके कहे। चित्र बनाते समय चित्रकार की जो मनोदशा होती है, कविता रचते समय कवि की भी मनोदशा वैसी ही होनी चाहिए। कलाकार-धर्म कवि का सबसे बड़ा धर्म है और अभिव्यक्ति की चुस्ती और सफाई को छोड़कर उसे और किसी बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।"[1]

अभिव्यंजनावाद साहित्य का एक प्रमुख आन्दोलन है जिसका जन्म जर्मनी में 1912 ई. के आसपास माना जाता है। यही आन्दोलन चित्रवाद के नाम से 1913 ई. में ई में आया। इसके जन्मदाता क्रोंचे माने जाते हैं तथा इसकी जड़ में प्रतीकवाद का भी बड़ा हाथ है। इन दोनों की सभी प्रवृत्तियाँ समान हैं- "अभिव्यंजनावाद और चित्रवाद, ये एक ही प्रवृत्ति से उत्पन्न दो आन्दोलन थे। अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तन सन् 1912 ई. के आसपास जर्मनी में हुआ और चित्रवादी आन्दोलन उसके एक साल बाद इंगलैंड में उत्पन्न हुआ। ये दोनों आन्दोलन कला के आन्दोलन थे, जिसका अर्थ यह है कि उनका लक्ष्य विषय नहीं था, शैली थी, उक्ति की भंगिमा और चित्रण की सफाई थी। इन दोनों आन्दोलनों पर विज्ञान का प्रभाव था। वे भाव और भाषा में आवेशमयता के विरुद्ध थे और अनुभूतियों का चित्रण वैज्ञानिक सुनिश्चितता से करना चाहते थे।"

---

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 111-112

अभिव्यंजनावादियों ने अभिव्यक्ति पक्ष को सबसे अधिक महत्व दिया और कारीगरी और कला की खूबी पर ज़ोर डाला। कला के अन्य आन्दोलनों की भाँति ही इसमें भी जीवन, समाज, वातावरण, नीति की सर्वथा अपेक्षा की गई। इन्होंने कल्पना पक्ष को प्रबल माना और स्वप्नों को ही साहित्य का आधार माना। इस सिद्धान्त के अनुसार कलाकार की अन्तर्दृष्टि ही सबसे बड़ी चीज़ है, वही सौन्दर्य है जिसको सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करना कलाकार का धर्म है। इसमें कथ्य और विचार को कोई महत्व नहीं मिला। मात्र चित्रण की सफाई, कथन की भंगिमा, और अनुभूतियों के चित्रण में वैज्ञानिक सुस्पष्टता एवं संक्षिप्तता पर ज़ोर डाला गया। अभिव्यक्ति की पूर्णता को ही इन्होंने कलाकार की सबसे बड़ी सफलता मानी है- "अभिव्यंजनावादी कवि स्वप्नद्रष्टा और कल्पनाशील थे। भाषा उन्होंने बोलचाल की चुनी थी और शब्द वे बहुत थोड़े रखते थे। अभिव्यंजनावाद में शब्दों की मितव्ययिता का महत्त्व इतना अधिक हो गया था कि एक आलोचक ने लिखा है कि 'मिस्टर इलियट शब्द को इस तरह से तोलते हैं, मानो, वे आगामी पीढ़ी को केबिलग्राम भेज रहे हों।' अभिव्यंजनावादी कवि कविता की पंक्तियों को बिम्बों में सजाते थे और उनके बिम्ब काफी केन्द्रित, सुदृढ़ और तेज होते थे। इन कविताओं में उनकी जो मनोदशा व्यक्त होती थी, वह एक नए प्रकार के आनन्द की मनोदशा थी। वह जीवन के प्रति क्रांति का मनोभाव था।"[1] "अभिव्यंजनावादी कवि कभी-कभी भारी-भरकम शब्दों का भी प्रयोग कर डालते थे। उनका विम्बों का आकलन मनमाने ढंग पर होता था, जिससे उनके चित्र कभी-कभी अवास्तविक हो जाते थे।"[2] इस वाद के कवियों का सदैव यह मानना रहा कि शब्दों की मितव्ययिता हो, विशेषण तभी इस्तेमाल किये जाये जब वह वस्तु के भीतर के गुण-विशेष को प्रकट करता हो, अरूपता के फेर में न पडें, जो अभिव्यक्ति गद्य में उत्कृष्ट हो सकती है उसे पद्य में उकेरने का निरर्थक प्रयास न किया जाए तथा अन्य जैसे अलंकार, वैचारिकता, तुकें, मुक्त छंद और संगीत का प्रयोग तभी किया जाए जब वे उच्च कोटि का हों। इन कवियों का

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 114

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 114

विश्वास था कि कोई भी अनुभूति टिकाऊ न होकर क्षणस्थायी होती है, अतः कविता को भी अत्यन्त संक्षिप्त और छोटी हो सकती है।

1.7.1. दिनकर की अभिव्यंजनावाद (विम्बवाद या चित्रवाद) संबंधी धारणा :

दिनकर के अनुसार कविता में शुद्धता लाने का प्रयास अभिव्यंजनावाद से ही हुआ। रोमांसवाद में आवेश के भाव की प्रबलता थी पर अभिव्यंजनावाद पर विज्ञान का प्रभाव था। अतः इसमें आवेश को नहीं, वरन् अनुभूति को प्रबल स्थान मिला।इससे ऐसा लगता है कि कविता में शुद्धता लाने का प्रयास अभिव्यंजनावाद से ही आरंभ हुआ। इस काव्यधारा में अनेक कवि हुए जिनमें अन्तर्दृष्टि और दूर तक धँसने की क्षमता थी। ये विशिष्ट व्यक्ति थे, किन्तु समाज और नैतिकता की उपेक्षा और बंधनहीनता के कारण इनका काव्य जनसामान्य के द्वारा समादृत नहीं हुआ। रेम्बु, मलार्मे, होल्डरलीन, एजरापौंड और हूल्म-सभी असामान्य विकृतियों के शिकार हुए।

दिनकर का कहना है कि- "प्रेरणा की गर्मी और अनुभूति की बेचैनी कवि को उन्मत्त बना देती है, यह शिक्षा हम संसार के सभी महाकवियों के जीवन से निकाल सकते हैं, यद्यपि यह भी सत्य है कि प्रत्येक महाकवि, अभिव्यक्ति के लिए शब्द खोजते समय, एक हद तक, धीरज और शान्ति से काम लेते थे। किन्तु, कविता को नए आन्दोलन का ज़ोर आवेश के विरुद्ध पड़ने लगा। उसका सारा ज़ोर कारीगरी पर पड़ने लगा, पच्चीकारी पर पड़ने लगा। परम्परा से कवि कारीगर और विचारक साथ-साथ होते आए थे। किन्तु, नए काव्य में कारीगरी का महत्त्व इतना बढ़ गया कि कविगण विचारों की छाया से बचने का मार्ग ढूँढ़ने लगे। कवियों को चित्रकारी का लोभ बहुत अधिक होने लगा और वे यह बात भूलने लगे कि कवि और चित्रकार हमेशा एक नहीं रह सकते। कलम और कूँची, दोनों चित्र गढ़ सकते हैं, किन्तु, दोनों की शक्ति एक ही नहीं है। उदाहरणार्थ चिन्तन लेखनी का स्वाभाविक धर्म है। कूँची चिन्तन से भले ही मुक्त हो जाए, लेखनी उससे पूरा छुटकारा नहीं पा सकती। किन्तु, नया आन्दोलन विचारों से संपूर्ण मुक्ति को

अपना ध्येय बना रहा था। कविता में कथ्य का कोई महत्त्व नहीं है। जो भी महत्त्व है, शैली का है।"[1]

कविता के इस आन्दोलन से यह आशा थी कि यह किसी नये युग में प्रवेश करेगी जो अत्यन्त आकर्षक होगा, "लेकिन, श्रद्धा, विश्वास, और किसी सुदृढ़ दृष्टि-बोध के अभाव में कविगण सतही होने लगे।"[2] इन कवियों ने बौद्धिकता, नैतिकता और कलात्मक मूल्यों की उपेक्षा की। उन्होंने चित्रों को तो उकेरा, पर स्व के लिए, आम पाठक से वे कोसो दूर थे। "अतएव, पच्चीकारी का काम तो वे कर गुजरे, किन्तु, कविता का मानसिक पक्ष उनका दुर्बल का दुर्बल रह गया। वे विचार नहीं चाहते थे, केवल चीज़ चाहते थे और चीज़ ही उन्हें प्राप्त हुई।"[3]

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 119-120
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 121
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 122

अध्याय-दो

दिनाकर : काव्य विषयक चिन्तन

2.1. काव्य-विषयक सामान्य अवधारणा :

प्रत्येक युग, प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषा के साहित्यकारों ने अपने अपने अनुभवों, विचारों और मान्यताओं के अनुसार काव्य को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। इन साहित्यकारों में जहाँ कभी-कभी साम्य दिखाई पड़ता है, तो वहीं दूसरी ओर अनेक साहित्यकारों ने इस विषय पर नए ढंग से सोचने-विचारने की चेष्टा दिखाई पड़ती है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप, कारण एवं प्रयोजन आदि पर विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन की लंबी परम्परा हमें उपलब्ध है। यह परम्परा भरतमुनि से आरंभ होकर विभिन्न समुदायों से होती हुई आधुनिक युग तक पहुँची है। प्रसाद, निराला, महादेवी, पंत, अज्ञेय, मुक्तिबोध आदि दिनकर के पूर्ववर्ती एवं समकालीन अनेक कवि इसके उदाहरण हैं।

आधुनिक युग का वैशिष्ट्य यह कि इसमें कवियों ने भी काव्यशास्त्रीय विषयों पर पर्याप्त विस्तार से विचार किया है। दिनकर महान साहित्यकार होने के साथ-साथ उल्लेख्य चिन्तक के रूप में भी समादृत हैं। वे हिन्दी के उस श्रेणी के कवियों में एक हैं जिन्होंने काव्य के स्वरूप, कारण एवं प्रयोजन आदि विषयों पर गंभीरता से विचार किया है। उनका काव्यशास्त्रीय चिन्तन एक ओर तो काव्य के उनके सृजनात्मक अनुभवों पर आधारित है और दूसरी ओर इस विषय के पूर्ववर्ती एवं समसामयिक चिन्तन की भूमिका पर। उनका सृजनात्मक अनुभव एवं पूर्ववर्ती तथा समसामयिक चिन्तन- ये दोनों पक्ष इस रूप से परस्पर संपृक्त हैं कि उन्हें पृथक करके देखने में कठिनाई हो सकती है। कारण यह है कि वे अपने सृजनात्मक अनुभवों के आधार पर काव्य-संबंधी चिन्तन का मूल्याँकन संशोधन प्रस्तुत करतें हैं। वस्तुतः यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि काव्य-चिन्तन में उनके अपने रचनात्मक अनुभवों का बुनियादी महत्त्व है।

पूर्व परम्परा में काव्य की परिभाषाओं से संबंधित सामग्री के विषय में असंतोष व्यक्त करते हुए भी दिनकर ने कहा है कि- "सैंकड़ों-हज़ारों परिभाषाओं के होते हुए भी मनुष्य के इस जिज्ञासा का शाब्दिक समाधान नहीं हो पाया कि काव्य है क्या? सात्विक समाधान

शायद उसी दिन हो चुका था, जब मनुष्य ने काव्य कि विचित्रता तथा उसकी अनिवर्चनीय शक्ति से मुग्ध होकर उसके विश्लेषण का श्री गणेश किया था।"[1] दिनकर के अनुसार- "विश्व की सुन्दर-से-सुन्दर कविता भी अनावृत रूप में शब्दों में नहीं उतर सकीं जिसमें वह प्रथम-प्रथम कवि के स्वप्न में खिली थी।"[2]

कविता को वे एक अस्पष्ट स्वप्न मानतें हैं- "कविता एक अस्पष्ट स्वप्न है जो साकार होते-होते अपनी आदि छवि की झलक खो बैठती है।"[3] दिनकर ऐसे में मानते हैं कि कविता के जन्म की स्थिति अर्द्ध विक्षिप्तता की स्थिति में होती है। वे यह भी मानतें हैं कि कविता के उद्‌गम स्थल तक जाने का मार्ग मन के अस्पष्ट मनोलोक से उसके सम्बन्ध होने के कारण ही संभवतः वे काव्य को एक अस्पष्ट स्वप्न कहतें हैं और काव्य-निर्माण को जटिल प्रक्रिया।

कभी-कभी काव्य-विषय को अथवा हृदय के उमड़ते भावों को ठीक-ठीक अभिव्यक्ति देने में कवि असमर्थ होता है, कभी उसे अनुकूल भाषा नहीं मिलती, क्योंकि भावजगत की जो वस्तु बाहर आने को मचलती रहती है, उसके अनुकूल भाषा संभवतः उत्पन्न या विकसित नहीं है, दिनकर के अनुसार- "कवि के हृदय में कविता की जो कसक और वेदना प्रथम-प्रथम उठती है, उसकी हू-ब-हू तस्वीर खींची नहीं जा सकती। परिस्थिति का बन्धन, अभिव्यक्ति की अपूर्णता, भाषा की निर्बलता, स्वप्न की विशालता आदि बाधाएँ कुछ कम नहीं हैं.....।"[4] इस प्रसंग से दिनकर का यह कथन भी विचारणीय प्रतीत होता है कि कविता मानव मन के उद्‌गम स्थल की वाणी है। उन्नीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान ने मानव के अन्तर्जगत को भेदने की चेष्टा कि है, पर आज भी वह बहुत अंशों में दुर्भेद्य ही है। कविता का जन्म मनुष्य के इसी अभेद्य लोक में होता है- "मनुष्य के मन के उद्‌गम पर कहीं कुछ है, जिसका सम्यक

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 92
2 मिट्टी की ओर, पृ. 92
3 मिट्टी की ओर, पृ. 92
4 मिट्टी की ओर,

ज्ञान हमें नहीं है, कविता उसी उद्‌गम की वाणी है। संभव है कि वह हमारे मन का अचेतन या उपचेतन भाग हो, संभव है कि वह मनुष्य जाति का संचित मनोवैज्ञानिक संस्कार हो, अथवा यह भी संभव है कि वह हमारा जन्म-जन्मांतर का अर्जित संस्कार हो।"[1] कविता का जन्म अर्द्ध विक्षिप्तता की हालत में होता है। यही कारण है कि- "कविता का असल तत्त्व ही ऐसा है जो तर्क कि भाँति बुद्धि के सामने स्पष्ट नहीं हो सकता, जिसे वाणी विज्ञान की सफाई के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती।"[2] "कविता तो कवि की आत्मा का आलोक है, उसके हृदय का रस है जो बाहर की वस्तु का अवलम्ब लेकर फूट पड़ती है।"

कविता को आनन्द की अस्पष्ट अनुभूति कहनेवालों के पक्ष में उनका कथन है कवि द्रष्टा होकर सत्य की ही अभिव्यक्ति करता है। ज़ाहिर सी बात है कि वे स्वप्न या दर्शन(विज़न) पक्ष पर बल देते हैं। कविता के इस विज़न या स्वप्न के क्षेत्र की व्यापकता पर भीं उन्होंने विचार किया है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि काव्य क्षेत्र के अन्तर्जगत वे बाह्य और आन्तरिक, दोनों जगत को ले लेतें हैं। उनका कथन है - "जब कवि के जीवन में कविता की ऋतु आती है तब वह अन्तरतम में एक बैचेनी का अनुभव करने लगता है। उस समय यह तो पता चलता है कि दिल का यह दर्द कुछ कहना चाहता है इसका ज्ञान उसे तब तक नहीं हो पाता जब तक किसी वस्तु या विषय-विशेष का अवलंबन लेकर वह कहना शुरु नहीं कर दे ! कविता भाव-समूह का आंदोलन है। कविता की आत्मा जब उभार पर आती है, जब काव्यात्मक भावों का सतरंग समुद्र लहर उठता है, तब उसके रंग से पर्वत और मरू भी; पर्वत और मरू न तो स्वयं काव्य हैं, न काव्य को जगाने वाले उपकरण।"[3] प्रकृति विविध रूपिणी, विराट और निस्सीम है। प्रकृति के स्थूल से स्थूल, सूक्ष्म से सूक्ष्म, विराट से विराट और लघु से लघुतम अंश भी काव्य दायरे में आ जाते हैं, इसका कारण वे

---

1 साहित्यमुखी, पृ.
2 मिट्टी की ओर, पृ. 92
3 मिट्टी की ओर, पृ. 93

मानते हैं कि - ''साहित्य का विराट आकार किसी भी सीमा में बंध नहीं सकता। काव्य क्या है और क्या नहीं है, इस पर मति स्थिर करके समालोचना करने से किसी भी कवि के साथ न्याय नहीं कर सकते। काव्य क्या है, इस प्रश्न पर आप अगर नपा-तुला सिद्धांत बनाने चलेंगे तो आपके सामने इससे भी विशाल प्रश्न उठेगा कि प्रकृति के अंदर क्या है जो काव्य नहीं है।''[1]

इसी प्रकार दिनकर कविता में व्यक्त होने वाले भावों की व्यापकता और क्षेत्र का प्रश्न उठाते हैं। वे यह कहते हैं कि प्रीति, विरह, घृणा, आश्चर्य, उत्साह आदि न जाने कितने भाव मानव मन के भीतर अदृश्य और अव्यक्त पड़े रहते हैं कवि का वैशिष्टय यह है कि उसमें भावों की पूरी परिधि का प्रकाशन करने की क्षमता विद्यमान रहती है। वह गौण और महत्त्वपूर्ण, नित्य और अनित्य सभी प्रकार के भावों को शब्दबद्ध करता है और साहित्य रचता है, माने यह कि- ''साहित्य मनुष्य की व्यापक और नित्य और अनित्य सभी प्रकार के भावों का गुंफन है।''[2]

सामान्यतः लोग कविता का संकीर्ण अर्थ लेते हैं, उसे मनोरंजन तक सीमित मानते हैं। दिनकर इस बात का खण्डन करते प्रतीत होते हैं। इस प्रसंग में ही वे कहते हैं कि कविता मात्र शब्दों की क्रीडा नहीं है। काव्य का महत्त्व उसके अर्थ गौरव को लेकर है-''.....कविता इन साधारण वर्णनों से कहीं दूर की वस्तु है और अगर उसके अर्थ गौरव से मनुष्य का हृदय आन्दोलित नहीं होता है तो सुन्दर शब्द योजनाएँ निस्सार एवं हेय हैं।''[3] वहीं दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि- ''काव्य-रचना के सिलसिले में कवि-मानस को सबसे बड़ी द्विधापूर्ण स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब वह अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल तथा शक्तिशाली शब्दों को चुनने की चिन्ता करता है और इसी कार्य की सफलता से उस

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 93

2 रसवन्ती की भूमिका, पृ. 3

3 मिट्टी की ओर, पृ. 34

महान आश्चर्य का जन्म होता है जिसके सामने आलोचना पराजित हो जाती है। जो लोग कविता को उन्माद की अवस्था में किया गया पागल का प्रलाप समझते हैं वे गलती करते हैं। कविता ऐसी आसान चीज़ नहीं है। जगी हुई हल्की भावुकता चाहे झटपट कुछ गा ले, परंतु गंभीर काव्य का दर्शन समाधियों के बाद होता है। इसके अपवाद वे भी नहीं हो सकते जो कवियों में सम्राट माने जाते हैं। प्रतिभा की वह परिभाषा बिल्कुल ठीक है जिसमें उसे एक प्रतिशत प्रेरणा तथा निन्यान्वे प्रतिशत परिश्रम का योग कहा गया है। शब्द चयन ही कविता की वास्तविक कला है और इसके बिना कविता में कलात्मकता आ ही नहीं सकती।"[1] स्पष्टतः दिनकर शब्दों के गंभीर चयन को एक सफल कविता की पहचान बताते हैं न के शब्दों की भरमार को।

दिनकर जहाँ पर काव्य की सृष्टि के लिए बाह्य आलंबन को महत्त्व देते हैं, वहीं पर इस बात की भी पुष्टि करते हैं कि कविता कवि आत्मा का आलोक होता है, आंतरिक होता है। उनके अनुसार-"कवि के अंतर मे जब तक रस का स्रोत बह रहा है, जब तक हृदय की कोंपल जीवन अथवा प्रकृति से रस ग्रहण करने की ओर चैतन्य है तब तक बहानामात्र से उसकी प्रतिभा चमत्कार दिखलाती रहेगी। किंतु जिस दिन कवि की भावना अंधी हो जाएगी उस दिन हिमालय से लेकर थार तक सागर से लेकर पुष्प तक उसकी प्रेरणा को कोई भी जगा नहीं सकेगा।"[2] अभिप्रायः यह कि कविता कवि-व्यक्तित्व का प्रकाशन है तो प्रकारांतर से इसी बात की भूमिका होती है। कवि-व्यक्तित्व के साथ कला के घनिष्ट रूप से संबद्ध होने पर बल देते हुए वे कहते हैं कि काव्य को किसी बाह्य बस्तु के रूप में नहीं वरन् कवि की आत्माभिव्यक्ति के रूप में देखना चाहिए - "साहित्य को हम जीवन की व्याख्या मानते आये हैं। किंतु जीवन और इसकी व्याख्या के बीच एक माध्यम है जो व्याख्याता कवि और

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 93

2 मिट्टी की ओर, पृ. 93-94

कलाकार का निजी व्यक्तित्व है। प्रकृति के अंग-अंग में हमारे लिये उसे कवि ही ग्रहण करता है और कवि जब इन संदेशों का रागोत्तेजक चित्र हमारे सामने रखता है तब उसे चारों ओर, उसके निजी व्यक्तित्व का, पारदर्शी शीशे जैसा आवरण लगा रहता है।"[1]

दिनकर का वक्तव्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें यह कहा गया है कि काव्य या साहित्य जीवन और जगत् की कोई तटस्थ व्याख्या नहीं है वरन् यह जीवन और जगत् की कविकृत व्याख्या है। इसका कारण यह है कि कवि अपने सूक्ष्म संवेदनशील व्यक्तित्व के माध्यम से अपने परिवेश को ग्रहण कर उसके भीतर छिपे अर्थपूर्ण संकेतों को हमारे सामने प्रस्तुत करता है- "कलाकार की मानसिक अवस्था-विशेष में जीवन अपने जिस अर्थ में प्रकट होता है, उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।"[2] इसी अर्थ में वे कहते हैं- "कविता और कुछ नहीं, कवि का कर्म है अर्थात् कविता उसके आंतरिक व्यक्तित्व का प्रस्वेद है.....।"[3]

वस्तुतः कला निर्माण में कलाकार के व्यक्तित्व की सत्ता पर विचार अनिवार्य कहा जा सकता है। कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कला मे परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से समाहित रहता है। यह व्यक्तित्व भी एक संश्लिष्ट, गूढ़ और रहस्यमय वस्तु होता है जिसमें सूक्ष्म-स्थूल संस्कार एवं वंश परम्परा जैसी अनेक चीज़ों का सम्मिश्रण होता है। इतना ही नहीं, यह व्यक्तित्व एक ओर अतीत से जुड़ा(सम्बन्ध) होता है तो दूसरी ओर वर्तमान से। फलतः कलाकार की प्रतिभा और संवेदनशीलता का पूर्ण विश्लेषण भी सदैव संभव नहीं होता। इसे और स्पष्ट रूप से समझाते हुए वे कहते हैं- "समीक्षा शास्त्र का बड़ा से बड़ा पंडित भी, कभी-कभी एसी कविताओं के सामने आ जाता है, जिनके सौन्दर्य से वह अभिभूत तो हो जाता है, किंतु उस कला का पता नहीं लगा सकता जिसके द्वारा वह सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है। मनुष्य कि तर्कमयी चेष्टा जिस तत्त्व के रहस्योद्घाटन में असफल हो जाती है, उसे

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 91
2 मिट्टी की ओर, पृ. 91
3 कविता और शुद्ध कविता,

वह अनिवर्चनीय अथवा ईश्वरीय कहकर चुप हो जाता है।"[1] दिनकर काव्यशास्त्र, पाण्डित्य, अलंकार आदि की महत्ता को मानते हुए भी कवि-प्रतिभा को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं कारण यह कि ये सारे मानदंड़ कभी-कभी 'अनिवर्चनीय' अथवा 'ईश्वरीय' की थाह नहीं ले पाते। दिनकर अंततः कहते हैं कि- "अतएव मैं अलंकारों के महत्त्व को नहीं भूल सकता, किसी प्रकार भी उनका अनादर नहीं कर सकता, क्योंकि अलंकारों ने काव्य-कौशल के बहुत से ऐसे भेद खोले हैं, जो अन्यथा अविश्लिष्ट रह जाते। उनके द्वारा मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि हुई है। अलंकार शास्त्रों के द्वारा पाठकों ने काव्य में वह आनंद पाया है जो साधारणतया उन्हें नहीं मिल सकता था। किंतु मेरा कथन केवल इतना है कि काव्य में, कभी-कभी, ऐसा चमत्कार दिखाई पड़ता है जिसे काव्य-शास्त्र समझा नहीं सकता। किसी कौशल का नामकरण कर देने से ही उसका विश्लेषण नहीं हो जाता है। विश्लेषण के लिए हमें अधिक गहराई में उतरना पड़ता है। काव्य में यह गहराई अर्न्तदृष्टि की है जिसकी थाह तर्क पा ही नहीं सकता। कला की सर्वोच्च कृतियाँ कवि के जन्मजात रहस्यमयी सहज प्रवृत्तियों के बल पर उत्पन्न होती है और जहाँ काव्य में चमत्कारपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कवि अपनी इस प्रवृत्ति से अधिकाधिक काम लेता है वहीं कला अपनी चरम विजय से आह्लादित हो उठती है।"[2]

वे तुलसीदास का उदाहरण देते है- "संपूर्ण अलंकार शास्त्र का पाण्डित्य रखते हुए भी जब हम तुलसी के काव्य-जगत में प्रवेश करते हैं, तब चौपाईयों के बाद ऐसी चौपाइयाँ मिलने लगती हैं, जिनके प्रभाव में रस अथवा अलंकारों का महत्त्व, कारण रूप से नगण्य सा लगता है, किंतु जिनके पढ़ते ही हमारे आँखे छलछला पड़ती है और ऐसा मालूम होने लगता है मानों स्वयं हमारे ही अंदर कोई आनंदमयी वेदना जग पड़ी हो और हृदय के तंतु पर, मर्म

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 95

2 मिट्टी की ओर, पृ. 96

के तार पर, आघात कर रही हो।"[1]

लेकिन कविता की सामग्री नितांत निजी नहीं होती इसलिए "कविता को वे कवि के संचित संस्कारों की खुशबू भी कहते हैं।"[2] कविता को वे मानवजाति के संचित संस्कार के रूप में भी देखते हैं। इस तरह काव्य को कवि के संस्कारों के साथ जोड़कर और उसके सामूहिक स्वरूप का उल्लेख करके वे प्राचीन और नवीन सिद्धांतों का अपने ढ़ंग से सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं।

कविता को "जीवन के प्रछन्न संगीत का बाहरी नाद" कहकर वे उसे आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व के समन्वय के रूप में प्रस्तुत करते हैं- "जीवन जिस अविश्लिष्ट लय की चपेट में चल रहा है कविता उसी लय की श्रव्य स्वर-लहरी; वह जीवन के भीतर प्रछन्न संगीत का बाहरी नाद है; किंतु सदैव स्मरण रखना चाहिए कि यह नाद जीवन के अंतराल से आता है, उसकी उपरी सतह से नहीं। कवि जब स्वयं के अत्यंत समीप होता है, तब निश्चित रूप से वह दृश्य को छोड़कर अदृश्य में उतर जाता है और यहीं से वह जो कुछ बोलता है, वह सार्वभौम सत्य का गुंजार बन जाता है।"[3]

कविता की सफलता का श्रेय वे युग और जाति को भी देते हैं-".....यही काफ़ी नहीं है कि कोई कवि असाधारण रूप से दिव्य दृष्टिवाला हो, प्रत्युत काव्य की इस सफलता का जिम्मा युग और जाति के मानसिक विकास पर भी है। इस कोटि की कविता से उसी परिमाण अथवा अनुपात में समाज के विचार और अनुभूति का विकास होगा; जिस अनुपात में समाज में संकेतों और प्रतीकों की संख्या एवं अर्थगर्भता की वृद्धि होगी तथा जिस अनुपात में समाज के हृदय में आध्यात्मिक अनुभूतियों की पूंजी एकत्र होगी। केवल सामाजिक ही नहीं,

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 95-96

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ.

3 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 181

आध्यात्मिक कवि भी अपने ही समय की उपज होता है।"[1]

दिनकर कवि के लिए भी कुछ शर्तें रखते हैं- "..... कवि को कभी भी विचलित नहीं होना है और यह कि उसे इसका व्रत ले लेना चाहिए कि वह उन शब्दों के परे पहुँचेगा, जो उसकी कविता में आते हैं। वह उन चित्रों का अतिक्रमण करेगा, जो उसकी उक्ति को सजीव बनाते हैं। वस्तु के जिस रूप की झाँकी वह अपनी कविता में अंकित करता है, वह रूप कवि के लिए सीमा या बंधन का निर्माण नहीं करे, प्रत्युत कवि को अपनी दृष्टि बराबर उस रूप के परे रखनी चाहिए।"[2] साथ ही साथ- "शब्द और लय में आवेश की तीव्रता भरने से ही कवि के कर्तव्य कि इतिश्री नहीं हो जाती, उनमें उसे अपनी कल्पना की सजीवता और सघनता को भी स्थान देना चाहिए।"[3]

उल्लेख्य है कि कविता में दिनकर ने अनुभूति पक्ष को पर्याप्त महत्त्व दिया है। कविता की भूमि कवि हृदय होती है और कवि हृदय की अनुभूति प्रवणता ही काव्य विषय को अपने अनुकूल दिशा प्रदान करती है, उसके आदर्शवादी स्वरूप को यथार्थ से आवेष्ठित करती है अथवा आदर्श को यथार्थ से समंवित। कवि के अनुभूति के आलोक में लिपट कर ही कविता का मूल तत्त्व प्रकाश में आता है- "साहित्य की सबसे प्रचण्ड और अद्‌भूत शक्ति है। मनुष्य की अनुभूतिशील हृदय ही कविता के जन्म और उसके विहार की भूमि है।"[4]

वे कविता की संपूर्ण सफलता का आधार अनुभूति की सच्चाई मानते हैं। काव्य-निर्माण के कई तत्त्व हैं- कवि का आत्मतत्त्व, उसकी मनोदशा की विह्वलता, छन्द, अलंकार आदि। सामान्य मनुष्य और कवि के बीच की विभाजक रेखा ही अनुभूति की सच्चाई ही है- ".....जान तो उसमें कवि की आत्मा, उसकी अनुभूति की सच्चाई और मनोदशा की उस

---

1 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 181
2 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 180
3 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 181
4 रसवन्ती की भूमिका, पृ. 3

विह्वलता से आती है जो कवि को अकवि से भिन्न करने वाला प्रधान गुण है।''[1] यह अनुभूति ही काव्य का भावपक्ष है अतएव भावपक्ष ही है जो कलापक्ष को ज़िन्दा रखता है और इन दोनों का सही मिश्रण श्रेष्ठ साहित्य का द्योतक बनता है। यह सर्वविदित है कि मूल्य शाश्वत होते हैं परंतु युगों के परिवर्तन के साथ-साथ मानव भावनाएँ जिन्हें शाश्वत और चिरंतन माना गया है वे भी वैयक्तिक हस्तक्षेप से नवीन चोला पहन हमारे सामने उजागर होती है, यह वैयक्तिक हस्तक्षेप कुछ और न होकर कवि का अनुभूति पक्ष ही है, माने यह कि मानव के स्थायी भावों को युग और परिवेश के अनुकूल नवीनता मिलती है, जो पाठक को ग्राह्य होती है। वैयक्तिकता का साहचर्य प्राप्त करके जिस प्रकार कविता नवीनता प्राप्त करती है, इस सम्बन्ध में दिनकर का यह उद्धरण द्रष्टव्य है- ''जिस दिन वैयक्तिकता समाप्त हो जाएगी उस दिन साहित्य से नवीनता का लोप हो जाएगा। साहित्य के मूलभावों में आदिकाल से लेकर अब तक भी बहुत परिवर्तन नहीं हुए हैं। मूलभावों की विविधता की तालिका में महत्त्व के नये योग शक्तियों के बाद लिखे जाते हैं, किंतु साहित्य तब भी नित्य उज्ज्वल और नवीन रहता है, क्योंकि विचारों की नवीनताएँ आती रहती हैं। अनुभूति की ये नवीनताएँ ही कवि की वैयक्तिक संपत्ति तथा साहित्य के लिए उसकी वैयक्तिक भावनाओं का नवीन अवदान होती है।''[2]

यह कहकर वे मूलतः साहित्य को अनुभूतिमूलक मानते हैं। किंतु साहित्य की यह वैयक्तिक अनुभूति मात्र वैयक्तिक नहीं होती। यह अनुभूति मानवीय अनुभूति होती है- ''कला में आत्माभिव्यक्ति का वहीं तक महत्त्व है जहाँ तक कलाकार अपने को व्यक्त करते हुए ऐसी बातें कहता है जिन्हें मानवीय सहज ही स्वीकार कर सकें।''[3] साथ ही साथ वे इस बात पर भी बल देते हैं कि- ''निरी कल्पना तथा कोरी वैयक्तिक अनुभूतियों के बल पर साहित्य को

---

1 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 181
2 मिट्टी की ओर, पृ. 13
3 मिट्टी की ओर, पृ.

अजेय शक्ति के रूप में विकसित करने का प्रयास असफल होगा।"[1] इस अनुभूति का स्वरूप सतही नहीं होता वरन् गंभीर होता है। फलतः वह दार्शनिक अनुभूतियों को महान् काव्य का मेरूदंड भी मानते हैं।

काव्य को अव्याख्येय बताते हुए भी, काव्य के कई अनसुलझे हुए गिरह खोलते हुए तथा काव्य कि परिधि की व्यापकता के सम्बन्ध में दिनकर के जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं, वे कविता सम्बन्धी जनसामान्य में प्रचलित संकीर्ण धारणाओं, स्थूल और अनगढ़ विश्वासों से काव्य को बहुत ऊपर ले जाते हैं। इनसे कविता की वास्तविक महत्ता का प्रतिपादन होता है। दिनकर की काव्य संकल्पना की एक और विशेषता यह भी है कि वे जहाँ इस बात पर बार-बार ज़ोर ड़ालते हैं कि कविता सामाजिक अनुभूति प्रकाशन है, वहीं कवि के आत्मतत्त्व की महत्त्व की भी चर्चा करते हैं, और कविता को आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति के उद्घाटन का प्रयास मानते हैं। इसी आत्मतत्त्व का सामंजस्य जब परमतत्व से होता है, तब महान काव्य का जन्म होता है। कविता के विश्लेषण में आत्मतत्व की महत्ता की स्थापना नये युग की देन है। एक समय था जब कविता में शब्द और अर्थ के संयोजन को महत्त्व दिया जाता था, मानदंड होते थे अलंकार, छन्द आदि का ख्याल रखा जाता था, यह शास्त्रीय पद्धति थी, धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ गई है, जहाँ अर्थ की महत्ता को स्थापित कर दिया गया है, बाह्य साज-सज्जा को अब वह महत्त्व नहीं मिलता। अर्थ को काव्यात्मा मान लिया गया है, इसका श्रेय कवि के व्यक्तित्व या आत्मपक्ष से जोड़कर देखा जाने लगा है। यह परिवर्तन मुख्य रूप से रोमांटिक युग की देन है, पर स्वयं भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक रीतियों के जन्म का कारण भी कवि व्यक्तित्व की भिन्नता को ही माना गया है।

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ.

2.2. काव्य-रूप सम्बन्धी धारणा :

2.2.1. महाकाव्य : सामान्य परिचय :

काव्य के दो भेदों -श्रव्य और दृश्य में प्रबन्ध काव्य श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आता और इसमें महाकाव्य और खण्डकाव्य, काव्य के दो भेदों को रखा गया है। यह साहित्य की प्रमुख विधा है। यह साहित्य की एक प्रमुख विधा है और अत्यन्त प्राचीन काल से इसकी रचना श्रेष्ठ कवियों द्वारा होती आई है। साहित्य, जीवन और समाज को प्रभावित करने वाली इस साहित्यिक विधा की परिभाषाएँ भी प्राचीन काल से लेकर आज तक निर्धारित होती आई हैं। भारतीय साहित्य में इसकी विशद विवेचना मिलती है और पाश्चात्य साहित्य में भी इस पर पर्याप्त विचार किया गया है। हमारे यहाँ रामायण, महाभारत और रामचरितमानस जैसे महाकाव्य लिखे गए हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में संभवतः सर्वप्रथम आचार्य भामह ने महाकाव्य का स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया है। उन्होंने स्वरूप विधान के आधार पर काव्य के पाँच भेद किए। महाकाव्य उनमें से एक है। भामह कृत महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार है-

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत् /
अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालंकारं सदाश्रयम् /

* * * *

युक्तं लोकास्वभावेन रसैश्च सकलै पृथक् //

भामह के अनुसार महाकाव्य उसे कहेंगे जो सर्गबद्ध, महान चरित्रों से संबद्ध, आकार से बड़ा, नाटक की पंच संधियों से युक्त, चारों पुरुषार्थों के निरूपण से संपन्न और प्रायः सभी रसों की उपस्थिति से समृद्ध होता है। इस लक्षण पर आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा की टिप्पणी के अनुसार- "महाकाव्य का यह प्राचीनतम उपलब्ध लक्षण है साथ ही संक्षिप्ततम। फिर भी इसमें महाकाव्य सम्बन्धी कोई भी मौलिक और आधारभूत विशेषता छूटी नहीं है, न इसमें

उत्तरवर्ती लक्षणों की कठोरता तथा रूढ़िवादिता ही है।"[1] महाकाव्य को लोक स्वभाव से युक्त कहकर भामह ने इसकी प्रमुख विशेषता को रेखांकित किया है।

आचार्य दण्डी ने भामह की परिभाषा को आत्मसात् करते हुए महाकाव्य को विस्तार से व्यक्त किया। उन्होंने महाकव्य के बाह्यांगों-आशीर्वचन, वर्चनीय वस्तु व्यापार तथा सर्ग, छन्द आदि पर विशेष बल दिया। उद्देश्य की महानता के सथान पर चमत्कार और रसानुभूति को उनकी दृष्टि में विशेष बल दिया। 'अभिव्यंजना' के संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट किया है-वह अलंकृत हो । रुद्रट, हेमचंद्र आदि ने अपनी परिभाषाओं में दण्डी को ही दोहराया। रुद्रट ने खलनायक की पराजय पर बहुत बल दिया।

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने सभी पूर्वर्ती आचार्यों के मतों को एक स्थान पर जुटाया है। उनके द्वारा प्रस्तुत लक्षण इस प्रकर है- महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। उसमें एक नायक होता है जो कि देवता या कुलीन क्षत्रिय होता है। वह धीरोदात्त नायक होता है। कहीं कहीं एक ही वंश के अनेक राजा महाकाव्य के नायक होते हैं। श्रृंगार, वीर, शांत ओर करुण में से कोई एक रस अंगी होता है और अन्य रस अंग होते हैं। इसमें सभी नाट्य संधियों की योजना होती है। इसका वृत्त ऐतिहासिक होता है और कथा के पात्र प्रायः सज्जन होते हैं। चार पुरुषार्थ इसके फल होते हैं। प्रारंभ में मंगलाचारण की योजना होती है। सर्गों की संख्या आठ से अधिक होती है। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द-परिवर्तन आवश्यक होता है। सूर्य, चंद्रमा, संध्या, प्रदोष, मृगया, सरिता आदि का सांगोपांग वर्णन अपेक्षित है। महाकाव्य का नामकरण कवि, नायक या किसी अन्य प्रमुख पात्र के नाम पर होना चाहिए।

यह लक्षण एक ओर विस्तृत और समन्वयवादी है तो दूसरी ओर इसमें कुछ असंगतियाँ भी दिखाई देती हैं जैसे विश्वनाथ की नायक सम्बन्धी धारणा तथा रसों का मानकीकरण आदि क्योंकि करुण रस को प्रमुखता देकर भी महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। इन असंगतियों को लक्ष्य करके डॉ. शम्भूनाथ सिंह ने स्पष्ट लिखा है- "विश्वनाथ कविराज की महाकाव्य

[1] साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, पृ. 91

सम्बन्धी मान्यता मौलिक नहीं अनुकृत, ऊपरी और महाकाव्य की रूढ़ियों से अधिक सम्बद्ध है, उसके मूलतत्त्वों से नहीं।"[1] फिर भी इस बात को दरकिनार नहीं किया जा सकता कि विश्वनाथ के मत को हिन्दी में पर्याप्त समर्थन मिला है तथा उनके विचारकों और समीक्षकों ने महाकाव्य की मीमांसा में इसे आधार बनाया है।

हिन्दी आचार्यों में रामचंद्र शुक्ल का मत अपेक्षाकृत मौलिक और सुचिंतित है। उन्होंने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में महाकाव्य के चार तत्त्वों पर जोर दिया है - इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भावव्यन्जना, संवाद। इनके अतिरिक्त उनकी समीक्षाओं से यह ध्वनि भी निकलती है कि वे उद्देश्य की महानता और शैलीगत प्रौढ़ता को भी आवश्यक मानते थे। शुक्ल जी ने महाकाव्य के बाह्य और आंतरिक, दोनो पक्षों को रेखांकित करना चाहा है।

डॉ. शम्भूनाथ सिंह ने अपने शोध प्रबन्ध में महाकाव्य की प्रायः सभी विशेषताओं को समेटते हुए एक विस्तृत परिभाषा दी है- "महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है, जिसमें क्षिप्र कथाप्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित सांगोपांग और जीवंत लंबा कथानक होता है, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमें यथार्थ, कल्पना या संभावना पर आधारित ऐसे चरित्रों के महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण-आंशिक चित्रण होता है, जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी महत्तोद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गंभीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष ओर युगविषेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्‌घाटन किया रहता है और जिसकी

---

[1] साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, पृ. 92

शैली इतनी उदात्त, गरिमामय होती है कि युगयुगांतर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अनुशीलन से महाकाव्य के निम्नलिखित तत्त्व सामने आते हैं-

1) सर्गबद्ध घटनाक्रम
2) महान चरित्र
3) वस्तु, व्यापार, और परिवेश का वर्णन
4) भावव्यन्जना
5) प्रौढ़ भाषा-शैली
6) महत् उद्देश्य

अरस्तु ने 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्यों को ध्यान में रखकर महाकाव्य का विवेचन के कुछ प्रमुख दिए सूत्र जो इस प्रकार हैं-

1) महाकाव्य ऐसे उदात्त व्यापार का काव्यमय अनुकरण है, जो सुंदर शैली में रचित हो।
2) महाकाव्य के ऐतिहासिक कथानक में अतिप्राकृत तथा अलौकिक तत्त्वों का मिश्रण और असंगत बातों का वर्णन होता है।
3) इसमें केवल एक छन्द का प्रयोग होता है।
4) इसमें जीवन की संपूर्णता का चित्रण होता है।
5) त्रासदी की भांति महाकाव्य के पात्र भी महान होते हैं।
6) महाकाव्य की भाषा में भावनाओं को साकार करने की शक्ति होनी चाहिए।

जिन आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों ने महाकाव्य की प्रकृति पर विचार किया है, उनमें बाबरा एवक्रांबी और टिलीयर्ड मुख्य हैं। सी.एम. बाबरा के अनुसार महाकाव्य वह कथात्मक एवं वृहद् काव्य रूप है, जिसमें महत्त्वपूर्ण, गरिमायुक्त, एवं भयंकर कार्य-युद्धादि से युक्त

---

[1] साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, पृ. 92

घटनाएँ एवं पात्र हमारे भीतर-मनुष्य की महानता, गौरव एवं उपलब्धियों के प्रति दृढ़ आस्था एवं आनन्द की सृष्टि करते हैं। एवक्रांबी की धारणा इससे कुछ अलग है। महाकाव्य के आकार को महत्त्व न देते हुए उन्हें शैली के आधार पर उसकी महानता मानी है। उनके शब्दों में- "वृहद् आकार के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य नहीं बन सकता महाकाव्य की शैली ही उसे महाकाव्य बना सकती है, ओर यह शैली कवि की कल्पना, विचारधारा तथा उसकी अभिव्यक्ति से जुड़ी रहती है।"[1]

टिलियार्ड ने महाकाव्य की कुछ अनिवार्य विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है-

1) महाकाव्य में जीवन का व्यापक और वैविध्यपूर्ण चित्रण होना चाहिए।
2) महाकाव्य उत्तम गुणों से युक्त गंभीर रचना है।
3) उसमें व्यापक मानवीय विश्वासों और भावनाओं का सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल चित्रण होना चाहिए।
4) महाकाव्य में वीरभावना की अभिव्यक्ति वांछनीय है।

महाकाव्य सम्बन्धी भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षकों के मतों के अनुशीलन करने पर विदित होता है कि दोनो में विशेष अंतर नहीं है। इतना अवश्य है की भारतीय आचार्यों ने महाकाव्य के आकार-प्रकार पर ज्यादा ध्यान दिया है, उसकी अन्तरात्मा के सम्बन्ध में उन्होंने अधिक नहीं लिखा है। फिर भी कुछ तत्त्व दोनों मतों में एक से हैं। कथा-संयोजन, चरित्र-, सृष्टि, भाषा-शैली की प्रौढ़ता, जीवन की समग्रता महत् उद्देश्य की प्रतिष्ठा आदि कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो भारतीय एवं पाश्चात्य मनीषियों को समान रूप से मान्य हैं। वास्तव में जैसा कि डिक्सन ने लिखा है, महाकाव्य सर्वत्र एक प्रकार का होता है, चाहे वह पूर्व का हो या पश्चिम का, उसका रक्त और प्रकृति समान होते हैं।

---

[1] साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, पृ. 93

2.2.1.1. दिनकर के महाकाव्य सम्बन्धी विचार :

दिनकर ने महाकाव्य और खण्डकाव्य के जीवनव्यापी महत्त्व को स्वीकार किया है- "असल में, प्रबन्ध कविता वह कविता है, जिसमें प्रगीत, उपन्यास और नाटक तीनों के तत्त्व मिले होते हैं। इसीलिए प्रबन्ध काव्य की रचना साहित्य की विलक्षण रचना है और प्रबन्ध कवि विलक्षण शक्ति का कवि होता है।"[1] महाकाव्य का निर्माता कवि विलक्षण शक्ति संपन्न होता है, जिसमें युग की पृष्ठभूमि भी सहायक होती है। महाकाव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि "महाकाव्य तभी लिखा जाता है जबकि युग की अनेक विचारधाराएँ वेग से मिलती हुई किसी महासमुद्र से मिलना चाहती है। जब ऐसी अनेक धाराएँ वेगवन्त प्रवाह में होती हैं, तभी महाकाव्य की रचना का समय आता है जो कवि उसके महामिलन के लिए सागर का निर्माण कर सकता है, वही महाकाव्य लिखने का अधिकारी होता है।"[2]

महाकाव्य को व्याख्यायित करते हुए दिनकर कहते हैं- "महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करनेवाली अनेक भाव-धाराओं के बीच सामंजस्य लाने का प्रयास है, महाकाव्य की रचना समय के परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है।"[3] महाकाव्य के सृजन प्रक्रिया को ज़ाहिर करते हुए दिनकर कहते हैं- "जब परम्परा से आनेवाले महान प्रश्नों और भावों की अनुभूति में परिवर्तन होता है, तब मनुष्य का संस्कार भी परिवर्तित होने लगता है तथा इस परिवर्तित संस्कार को चित्रित करने के लिए ही महाकाव्य लिखे जाते हैं।"[4] महाकाव्यों की महत्ता दर्शाते हुए वे कहते हैं- "विश्व के महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थरों के समान होते हैं; वे व्यञ्जित करते हैं कि मनुष्य किस युग में कहाँ

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 143
2 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 13
3 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 13
4 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 13

तक प्रगति कर सका है।"[1]

जब भी कोई कवि महाकाव्य लिखने बैठता है, तो केवल प्रेरणा को लेकर नहीं चलता, जैसा कि शुद्ध काव्य या प्रगीत या मुक्तक काव्य में होता है। महाकाव्यकार को विभिन्न स्तरों पर जागरुक बने रहने की ज़रूरत होती है, जो प्रेरणा, कथा, प्रसंग, चरित्र, घटना, और काव्यात्मकता सभी को लेकर चलती है। "कवि पर ज़िम्मेदारी यह होती है कि वह विषय और शैली, दोनों को संभाल कर रखे और इस तन्मयता से रचना करे कि उसका वर्णन कहीं भी शिथिल नहीं हो तथा शैली और भाव, दोनों एक दूसरे के परम अनुकूल हों।"[2] "प्रबन्ध काव्य में आदि से लेकर अंत तक कवि की भावदशा समान रूप से तनी, ताज़गी और उत्तेजनापूर्ण होती है।"[3] महाकाव्य में प्रेरणा के साथ निपुणता की भी ज़रूरत होती है जिसके द्वारा रचना की एक एक पंक्ति उसकी इकाई के अनुरूप ढ़लती है। यह काव्य अत्यंत उच्च कोटि के संधि से ही संभव हो सकता है। यही कारण है कि महाकाव्यों की रचना किसी भी युग में अधिक संख्या में नहीं होती । यह बात और है कि लोग प्रगीत के समूह को भी महाकाव्य नाम देते हैं। संसार में श्रेष्ठ महाकाव्य कम ही लिखे गये हैं- 'रामायण', 'महाभारत', 'रघुवंश', 'इलियड', 'एनिड' 'ओडेसी', 'डिवाइन कामेडी', 'पैराडाइज़ लॉस्ट' आदि भारतीय और पाश्चात्य जगत के उच्च कोटि के महाकाव्य हैं और इनके रचयिता निःसंदेह विशिष्ट प्रतिभा संपन्न रचनाकार थे।

महाकाव्य की रचना को दिनकर दुष्कर कार्य मानते हैं उनके अनुसार कोई भी अच्छी कविता संयोग से लिखी जाती है किंतु महाकाव्य की रचना सबसे कठिन कार्य है।

"प्रबन्ध कवि के सामने समस्याओं का पहाड़ खड़ा होता है और जो कवि इनमें से प्रत्येक समस्या का समाधान पा लेता है, उसी की रचना सुपाठ्य उतरती है। किंतु सभी समस्याओं

---

1 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 13

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 143

3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 143

का समाधान लगभग ईश्वरीय चमत्कार के समान दुर्लभ घटना है। इसलिए महाकाव्य संयोग से ही सफल हो पाते हैं।"[1]

महाकाव्य जनता के बीच अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि आरंभ से ही समाज में इस काव्य को जितनी लोकप्रियता और प्रतिष्ठा मिली, उतनी अन्य किसी काव्यधारा को नहीं। संसार में सर्वत्र खण्ड काव्य, महाकाव्य और लंबी कविता की सफल रचना करने वाला कवि ही महाकवि के रूप में मान्य होता है। इसका कारण देते हुए वे कहते हैं- "आत्मा के सरोवर में किसी हल्की हिलकोर की अनुभूति भी सुसंस्कृत मनुष्य का अत्यंत सूक्ष्म आनंद है किंतु जनता इस सूक्ष्म आनंद यथेष्ट नहीं मानती। वह ऐसी कविताओं को अधिक पसंद करती है जो उसे झकझोर सकें, गुदगुदा सकें, धीरज बँधा सकें उसके भीतर आशा और बल का संचार कर सकें ।"[2]

महाकाव्य के रचयिता कवि जो काम कर सकते हैं, वह न तो राजनीति कर सकती है, न समाजशास्त्र और धर्म। इसलिए दिनकर महाकाव्य का महत्त्व इन सभी से ऊपर स्थापित करते हैं।

महाकव्य की रचना में कठिनाई का एक कारण है। वह कठिनाई यह है कि महाकाव्य की कथावस्तु इतिहास या पुराण पर आधारित होती है। कवि को अपनी वैयक्तिकता से आगे जाकर परम्परा के आलोक में उस अवस्था का चित्रण करना पड़ता है, जो युग मानस के अनुकूल हो और उसकी संभावनाएँ पाठक को स्वीकार्य हों। यहाँ भी कवि की सहायता 'महाकल्पना' ही करती है। महाकाव्य के निर्माण में इतिहास, नाटकीयता, भावना और विचार के सम्यक समावेश का काम कोई महाकल्पना वाला कवि ही कर पाता है। महाकाव्यकार अनेक जटिल भावदशाओं का सूत्र पड़कर गहराईयों में प्रवेश करता है और पाठकों को भी

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 145-146

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 147

तलहटी से लेकर शिखर तक विचरण कराता है।"[1]

जो लोग महाकाव्य को प्रगीतों का समुच्चय मानते हैं उनका दिनकर खण्डन करते हैं- "महाकाव्य प्रगीतों के समुच्चय का नाम नहीं है। महाकाव्य में वर्णन भी होता है, नाटकीयता भी होती है और प्रगीत भी होते हैं किंतु वे अलग से आकर एकत्र नहीं होते।"[2]

"महाकाव्य में कला और कौशल दोनों का प्रयोग करना पड़ता है। कला का दायित्व सीधे महाकल्पना पर होता है जो प्रत्येक पंक्ति की रचना के समय यह देखती चलती है कि वे पूरे महाकाव्य की इकाई के अनुरूप ढल रही है या नहीं। किंतु कौशल कवि के अभ्यासजनित अनुभव से आता है।"[3] माने यह कि महाकाव्य को भाव और शैली, दोनों स्तरों पर पूर्ण जागरूकता और सतर्कता की ज़रूरत होती है। इसमें मात्र मीनाकारी और पच्चीकारी के साथ ही समग्रता की अवधारणा भी आवश्यक होती है।

दिनकर कीट्स का यह उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि- "लंबी कविता कवि की आविष्कारकर्त्री प्रतिभा की आखिरी कसौटी है। यही वह ध्रुवतारा है जो समुद्र में कविता को दिशाज्ञान कराता है।"[4]

महाकाव्य में भी चित्र एवं संगीतात्मकता की आवश्यकता को वे स्वीकार करते हैं। "प्रबन्ध कवि भी संगीत और चित्र का उपयोग निर्मुक्त भाव से करते हैं।.....संगीत और चित्र, ये शैली के उपादान है जो भी प्रबन्ध-कवि शक्तिशाली होता वह अपनी शैली में उनका काफी चमत्कार समाविष्ट करता है।"[5] अर्थात् शक्तिशाली कवि भी अपनी शैली के लिए चित्र और संगीतात्मकता का समावेश पर काफी चमत्कार पैदा करता है।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 146
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 144-145
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 145
4 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 146
5 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 144

दिनकर ने शुद्ध कवित्व की दृष्टि से महाकाव्य के कुछ दोषों पर भी विचार किया है- "महाकाव्यों में अभिव्यंजना का गौण स्थान संसार ने हमेशा स्वीकार किया है। यह महाकाव्य का पहला अपराध है।"[1] दूसरा दोष यह है कि "शुद्ध कवित्ववादियों की दृष्टि से कविता कवि की किसी भावदशा का संगीतमय एवं चित्रमय शब्दों में केवल अनुवाद है। उसका और कोई ध्येय नहीं होना चाहिए।"[2] स्पष्ट शब्दो में शुद्ध कवित्व की दृष्टि से काव्य निष्प्रयोजन होता है, पर महाकाव्य सोद्देश्य लिखा जाता है जो कि अपने-आपका एक पूर्वाग्रह है। "तीसरा दोष यह है कि चूँकि कवि की भावदशा काफी देर तक नहीं ठहरती, इसीलिए सच्ची कविता वह है, जो इस भावदशा के समाप्त होते ही, आप से आप, समाप्त हो जाती है तथा तदनुरूप वह, निश्चित रूप, से छोटी होती है। लंबी कविता लिखने का तात्पर्य यह है कि भावदशा की समाप्ति के बाद भी ज़बर्दस्ती रचना करता है।"[3] शुद्ध कवित्व जहाँ क्षणिकता को महत्ता प्रदान करती है वहीं महाकाव्य में भावदशा को स्थायी बनाने का भरसक प्रयत्न किया जाता है जो औपचारिक सा भासित होने लगता है। इन तमाम खामियों के बावजूद इसमें कोई दो राय नहीं है कि दिनकर प्रबन्धकाव्य(महाकाव्य और खण्डकाव्य) को कविता का सर्वश्रेष्ठ और सबसे कठिन रूप मानते हैं। महाकाव्य का काम संपूर्ण जीवन का आलोड़न है, न कि शुद्ध कविता की भाँति केवल चौंकाना या रसासिक्त करना।

दिनकर का कुरुक्षेत्र एक विचारप्रधान काव्य है जिसमें कवि ने एक मौलिक और पिछले और अछूते विषय को उठाया है और उसके प्रसंग में आधुनिक युग की दृष्टि से यथार्थ और आदर्श, दोनों धरातलों पर अपनी मान्यताओं की स्थापना की है। कुरुक्षेत्र को काव्यविधा के किस निकष पर परखा जाए- यह एक विचारणीय एवं विवादस्पद प्रश्न हो गया है। कुछ लोग इसको मुक्तक रचना कहते हैं तो कुछ लोग विचारप्रधान लंबी कविता। कुछ लोग इसे

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 143
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 143
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 143

महाकाव्य और कुछ खण्डकाव्य मानते हैं। इसका कारण यह है कि इसमें इन सभी तत्त्वों का कुछ-न-कुछ समावेश है- यहाँ तक कि षष्ट सर्ग गीतिकाव्य का उदाहरण माना जा सकता है। कुरुक्षेत्र में घटना, चरित्र, नाटकीयता और विचार है। यह सर्गबद्ध काव्य है। इसमें श्रृंगार, वीर, करुण और शान्तरस हैं, पर क्या इसे महाकाव्य की मान्यता दी जा सकती है? इस सम्बन्ध में स्वयं दिनकर ने अपना स्पष्टीकरण दिया है- "कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्म के प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किंतु तब रचना शायद प्रबन्ध के रूप में न उतरकर मुक्तक बनकर रह गई होती। तो भी, यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी।"[1]

उनके इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि महाकाव्य में ऐतिहासिकता को पूर्णतः स्वीकार करते हैं और कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर जैसे पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों की योजना करके उन्होंने मुक्तक को प्रबन्ध का रूप देने की कोशिश की है। इसी प्रसंग में आगे वे अपने कथन को और भी स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार कुरुक्षेत्र को उसमें वर्णित विचारों की एकता के आधार पर प्रबन्धकाव्य कहा जा सकता है- "कुरुक्षेत्र में प्रबन्ध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है। दरअसल, इसमें मैं, प्रायः सोचता ही रहा हूँ। भीष्म के सामने पहुँच कर कविता जैसे धूल-सी गई हो।"[2]

महाकाव्य की शास्त्रीय कसौटी पर कुरुक्षेत्र पूरी तरह खरा नहीं उतरता। हाँ उसमें प्रबन्ध के तत्त्व भी हैं। कहा जा चुका है कि उसमें कथा, पात्र, विचार, भावावेग, सर्ग-योजना आदि लक्षण हैं। मुख्य रूप में कुरुक्षेत्र का उद्देश्य एक महान विचार का प्रतिपादन करना है। इसके लिए उन्होंने भीष्म और युधिष्ठिर जैसे महान पात्रों की सृष्टि की है और उनके परम्परागत

---

1 कुरुक्षेत्र की भूमिका, पृ. 1

2 कुरुक्षेत्र की भूमिका, पृ. 2

संस्कारों की रक्षा की है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कुरुक्षेत्र प्रबन्ध-लेखन का एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है और अपने महान निवेद्य के कारण यह महाकाव्य है। अतएव कुरुक्षेत्र के माध्यम से दिनकर एक नये प्रकार के महाकाव्य की धारणा प्रस्तुत करते हैं और इस विधा की परिभाषा का विस्तार करते हैं।

2.2.2. **खण्डकाव्य : सामान्य परिचय :**

खण्डकाव्य प्रबन्ध कविता का दूसरा वर्ग माना जाता है। खण्ड, विशेषण का यह अर्थ नहीं है कि यह महाकाव्य का एक खण्ड होता होगा और जीवन की विविध वृत्तियों का खण्डित या बिखरा हुआ रूप खण्ड प्रबन्ध कविता है। वास्तव में इस विधा में जीवन-खण्ड की किसी महत्त्वपूर्ण घटना की पूर्ण अनुभूति विन्यसित रहती है। यह महत्त्वपूर्ण घटना जीवन के उस संबंधित पक्ष को उभारकर प्रकाशित कर देती है। उसका रचना-विन्यास ऐसा होता है कि एक ही मुख्य घटना अपनी विविधता के साथ रची गई होती है।

महाकाव्य और खण्डकाव्य में एक सूत्रता(बन्ध) महत्त्वपूर्ण रचना-सूत्र है। दोनों में अंतर यह है कि महाकाव्य में नायक का समग्र जीवन अथवा जाति या युग विशेष के समग्र जीवन के विविध पक्षों का चित्रण, एक लंबे कथानक के साथ किया जाता है। उसमें अवान्तर घटनाओं और वर्णनों का विस्तारपूर्वक आग्रहण रहता है। लेकिन खण्डकाव्य में जीवन के एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग का ही पल्लवन रहता है। व्यापकता इसमें भी हो सकती है, किंतु इतनी नहीं जितनी महाकाव्य में रहती है। यहाँ गहराई पर बल रहता है। अवान्तर घटनाओं और वर्णनों का वैविध्य यहाँ कम रखा जाता है। यहाँ जाति या गुण व्यापक पटल पर अवस्थित नहीं रहता, एक नायक, एक चरित्र मुख्य होता है। यदि युग का चित्रण हो तो खण्डकाव्य में एक काल बिन्दु समेटा जाता है, महाकाव्य में युग-विस्तार। तदनुरूप खण्डकाव्य के रचना-तत्त्व महाकाव्य के रचना-तत्त्वों से थोड़ा अलग है, और रचना-प्रक्रिया उसी के समानान्तर है।

खण्डकाव्य, प्रबन्ध काव्य का ही दूसरा प्रकार है। इसमें प्रबन्ध काव्य होने के कारण महाकाव्य की तरह कथा चलती है। एक छन्द का दूसरे छन्द के साथ पूर्वापर सम्बन्ध होता है। कथा का सर्गों में विभाजन रहता है। इसके भी प्रायः वही प्रमुख तत्त्व होते हैं, जो महाकाव्य के होते हैं। परन्तु महाकाव्य से खण्डकाव्य कई दृष्टियों से भिन्न होता है। साहित्यदर्पण, में आचार्य विश्वनाथ ने खण्डकाव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है-

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

अर्थात् - काव्य या देश के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है।"[1]

"इसका तात्पर्य यह है कि खण्डकाव्य में किसी एक प्रधान घटना का वर्णन होता है, उसमें जीवन के किसी एक पक्ष को लेकर कथा चलती है। इस तरह महाकाव्य की अपेक्षा उसका क्षेत्र सीमित होता है। उसमें जीवन की वह अनेकरूपता और विविधता नहीं रहती जो कि महाकाव्य में होती है। उसमें तो कहानी और एकांकी की तरह एक ही प्रधान घटना के लिए सामाग्री जुटाई जाती है।"[2]

अंग्रेज़ी में खण्डकाव्य के लिए कोई विशेष नाम नहीं हैं। यह प्रकथनात्मक काव्य (नैरेटीव पोयट्री) के अन्तर्गत आता है। महाकाव्य के छोटे-छोटे कथानक को एपीसोड कहते हैं।

निचोड़ यह कि खण्डकाव्य ऐसा प्रबन्ध काव्य है, जिसमें जीवन की विविधता, विस्तार और कथा की विशालता के स्थान पर उसके किसी एक खण्ड का बंधा हुआ, मार्मिक और सोद्देश्य चित्रण होता है।

इस निष्कर्ष के आधार पर हम खण्डकाव्य के रचनातत्त्वो को निर्धारित कर सकते हैं। खण्डकाव्य को सफलता जिन तत्त्वों पर निर्भर करती है वे हैं- संक्षिप्त आकार, जीवन-खण्ड को ही लक्ष्य करना, इसलिए संक्षिप्त कथानक, कथा-संगठन में अधिक से अधिक प्रभावान्विति, चरित्र के भावाभिव्यंजन पक्ष पर बल, उद्देश्य में भले ही महाकाव्य जैसी

---

1 साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, पृ. 101

2 साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार, पृ. 101

महनीयता न हो, किंतु जीवन के किसी सत्य को उद्‌घाटित करने की क्षमता, वस्तु की अपेक्षा भाव-बन्ध पर बल आदि। यही वे तत्त्व हैं जो इस विधा को उसका वास्तविक स्वरूप प्रदान करते हैं।

वास्तव में उपन्यास की तुलना में जो स्थान कहानी का और नाटक की तुलना में जो स्थान एकांकी का है, ये तत्त्व महाकाव्य की तुलना में खण्डकाव्य को उसी स्थान का अधिकारी बना देते हैं।

2.2.2.1. दिनकर की खण्डकाव्य सम्बन्धी धारणा :

दिनकर ने शुद्ध कवित्व की सीमा के प्रसंग में कथाकाव्य, प्रबन्धकाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य जैसी साहित्यिक विधाओं के शिल्पगत गुण-दोषों पर विचार किया है। उनका कहना है कि कथाकाव्य या खण्डकाव्य अधिक लोकप्रिय होते हैं- "……आरंभ से ही, समाज में जो प्रतिष्ठा इन काव्यों की रही है, वह किसी और कविता को नहीं मिली……।"[1] कथ्य होने से शैली भी उसके अनुकूल आवश्यक होती है। खण्डकाव्य की वस्तु के विषय में उनका विचार है कि ऐतिहासिक या पौराणिक कथा को नवीन आयाम देने में ही कवि की सफलता होती है- "कथाकाव्य अथवा खण्डकाव्य लिखने में सफलता उसी कवि को मिलती है, जो पुरानी वस्तु को नई आग में जलाकर उसे नवीन बना सकता है……।"[2]

हमारे यहाँ के काव्यशास्त्रियों ने खण्डकाव्य खण्डकाव्य में भेद निरूपित करते समय कहा है कि जहाँ महाकाव्य में विविधता या व्यापकता होती है, वहाँ खण्डकाव्य में एकदेशिता।

जैसा कि डॉ. दिनेश्वर प्रसाद ने भी लिखा है- "किसी सीमित प्रसंग पर आधृत कथाकाव्य को खण्डकाव्य कहा गया है। उसमें महाकव्य के कुछ लक्षणों का पालन होता है, किंतु विषय

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 141

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 146

की दृष्टि से महाकाव्य जैसा विस्तार नहीं होता।"[1]

दिनकर ने प्रबन्ध शैली के 'रश्मिरथी' और 'द्वन्द्वगीत' जैसे काव्य लिखे हैं। इस आधार पर इस विधा के सम्बन्ध में उनकी धारणा का संकेत किया जा सकता है। दिनकर की 'रश्मिरथी' खण्डकाव्य शैली की रचना है जिसमें ख्यात ऐतिहासिक-कथा मिलती है और कर्ण के रूप में नायक की प्रतिष्ठा की गई है जो वस्तुतः सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय है, किंतु एक सुत के यहाँ पालित हुआ है। समस्त रचना का प्रभाव इस रूप में आयोजित है कि उससे वीर रस की निष्पति होती है। एक सुगठित कथानक के आधार पर रचित होने के कारण 'रश्मिरथी' खण्डकाव्य की परम्परागत धारणा से भिन्न नहीं है। किंतु इसमें इतिहास को प्रस्तुत करने की एक नई भंगीमा तथा पात्रों के चरित्र-विधान के माध्यम से एक नई विचारधारा का समावेश मिलता है।

दिनकर ने 'रश्मिरथी' के अतिरिक्त 'द्वन्द्वगीत' लिखा है, जिसे प्रबन्ध-शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। किंतु प्रश्न यह है कि इसे कौन-सी अभिधा दी जा सकती है। 'द्वन्दगीत' कई तरह के भावों की कविताओं का संकलन प्रतीत होता है; किंतु उसमें कथ्य की दृष्टि से आरंभ से अंत तक एकसूत्रता दिखाई देती है। कथ्य की एकसूत्रता 'द्वन्दगीत' की रचनाओं को प्रबन्धत्व प्रदान करती है। हम चाहें तो 'द्वन्द्वगीत' को लघु-खण्डकाव्य कह सकते हैं।

2.2.3. प्रगीतः सामान्य परिचय :

प्रगीत का सामान्य स्वरूप आधुनिक युग में प्रगीत काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा हो गई है। आधुनिक अर्थ में जिसे गीति कहते हैं वह अंग्रेज़ी के लिरिक का पर्याय है। साधारणतः महाकाव्य और नाटक मनुष्य की सामूहिक भावना को अभिव्यक्त करते हैं और प्रगीत उसकी

---

[1] प्रसाद की विचारधारा, डॉ. दिनेश्वर प्रसाद, पृ. 249

वैयक्तिकता भावना को। गीतिकाव्य लोकगीत का ही विकसित रूप है। जैसा कि लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' ने कहा है- ''ग्रामगीत और कलागीत में साधारणतः कोई तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरा पहले का विकास मात्र है।''[1] गीति-काव्य में भाव की तीव्रता और व्यैक्तिता तथा संगीतात्मकता मिलती है। संक्षिप्तता भी गीतिकाव्य का प्राण है। ऐसा समझा जाता है कि प्रगीत काव्य में भावनाएँ शीघ्र-शीघ्र उठती और वीलीन होती है। अतः क्षण ही पूर्ण होता है। बौद्धिकता या पांडित्य प्रदर्शन इसका उद्देश्य नहीं होता, वरन् इसका आन्तरिक सौन्दर्य इसका अन्तर्वेग है। हृदय की घनीभूत वेदना जब संगीतात्मकता और कोमल पदावली के साहचर्य से स्वच्छन्दतापूर्वक फूटती है, प्रगीत या गीति का जन्म होता है।

2.2.3.1. दिनकर के प्रगीत सम्बन्धी विचार-

दिनकर ने अपनी भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रबन्ध, मुक्तक और प्रगीत-काव्य की तीनों विधाओं का सहारा लिया है। उनकी रुचि प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तकों और प्रगीतों में अधिक रमी है। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रबन्ध काव्य के अनेक अनुबंधों में रचे गये काव्य में भी प्रगीतात्मकता का समावेश है। 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी'-जैसे प्रबन्ध-काव्यों में भी गीति-तत्त्वों का पाया जाना इस बात का प्रमाण हैं। 'रेणुका', 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' तो गीतिकाव्य की श्रेणी में रखी जाती हैं। 'कुरुक्षेत्र' का षष्ट सर्ग भी गीतिकाव्य का उदाहरण है। दिनकर की प्रगीत-सम्बन्धी धारणा को जानने के दो स्रोत हैं-

(क) समीक्षात्मक निबंधों में व्यक्त प्रगीत-सम्बन्धी विचार :

प्रगीत के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने इसे काव्य में विशिष्ट स्थान का अधिकारी माना है। इस संदर्भ में वे प्रगीत की सूक्ष्मता और वेदकता की चर्चा करते हैं। काव्य के अन्य रूपों- कथा-काव्य, प्रबन्धकाव्य, खण्डकाव्य में कुछ स्थूलताएँ भी होती हैं। ये

[1] जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', पृ. 162

स्थूलताएँ हैं-कथानक, चरित्र-चित्रण आदि किंतु प्रगीत काव्य में न तो कथानक रहता है, न चरित्र-चित्रण, न घटना की वर्णनात्मकता। प्रभावोत्पादकता के कारण इसका महत्त्व इतना अधिक है। माने यह कि- "प्रगीतों का जो महत्त्व, वह किसी और काव्य में नहीं। काव्य के अन्य रूपों में कुछ भूसे और छिलके भी होते हैं किंतु प्रगीतों का काम केवल बीज से चलता है और बीज का भी उसमें वही अंश प्रधान होता है जिसमें उत्पन्न करने की शक्ति होती है।"[1]

इसकी सूक्ष्मता के कारणों पर विचार करते हुए उन्होंने यह कहा है कि प्रगीतों में न तो विचारों का महत्त्व है , न उपदेश और ज्ञानोद्‌गार का। किंतु मन की एक क्षणिक स्थिति का और तीव्र अनुभूति का चित्रण होने से यह पाठक पर हावी भी होता है और यह क्षणिक मनः स्थिति अधिक स्थायी भी होती है। इस स्थिति में प्रगीत को कविता का निचोड़ कहा जा सकता है- "गीत कविता का निचोड़ होता है, कथानक नहीं, कोई ऊँचा विचार नहीं, उपदेश और ज्ञानोद्‌गार नहीं, स्थिति और चरित्र-चित्रण नहीं, फिर भी गीत न जाने कैसे निकल आते हैं क्योंकि वे कलेजे को इस कदर बेधते हैं और कैसे उनकी उम्र लंबी होती है।"[2]

दिनकर के अनुसार कविता के सामान्य रूप से प्रगीत का रूप अलग होता है। कविता सामान्यतः आनंदमिश्रित ज्ञान देती है, किंतु उसके विशिष्टभेद प्रगीत की विशेषता यह है कि वह केवल आनंददान करता है। इस दृष्टि से प्रगीतों को वे शुद्ध काव्य की कोटि में रखते हैं।

प्रगीत की उत्त्पत्ति के कारणों पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि यह कवि की किसी क्षणिक मनोदशा या भाव का ही व्यक्त रूप है। कवि के मन की आकुलता, स्मृति, सौन्दर्य चेतना मन का कोई धुँधला आवेग या कोई उमंग ही प्रगीतों को जन्म देती है। प्रगीतों के निर्माण में कवि की प्रेरणा सहायक होती है। इसमें 'महाकल्पना' की ज़रूरत नहीं होती।

---

1 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 26

2 अर्द्धनारीश्वर, पृ. 217

कवि अपनी मनोदशा को पाठकों के अन्तःकरण तक पहुँचाने में प्रगीतों के कारण सफल होता है। कवि की क्षणिक भावदशा अपनी क्षणिकता में ही पूर्ण, शाश्वत और चिरंतन होती है। प्रखर कल्पना शक्ति ही प्रगीत की आधारशिला है। यह मनोदशा इतनी बारीक और सूक्ष्म होती है कि मात्र शब्दो के अर्थ के द्वारा इन्हें पकड़ना संभव नहीं है होता। जबकि काव्य के अन्य रूपों में वर्णन के जो साधन होते हैं, वे गीतिकाव्य में साध्य बन जाते हैं। दिनकर इसे और स्पष्ट तौर पर समझाते हुए कहते हैं- "गीत कवि के मन की एक तरह लौ बैचेनी की तस्वीर है, स्मृति का दर्शन, सौन्दर्य की चोट, किसी अस्पष्ट उमंग की एक लहर अथवा मन का कोई धुँधला आवेग, ऐसी कोई भी बात कवि के भीतर एक प्रकार की मनोदशा उत्पन्न करती है जिसकी अभिव्यक्ति शब्दों के बल पर नहीं की जा सकती, क्योंकि किसी भी भाषा में ऐसे शब्द नहीं होते जो मनुष्य की इतनी सूक्ष्म मनःस्थिति को ठीक-ठीक चित्रित कर सके। फिर भी कवि जो शब्दों के माध्यम से ही उसे व्यक्त कर पाता है इसलिए कि शब्दों के साथ केवल अर्थ नहीं होते, उसमें गीतमयता और नाद भी होता है। असल में, गीतों में नाद और अर्थ एकाकार हो जाते हैं, जैसा कि अक्सर संगीत में हुआ करता है। अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि शब्द, जो अन्य कविताओं में वर्णन का साधन रहते हैं, गीतों में आकर खुद ही साध्य बन जाते हैं।"[1]

उनका कहना है कि एक सफल प्रगीतकार, सफल महाकाव्यकार भी हो और एक महाकाव्यकार सफल प्रगीतकार हो यह ज़रूरी नहीं है। दोनों प्रकार की काव्य विधाओं के दो प्रकार के अनुबंध है, दोनों की दो मनोदशाएँ होती हैं। प्रबन्धकाव्यकार की भावदशा अधिक गहरी होती है। वह घटना और कल्पना को जोड़ने का सामर्थ्य रखता है, इतिहास और कथा को लेकर चलता है, सामूहिकता को लेकर चलता है, उसे कई इकाइयों को संयुक्त करना पड़ता है, पर प्रगीतकार रचना निर्माण की आग में क्षण भर जलता है- भले ही यह क्षण अपनी समग्रता में पाठक पर हावी क्यों न हो। प्रगीतकार की विशेषता सामूहिकता की चेतना

---

[1] अर्द्धनारीश्वर, पृ. 218

न होकर वैयक्तिकता होती है। यह बात दूसरी है कि उसकी वैयक्तिकता उसकी संप्रेषणीयता में बाधक नहीं होती। वे कुछ लोगों की इस धारणा का उल्लेख करते हैं कि प्रगीत को गुच्छे में सजा देना प्रबन्धकाव्य है। दिनकर इस बात का भी खण्डन करते हैं। प्रगीत को गुच्छे में सजा देने से प्रबन्धकाव्य का निर्माण नहीं हो सकता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रबन्धकाव्य के अनुबंध ही प्रगीत से भिन्न होते हैं। काव्यकार जीवन की संपूर्णता में ग्रहण करता है और प्रगीतकार क्षणिकता में- ''प्रगीत फूलों का एक गुच्छा है अथवा, ज्यादा से ज्यादा, गुलाब का एक पौधा किन्तु महाकाव्यों के कर्ताओं को अपनी भूमि में अनेक उद्यान लगाने पड़ते हैं, फूलों का एक जंगल बसाना पड़ता है।''[1]

(ख) प्रगीतों में व्यक्त-प्रगीत सम्बन्धी विचार -

दिनकर ने समीक्षात्मक निबंधों में तो प्रगीत-सम्बन्धी अपनी धारणा को व्यक्त किया ही है, प्रगीतों में भी उनकी प्रगीत-सम्बन्धी धारणा का प्रकाशन हुआ है- उदाहरण के लिए, 'रसवंती' के 'गीत-अगीत' शीर्षक में प्रगीत को अंतर की वेगवती धारा कहा है। उनके शब्दों में गीत दाह की कोयल है जो दर्द से भींगी हुई तान छेड़कर समग्र वसंत को प्रभावित करती है। जीवन का वसंत जब दूर हो जाता है, पत्तियों के देश से, छाँह वाली डालो से जब सम्बन्ध छूट जाता है और नीचे मरुस्थल और ऊपर दोपहर का जलता हुआ सूरज सिर पर होता है, तब प्रगीत पिकी बनकर अंतर की दाह को, घुमड़ते दर्द की टीस को प्रकट करता है। गीतों में कोमलता होती है। गीत या प्रगीत अमृत लौ धारा, सुकुमार चाँदनी, स्वप्न की तस्वीर, इन्द्रधनुष की रंगीनियाँ, सजलता तथा आद्रता है, वह आम्रपल्लवों की लाली है। यह इन्द्रधनुषी रंगीनिया लेकर आता है, पर शीघ्र गायब हो जाता है। प्रगीत कोमल कल्पना है। दाह के आकाश में मंदाकनी की धारा है और जलते हुए क्षण में शबनम की एक बूँद। इसी तरह 'गीत', 'अन्तवासिनी' आदि कविताओं में भी उनकी प्रगीत-सम्बन्धी धारणा का पता

---

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 146

चलता है। 'कवि' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है कि व्यथा और आँसू ही गीतों के कारण बनते हैं-

"आँखों से पूछो, स्यात्, आँसुओं
में गीतों का भेद मिले,
मुझको इतना भर ज्ञात, व्यथा
जब हटी हुई सब वेद मिले।"[1]

'उर्वशी' में भी उन्होंने गीतों के महत्त्व को स्वीकार किया है। यहाँ भी उन्होंने इन्हें ऐसी रचनाओं के रूप में देखा है, जिसमें स्वप्न और कल्पनातत्त्व की प्रचुरता होती है। ऐसी रचनाएँ रसकण बरसाती हैं- रससिक्त करती हैं-

"हम गीतों के प्राण सघन,
छूम छनन छन्, छूम छनन।
बजा व्योम-वीणा के तार,
भरती हम नीली झंकार,
सिहर-सिहर उठता त्रिभुवन।
छूम छनन छन, छूम छनन।
सपनों की सुषमा रंगीन,
कलित कल्पना पर उड़ीन,
हम फिरती हैं भवन-भवन।
छूम छनन छन्, छूम छनन।"[2]

---

1 रसवन्ती, पृ. 77
2 उर्वशी, पृ. 5

2.2.3.2. दिनकर के प्रगीतों का स्वरूप

दिनकर की कला-चेतना समष्टिगत और व्यष्टिगत, दोनों आधारों को लेकर चलती है। समष्टिगत कलाकार होने के नाते वस्तु-जगत् की सुखात्मक और दुःखात्मक परिस्थितियों का चित्रण उनके काव्य का एक प्रबल पक्ष है। इक़बाल की तरह कविता का प्रयोग उन्होंने सामाजिक प्रयोजन के लिए किया है, पर ऐसे स्थलों की कमी नहीं है जहाँ दिनकर की वैयक्तिकता प्रबल रूप में अभिव्यक्त होती है। सामाजिक दायित्वों के बीच एक क्षण उनका अपना भी होता है। ऐसे ही क्षणों में प्रगीतकार दिनकर का रूप खुलता है। उनके भीतर की सौंदर्य-चेतना ओर पीड़ा तथा कल्पना और निरूद्देश्य भ्रमण की लालसा उनके गीतों में प्रकट होती है। 'हुँकार' के साथ 'रसवंती' और 'द्वन्द्वगीत'तथा 'कुरुक्षेत्र' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' के साथ 'उर्वशी' के निर्माण का रहस्य उनके व्यक्तित्व की द्वन्द्वात्मकता में सम्मिलित है। उनके काव्य-विकास में श्रृंगार और वीर दोनों रसों की एक-जैसी भूमिका है। उन्होंने 'रसवंती' की रचना क्रम में इस तथ्य को स्वीकृति दी है। इसकी रचना उन्होंने 'निरूद्देश्यता प्रसन्नता के लिए' की थी। उसमें कोई निश्चित संदेश न होने का कारण यही है। इन गीतों में वे अपने हाथों से छूट गये हैं। विचारक और चिंतक कवि दिनकर अपनी आंतरिक विवशता से प्रेरित होकर सरस उद्‌गारपूर्ण भावों को प्रगीतों का आवरण दे सके हैं। जहाँ उनके स्वानुभूति प्रखर हो गई है वहाँ उनकी अभिव्यक्ति पूर्ण वैयक्तिक हो गई है, वहाँ भावों पर विचारों का अंकुश नहीं है। 'रसवंती', 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग, 'नील-कुसुम', की कुछ कविताएँ तथा 'उर्वशी'-इन रचनाओं में दिनकर की सुकुमार कल्पना और उद्दाम अन्तर्मुखी भावना के दर्शन होते हैं। उनमें दिनकर की अनुभूति की बेधकता और कल्पना का वैभव दर्शनीय हो जाता है। किंतु दिनकर की विशेषता यह है कि नितान्त वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों विषय इनके प्रगीतों में व्यक्त हुए हैं। यही कारण है कि बहुत से प्रगीतों में वैयक्तिकता और वस्तुनिष्ठता का भेद मिट गया है और उनके प्रगीतों की परिधि बहुत विस्तृत

हो गई है। इस परिधि में कोमल और पौरुषपूर्ण, दोनों प्रकार की भावनाओं की अभिव्यंजना उपलब्ध होती है।

ध्यान देने की बात यह है कि दिनकर ने 'गीत' और प्रगीत दोनों शब्दों का व्यवहार किया है जबकि प्रगीत और गीत में अन्तर है। मुख्य रूप से यह कि गीत में शास्त्रीय संगीत का आधार रहता है, प्रगीत में लयात्मकता का आग्रह। प्रगीत में सांगीतिक आधार शब्दों की योजना पर निर्भर है, गीत में आन्तरिक संगीत के साथ-साथ शास्त्रीय प्रणाली पर राग-रागिनियों का संयोजन होता है। प्रगीत मुक्तक का एक भेद है। गीत प्रगीतात्मक हो सकता है, पर सभी प्रगीत गीत नहीं है। गीत गेय हैं, जबकि प्रगीत के लिए यह गुण अनिवार्य नहीं। लेकिन 'गीत' से दिनकर तात्पर्य प्रगीत से ही है।

2.2.4. छन्द : सामान्य परिचय :

काव्य मनुष्य के रागों और संवेगों की वाणी होता है, जो अनायास जीवन के उत्स से फूटता है। जीवन और प्रकृति में गति, लय और छन्द है। अतः काव्य में गति, सौन्दर्य, प्रभावोत्पादकता और संगीतात्मकता उत्पन्न करने के लिए छन्द की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, काव्य गद्य से भिन्न साहित्यिक विधा है, अतः काव्य के नियम गद्य से भिन्न होते हैं। छन्द हमारे भावों के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करता है, रस की सृष्टि करता है तथा हमारे रागों और सूक्ष्म अनुभूतियों में स्पंदन और प्राण भरता है। छन्द के द्वारा काव्य और संगीत एकाकार होते हैं जो कविता के लिए अपेक्षित हैं। उसमें शब्द और नाद सौन्दर्य का रस मिश्रित होता है।

हमारे यहाँ छन्द का जन्म वैदिक मंत्रों के साथ हुआ है। वैदिक मंत्रों को भी छन्द की संज्ञा मिली। वेद हमारे प्राचीनतम काव्य है और छन्द उनका अनिवार्य अंग है। शब्द विज्ञान के अंतर्गत वेदों के तीन अंग माने गए हैं- व्याकरण, निरूक्त और छन्द। छन्द एक प्रकार से 'पद्य' का पर्याय है, क्योंकि छन्द का आधार लिये बिना पद्य की रचना नहीं हो सकती। छन्द

के कारण ही कविता में थोडे-से अक्षरों में अधिक भावों को आसानी से अभिव्यक्ति मिलती है। छन्द के नियमों के चलते भावों का वेग बंधी-बंधाई धारा में चलता है। भावों को छन्द बिखरने नहीं देता। यह बात छन्द के अर्थ से भी सांकेतित हो जाती है। यह शब्द 'छदि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है- आच्छादन करना। इस प्रकार छन्द वह रचना है, जो कवि के निवेद्य को सम्यक् रूप में व्याप्त या आच्छादित करती है। छन्द वर्णों और मात्राओं की निर्धारित संख्या के उपयोग द्वारा यह कार्य संपन्न करता है। यह अकारण नहीं है कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक काव्य में छन्दों को कमोबेश रूप में स्वीकृति मिली है आधुनिक युग में यद्यपि नये युग के भावबोध के कारण प्राचीन परम्परा छिन्न-भिन्न होने लगी है, बौद्धिक युग की माँग ने शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा कर उसे सरल बनाया है और काव्य गद्य के निकट जाने लगा है, फिर भी छन्द काव्य से पूरी तौर पर निष्कासित नहीं किये जा सके हैं।

2.2.4.1. दिनकर के छन्द सम्बन्धी विचारः

यह सर्वविदित है कि दिनकर ने हमेशा अपने आप को किसी कटघरे में आने नहीं दिया, सदैव उनकी कोशिश बनी रही की उन्हें किसी वाद से न जोड़ दिया जाए वे हमेशा कविता में नवीनता के आग्रही रहे हैं। परंतु उन्होंने सदैव कविता के दुरुह मानने वालों तथा गद्य की ओर अत्याधिक झुकाव रखने वालों के खिलाफ मोर्चा लिया और शास्त्रीय परम्परागत नियमों को स्वीकृति दी। छन्द को पूरी तरह छोड़ने के पक्ष में वे नहीं हैं वरन् उसे स्वीकृति देते हैं। दिनकर का विश्वास है कि समस्त सृष्टि में एक छन्द है। प्रकृति का मनुष्य जितना अध्ययन करता है और उसे इस बात की अनुभूति होती है कि समग्र प्रकृति किसी-न-किसी नियम से बंध कर चलती है- "छन्द स्पन्दन समग्र सृष्टि में व्याप्त है। कला हीं नहीं, जीवन की प्रत्येक सिरा में यह स्पन्दन एक नियम से चल रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह मण्डल और विश्व की प्रगति मात्र में एक लय है जो समय के ताल पर यति लेती हुई अपना काम कर रही है।"[1]

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 78

दिनकर के अनुसार कलाओं में सर्वत्र छन्द की आवश्यकता होती है। कलाओं के द्वारा जीवन में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की जाती है और इस सामंजस्य के बिना कला पूर्णता को प्राप्त नहीं कर पाती उसकी सार्थकता नहीं होती। "समस्त कलाएँ उसी महान कलाएँ ही नहीं प्रत्युत चित्रण, मूर्ति और स्थापत्य की कलाएँ भी काँट-छाँट और रूप और रंग के संतुलित प्रयोग से इसी सामंजस्य का अनुकरण करती है। जहाँ यह संतुलन नहीं हो पाता वहाँ समय अपना ताल देना भूल जाता है, कला की कृतियाँ असंबद्ध एवं नश्वर हो जाती हैं तथा सृष्टिगत सामंजस्य के साथ मानवात्मा का मेल नहीं हो पाता है।"[1] जैसे-जैसे विज्ञान का विकास हुआ है, वैसे-वैसे यह बात और पुष्ट हुई है- ".....विज्ञान ज्यों-ज्यों सृष्टि को देखता है, त्यों-त्यों उसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि यह महान सृष्टि एक अद्‌भूत सुर सामंजस्य के बीच बंधी हुई है, इस क्रम में छन्दोभंग नहीं होता, यतियाँ खिंचकर आगे नहीं जाती, तथा समय अपना ताल देना नहीं भूलता है।"[2] छन्द की महत्ता को एक उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि- "रवि बाबू की बँगला गीतांजली और अंग्रेजी अनुवाद में भाव, कथानक, अलंकार और शैली में तनिक भी भेद नहीं है। फिर क्या कारण है कि अनुवाद में हम वह आनंद नहीं पाते जो मौलिक गीतों में मिलता है? क्या कारण है कि कविता का अन्वय करने पर उसका सौन्दर्य छिन्न-भिन्न हो जाता है, मानों पत्तियों पर के ओसकण हथेली पर आकर टूट-फूटकर पानी बन गये हों और उनकी पहली चमक, ताज़गी और आकर्षण-शक्ति नष्ट हो गयी हो?"[3]

नवीनता के पक्षधर दिनकर छन्द के बहुत बड़े हिमायती हैं और समकालीन काव्य में वे छन्द की ओर हैं, जहाँ की आज का काव्य गद्य से अत्याधिक निकट आने की कोशिश में है- "आज की हवा काव्य-निर्माण को छन्द बन्धन से मुक्त कर देना चाहती है। लोग कहते

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 78-79
2 मिट्टी की ओर, पृ. 78
3 मिट्टी की ओर, पृ. 94

सुने जाते हैं कि काव्य-निर्माण में एक साधारण सहायक सा है जिसके न रहने से भी काव्य काव्य ही रहेगा। अगर छन्द का महत्त्व इतना भर ही माने, तो भी मानना पड़ेगा कि गद्य की अपेक्षा छन्दोबद्ध वाणी रागात्मक आनंद को उत्तेजित करने में अधिक समर्थ है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि तमसा के पुलिन पर जो प्रथम काव्य-धारा फूटी थी, वह गद्य के रूप में नहीं थी। जिस दिन आदि कवि के मुँह से श्लोक निकला था उसी दिन इस बात का प्रमाण मिल गया था कि जब मनुष्य का हृदय किसी असाधारण आवेश में बाहर निकलना चाहता है, तब उसकी भावना गेय हो उठती है। मेरे जानते छन्द काव्य-कला का सहायक नहीं, बल्कि उसका मार्ग है। कविता हमें रुक्ष और स्थूल से उठाकर अलौकिक तथा मधुर आनन्द के देश में पहुँचाती है और इस प्रकार हम गद्य अथवा जीवन की नियमित शुष्कता से जितना अधिक ऊपर उठ सकें, कवि-कला की सफलता उतनी अधिक मानी जानी चाहिए। गद्य हमें स्थूल अथवा जीवन की एकरसता की तरफ खींचता है। इसके प्रतिकूल छन्द, संगीत की तरह, हमारी कोमल एवं सूक्ष्म प्रवृत्तियों को जाग्रत करता है, यही कारण है कि कवि भावना साधारणतः छन्दों में अपनी राह बनाती आयी है। कविता के पार्श्व में काव्य कहकर हम जो गद्य को बिठा रहे हैं, उसका भी न्यूनाधिक श्रेय छन्द को ही है। उपर कहा जा चुका है कि आवेश की वाणी गेय बनकर निकलना चाहती है और उसे जब हम गद्य में व्यक्त करते है तब भी वह छन्द की लय को नहीं भूलती, गद्य में भी अपने लिये छन्द का एक क्षीण प्रवाह बनाती चलती है। विश्लेषण के उपरान्त, यह जानना कठिन नहीं कि गद्य भी काव्य बनने के लिये छन्दों के प्रवाह की सहायता लेता है।"[1]

छन्द की महत्ता को पुष्ट करते हुए दिनकर प्रारंभ की बात छेड़ते हैं- "कविता का आविर्भाव पहले हुआ है तब छन्द का आगमन हुआ। कविता कला है, छन्द शास्त्र अतः छन्द को उन्होंने विज्ञान के अन्तर्गत रखा है। प्रारंभ में मनुष्य की सारी अभिव्यक्ति काव्य में हुई है, पीछे विज्ञान के फलस्वरूप उसमें गद्य का समावेश हुआ। गद्य हमारे चिंतन को अभिव्यक्ति

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 94-95

देता है काव्य प्रवृत्ति को, भाव को। कविता में छन्द का महत्त्व निर्विवाद है- "छन्दों की महिमा सर्वविदित है और अभी तो यह सोचा भी नहीं जा सकता कि छन्द किसी भी समय कविता से बहिष्कृत हो जाएँगे।"[1] माने यह कि अपने अमूर्त भावों को छन्दों में बाँधकर मानव ने उसे अभिव्यक्ति दी, छन्द के स्पंदन को पाकर मानव की पहली अभिव्यक्ति कविता के सृजन के रूप में हुई।

दिनकर कहते हैं कि कविता और गद्य के बीच की विभाजक रेखा छन्द है। गद्य की भाषा काव्यात्मक होने पर भी काव्य नहीं हो सकती क्योंकि छन्द के अनुबंध ही काव्य को काव्य बनाते हैं। कविता के द्वारा एक विशिष्ट आनंद के लोक में पहुँचा जाता है और इस रागात्मक आनंद की दुनिया में पहुँचाने में छन्दोबद्ध वाणी गद्य की अपेक्षा अधिक समर्थ होती है। कविता का जन्म असाधारण आवेश में भावना गान बनकर निकलना चाहती है। वाल्मीकि ने क्रौंचबध के फलस्वरूप काव्य रचना की थी।

काव्य में माधुर्य, सरसता, सौंदर्य और आनंद की साधना होती है, और यह साधना छन्द के माध्यम से संपन्न होती है। गद्य की अपेक्षा कविता में स्थूलता और रुक्षता कम होती है। गद्य में एकरसता होती है पर छन्द के कारण कविता में संगीत की सृष्टि होती है, तथा कोमल और सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ उभर कर उपर आती हैं। काव्य में हम सूक्ष्म और अलौकिक आनंद के देश में पहुँचते हैं, उसमें छन्द ही सहायक होता है। गद्य की शुष्कता और स्थूलता से काव्य को अलग करने वाली वस्तु भी छन्द ही है। कवि इसीलिए अपनी भावना को छन्दों में बाँधकर अपनी अभिव्यक्ति देता है। गद्य में जीवन की वास्तविकता चित्रित होती है पर काव्य में वास्तविक जगत भी अलौकिक होकर आता है, असाधारण होकर आता है और इस अवस्था की सृष्टि में छन्द निश्चित रूप से काव्य की सहायता करता है। छन्द पाठकों के आकर्षण को शिथिल नहीं होने देता है। उनके भीतर जिज्ञासा के कौतूहल को कायम रखता है। अतः दिनकर जी छन्द को काव्य का सहायक अपकरण मात्र नहीं मानकर काव्य कला

---

[1] चक्रवाल की भूमिका, प्र.सं. पृ. 69

का अनिवार्य और स्वभाविक मार्ग मानते हैं।

कविता में छन्द की विविधता का कारण उसमें अभिव्यक्ति भावों और अनुभूतियों का वैविध्य है।

छन्द का सम्बन्ध विभिन्न मनोभावों से होता है। उसकी महत्ता इस बात में है कि वह हमारी अनुभूतियों को पूरे बल और चमत्कार के साथ प्रकट करने में सहायता करे। इसका कारण यह है कि छन्दों को हमारी भावनाओं के अनुरूप विकसित होना पड़ता है। हर तरह के भाव के लिए एक छन्द से काम नहीं चलाया जा सकता। हर भाव की अभिव्यक्ति के लिए अलग-अलग छन्द का सहारा लेता है कठोर भावों के लिए उस छन्द के प्रयोग प्रायः बांछित नहीं माना जाता। कुछ भाव मंदगामी होते हैं, कुछ तीव्र। इन दो भाव स्थितियों के लिए दो तरह के छन्द आवश्यक होते। कभी ऐसी भी स्थिति होती है कि भावों के तूफान को छन्दों में बाँधकर नहीं लाया जा सकता और उस हालत में मुक्त छन्द का जन्म स्वतः होता है। इस प्रसंग में दिनकर जी के विचार निम्नलिखित हैं- "भावनाएँ अपनी ऐंठन के अनुरूप यति तथा प्रवाह खोजती है। उभरते हुए पुष्ट एवं सुस्पष्ट छन्दों में व्यक्त होते हैं तथा रुक-रुक कर या सिसक-सिसक कर चलने वाले मनोवेग अभिव्यक्ति के क्रम में अधिक यतियों की अपेक्षा करते हैं। गर्जमान विचारों की सुष्ठू अभिव्यक्ति प्रवाहपूर्ण तथा बलशाली छन्दों में एवं करूणा की अभिव्यक्ति पग-पग पर रुकते हुए मन्दगामी छन्दों से सुन्दर होती है।"[1]

यही कारण है कि काव्य में हम अनेक छन्दों का अस्तित्व देखते हैं प्रबन्ध काव्य में छन्द-परिवर्तन देर से होता है, क्योंकि वहाँ स्थायी भावनाओं को रसदशा में लाने की कोशिश की जाती है, पर मुक्तक काव्य में या गीति काव्य में दोहा-जैसे छन्दों से भी काम चलता है। गीतिकाव्य में भावदशा अधिक देर तक स्थायी नहीं होती, अतः उसके छन्द प्रबन्ध काव्यों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। कवि आवश्यकतानुसार अपने भावों के अनुकूल छन्दों में कुछ संशोधन

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 67

भी करता है और इसी क्रम में नये छन्दों का जन्म होता है। प्रसाद जी का 'आँसू' छन्द, निराला का 'शक्ति' छन्द आदि इस बात के उदाहरण हैं।

अलग-अलग कवियों की अलग-अलग मनोदशाओं के अनुसार भी छन्दों का विकास होता है। इसलिए एक ही छन्द अलग-अलग कवियों के हाथ में पड़कर किंचित अलग-अलग ढंग से रूपायित होते हैं। हिन्दी के छायावाद युग में छन्दों के युग में एक बड़ी क्रान्ति हुई और अनेक प्राचीन-नवीन छन्द स्वीकृत हुए, छायावाद की बौद्धिक शक्ति का जितना परिचय छन्दों के नए विधान, शब्दों के नवीन चयन और भाषा के नुतन संस्कार में मिला, उतना और कहीं नहीं। दिनकर के अनुसार छन्दों कि विविधता के कारण हिन्दी कविता की वीणा सहस्र तारों वाली हो गई। इस कारण अनेक छन्दों के रूपों में परिवर्तन हुए तथा अनेक स्थलों पर काव्य को छन्द के बन्ध से मुक्त कर दिया गया। यह भावदशा की अनेकता को ग्रहण करने का ही प्रमाण है। वीर भाव के लिए छप्पय और बरवै, आशा और उत्साह के लिए कवित्त, सवैया आदि छन्दों को सब दिन महत्त्व मिलता रहा। इस सम्बन्ध में दिनकर का विचार द्रष्टव्य है- "अभिनव हिन्दी काव्य में छन्दों में जो परिवर्तन हुए हैं, वे किसी प्रकार भी भावों के परिवर्तन से कम विचित्र और विशाल नहीं है। जितने प्रकार के भाव तथा मनोदशाएँ नई कविताओं में अभिव्यक्त हुई हैं, छन्दों में उसी परिमाण और प्रकार में विकार उत्पन्न हुए हैं।"[1]

युग की भावदशा सामाजिक परिवेश और संवेदना के परिवर्तन के साथ काव्य जगत में छन्दों के परिवर्तन भी अवश्यंभावी है। वीरगाथा युग, भक्ति युग, रीति युग, रोमांटिक युग, और नयी कविता के युग के छन्दों में अपेक्षित परिवर्तन लक्षित होते हैं। यह ठीक है कि कुछ छन्द जैसे छप्पय, कवित्त, सवैया, बरवै, राधिका, दोहा आदि प्रत्येक युग में एक ही भावदशा को प्रकट करने में समर्थ रहे हैं, पर अनेक स्थलों पर भाव के क्षेत्र में क्रांति और परिवर्तन हुए हैं। दिनकर भी यह कहते हैं कि नये कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 78

व्याकरणों के आदेश के अनुसार पुरानी चीज़ों को उसी रूप में ढोता ही रहे। यह कोई ज़रूरी नहीं है कि प्राचीन साहित्य की सभी चीज़ें नये साहित्यिकों के विकास में बाधक ही होंगी। बहुत सी सामाग्री उसकी सहायता कर सकती हैं। पर यदि पुराने छन्द कवि की मनोदशाओं के अनुकूल नहीं पड़ते, तो वह अपने अनुकूल छन्द निर्माण करने के लिए स्वतंत्र है जिससे वह अपनी अनुभूतियों को पूर्णता प्रदान कर सके। छन्दों की आवश्यकता नये कवियों को भी होगी। कारण नये छन्दों के द्वारा युग की नई चेतना का आभास मिलता है। नये युग के भावों को समझने और ग्रहण करने में इनसे सहायता मिलती है। इनके आधार पर युग के संगीत को पकड़ा जाता है। इस बात का प्रमाण प्रत्येक युग का साहित्य है। भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग और प्रयोगवादी युग में से प्रत्येक के साहित्य में भावों के अनुकूल छन्दों को ग्रहण किया गया है। दिनकर कहते हैं कि- "कविता में नये माध्यम यानि नये ढाँचे और नये छन्द कविता की नवीनता के प्रमाण होते हैं। उनसे युग मानस की जड़ता टूटती है; उनसे यह आभास मिलता है कि काव्याकाश में नया क्षितिज उदय ले रहा है। जब कविता पुराने छन्दों की जमीन से निकलकर नये छन्दों के भीतर पाँव धरती है, तभी यह अनुभूति जगने लगती है कि कविता वहीं तक सीमित नहीं है, जहाँ तक हम उसे समझते आये हैं, और भी नयी भूमियाँ हैं, जहाँ कविता के चरण पड़ सकते हैं। नये छन्दों से नयी भावदशा पकड़ी जाती है। नये छन्दों से काव्य को नयी आयु प्राप्त होती है। अतएव छन्दों के चरमराने या उनके टूटने से साहित्य में जो कर्कशता का नाद छा रहा है, वह अपने में चिन्ता का कोई बड़ा कारण नहीं हो सकता। न मैं इसी को बुरा समझता हूँ कि कवियों का सारा ध्यान छोटी-छोटी मूर्तियाँ गढ़ने में लगा हुआ है। नयी भाषा, नये छन्द, नयी लय और नव-जीवन से उठकर आनेवाले नये चित्र, ये अगर कोई बड़ा लक्ष्य न कर सकें तब भी इनका साहित्यिक महत्त्व होगा ही, क्योंकि ये साहित्य को यों भी समृद्ध बनाते हैं।"[1] माने यह कि छन्दों में

[1] चक्रवाल की भूमिका, पृ. 71-72

नवीनता की तलाश एवं छन्दों के क्षेत्र में क्रांति इस बात को प्रमाणित करती हैं कि कवि तो विकोसोन्मुख है। वह सतत् नए क्षेत्रों की तलाश में और नई भूमि के अनुसंधान में प्रयत्नशील रहता है।

प्रयोगवादी काव्यधारा में छन्दों के क्षेत्र में जो एक बड़ी क्रांति हुई है, उस पर विचार करते हुए दिनकर कहते हैं कि बौद्धिक युग अथवा वैज्ञानिक युग का छन्द रोमांटिक युग के छन्द से निश्चित रूप से भिन्न होगा। रोमांटिक युग में कोमलता, भावुकता तथा संगीतात्त्मकता को अभिव्यक्त करने के लिए जो छन्द उपयुक्त थे, आज के चिंतन प्रधान युग में वे उपयुक्त न होंगे। उसमें आज के भावों को वहन करने में सामर्थ्य नहीं होगी। अतं आज के छन्दों में अनुभूतियों सुस्थिरता और चिंतन को अभिव्यक्ति देने की अपेक्षा है- "अब वे ही छन्द कवियों के भीतर से नवीन अनुभूतियों को बाहर ला सकेंगे, जिनमें संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी जो उड़ान की अपेक्षा चिंतन से अधिक उपयुक्त होंगे।"[1]

दिनकर बौद्धिक युग अथवा वैज्ञानिक युग के छन्द की महत्ता दर्शाते हुए भी इस बात पर तवज्जो देते हैं कि ऐसे छन्द कम से कम शब्दों का उपयोग कर ज़्यादा से ज़्यादा गहन चिन्तन को समेटने की कोशिश करेंगे, ऐसे में भावुकता और संगीतात्मकता गौण हो जाएगी, लयात्मकता खत्म हो जाएगा और कविता लेखन अथवा "काव्यालोचन का असली क्षेत्र मनोविज्ञान रह जाएगा और कवि की जो शक्ति आज वादों, विचारों और आन्दोलनों के समर्थन में नष्ट होती है, उसका उपयोग मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वरूप के चित्रण में होने लगेगा।"[2] इसका "परिणाम यह होगा कि भाषा ढिली-ढाली न रहकर कुछ अधिक सुनिश्चित और चुस्त हो जाएगी"[3] और वह विज्ञान की भाषा के समीप हो जाएगी, फिर भी

---

1 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 69
2 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 67
3 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 67

दिनकर सतर्क कर देते हैं कि "वह विज्ञान की भाषा कभी नहीं बनेगी"[1] क्योंकि "वैज्ञानिक एक शब्द से एक ही अर्थ लेना चाहता है"[2] वहीं दूसरी ओर "इस शब्दाभाव की कठिनाई को कवि अपने शब्दों की कलापूर्ण योजना से दूर कर देता है"[3] दिनकर इसका श्रेय कवि-कौशल को देते हुए कहते हैं कि जहाँ- "वैज्ञानिक पद्धति से प्रयुक्त शब्द ऐसे अर्थ देने में असमर्थ होते हैं क्योंकि शब्दों के भीतर वे अर्थ होते ही नहीं। यह तो कवि-कौशल का चमत्कार है कि वह कई शब्दों को कलापूर्वक आसपास बिठाकर कोई ऐसा अर्थ उत्पन्न कर दे हो अलग-अलग खोजने पर किसी भी एक शब्द में नहीं मिल सकता।"[4]

इन तमाम आशंकाओं के बावजूद दिनकर वैसे छन्दों की आवश्यकता महसूस करते हैं, जो गद्य के निकट है। परम्परा से भिन्न होने के कारण परम्परावादी लोग शायद ऐसे छन्दों को स्वीकृत करने में कठिनाई महसूस करते हैं। पर दिनकर नये कवियों के लिए इसे आवश्यक मानते हैं। स्वयं वे भी परम्परागत छन्दों से किंचित हटकर चलने लगे थे और ऐसे छन्दों को उन्होंने भी अपनाया था जो गद्य की भंगीमा लिए हुए हैं। 'तुम क्यों लिखते हो', 'शबनम की जंजीर', 'नीलकुसुम'[5] आदि रचनाओं के छन्दों को उन्होंने गद्य के निकट माना है।

इस तरह उन्होंने छन्द को काव्य के लिए आवश्यक माना है। पर यदि युग के छन्द दूसरे युग की भावदशा को पकड़ने में समर्थ नहीं है, तो उनका परिष्कार या त्याग भी ज़रूरी बतलाया है, क्योंकि युग और भाव के अनुकूल छन्दों को नहीं ग्रहण करने से अभिव्यक्ति बोझिल होती है, और उसमें चुस्ती और प्रभावोत्पादकता उत्पन्न नहीं होती। अभिप्राय यह की नये छन्द के लिए यह आवश्यक है कि वह बौद्धिक चिंतन की कठोरता, संकेतात्मकता आदि को वहन कर सके और नवयुग को सफल अभिव्यक्ति दे सकें।

---

1 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 67-68
2 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 68
3 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 67-68
4 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 68
5 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 68

2.2.4.2. दिनकर के हिन्दी छन्द-सम्बन्धी विचार :

अपनी आलोचना पुस्तक 'मिट्टी की ओर' में दिनकर ने हिन्दी छन्दों पर पर्याप्त विचार किया है। उनका कहना है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध ने हिन्दी में, नवयुग ने भावों के क्षेत्रों में विविधता पैदा की। उसके फलस्वरूप छन्द जगत् में भी बड़ी क्रांति हुई। इससे छन्दों के क्षेत्र में भावों का समावेश हुआ। यों तो प्रत्येक युग ने चाहे वह भारतेन्दु युग हो या प्रयोगवाद और नई कविता का युग-अपनी भावदशा के अनुकूल छन्दों को ग्रहण किया अथवा उसमें अपेक्षित परिवर्तन किया। पर आरंभिक हिन्दी के भी अनेक छन्द हैं जो बाद के युग के कवियों द्वारा सफलतापूर्वक प्रयुक्त किये गये। उनमें कुछ छन्द ऐसे भी हैं जो एक खास समय में प्रचलित होकर फिर व्यवहृत नहीं हुए। अनेक छन्द ऐसे हैं जिनको थोड़े से परिवर्तन के साथ भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग तथा छायावादी युग के कवियों ने अपनाया और उनका सफल प्रयोग किया। हिन्दी में संस्कृत के भी वर्णिक और मात्रिक छन्दों को कहीं उनके सहज रूप में, और किंचित परिवर्तन करके ग्रहण किया गया है। उर्दू छन्दों से प्रभावित होकर भी कवियों ने सांगीतिकता और कोमलता की सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति की है। हिन्दी कवि कहीं-कहीं अंग्रेज़ी के छन्दों में पंद-चामर, अमतस्वनि, रोला, छप्पय, दोहा, कवित्त, सवैया, पद्धरि, बरवै, शक्ति, वीर, ताटंक, ककुभ, लावनी, गीतिका, हरिगीतिका, विधाता, राधिका, ललित, सरसी, आदि अनेक छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

दिनकर के अनुसार- "हिन्दी साहित्य में रोला, छप्पय, दोहा, और कवित्त कुछ ऐसे छन्द है जो सर्वाधिक रूप से सभी कालों में प्रयुक्त हुए हैं।"[1] कवित्त और सवैया की महत्ता स्थापित करते हुए उन्होंने इन्हें- 'हिन्दी का कल्पवृक्ष'[2] कहा है, कारण यह कि- "कवित्त और सवैयों का व्यापक प्रयोग भक्तिकाल से आरंभ हुआ तथा रीतिकाल आते-आते वह कवियों

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 67

2 मिट्टी की ओर, पृ. 68

के सामने अभिव्यक्ति का प्रायः एक मात्र माध्यम बन गया।"[1] यह परम्परा आगे भी चलती रही तथा "कवित्त और सवैयों का प्रभुत्त्व प्रायः भारतेन्दु युग तक बना रहा। भारतेन्दु जी तथा उनके समकालीन सहकर्मियों ने इन छन्दों का खूब ही उपयोग किया।"[2] इसकी पुख्ता वजह यह थी कि ये "विशेषतः आशा, उत्साह और आनंद के छन्द हैं तथा इससे उन भावों की पुष्ट अभिव्यक्ति होती है जो साधारणतः विषाद से सम्बन्ध नहीं रखती"[3] तथा "इसने कभी भी किसी याचक को निराश नहीं किया।"[4] पद्धरि छन्द उल्लास और जागरण को वहन करने वाला है और पर्याप्त प्रचलित भी है। खड़ी बोली के प्रारंभिक युग में ब्रज भाषा का प्रभाव छन्दों पर था, लेकिन इस प्रभाव से मुक्त होने की आवश्यकता भी महसूस की गई। फिर भी, कुछ छन्द बने ही रहे, वीर, तांटक, लावनी, हरिगीतिका आदि भारतेन्दु युग में भी थे और द्विवेदी युग में भी। संस्कृत छन्दों को अपेक्षित परिवर्तन के साथ महावीर प्रसाद द्विवेदी, राय देवी प्रसाद, कन्हैयाला पोद्दार, माखनलाल चतुर्वेदी और मैथिलीशरण गुप्त जैसे कवियों ने अपनाया। 'साकेत' में संस्कृत छन्दों के प्रयोग में गुप्त जी को अदभुत सफलता मिली है।

हिन्दी के छायावाद युग में छन्दों के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। इस युग में प्रवृत्तियों और भावदशाओं की अनेकरूपता मिलती हैं, राजनीतिक-वैयक्तिक चेतना, रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह, सामाजिक जीवन और आर्थिक परिस्थितियों के प्रति क्षोभ, नवनिर्माण की उमंग, स्वाधीनता का भाव, परम्परा के प्रति आक्रोश आदि अनेक भावदशाओं की प्रेरणा के फलस्वरूप यह अनिवार्य हो गया है कि एक ही छन्द में अनेक छन्दों का समावेश हो अथवा छन्द के नियमों का ही परित्याग कर दिया जाए या छन्दों के परम्परागत रूपों में इस तरह का परिवर्तन हो कि विभिन्न मनोदशाओं के अनुकूल भावों का प्रकाशन सफलतापूर्वक किया

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 68
2 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 68
3 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 68
4 मिट्टी की ओर, पृ. 68

जा सके। फलतः इस युग में छन्दों के प्रचलित रूपों में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए और नए छन्दों की सृष्टि भी हुई। वीर छन्द को अपेक्षित परिवर्तन के साथ भावों के अनुकूल समझा गया और इसका सफल प्रयोग हुआ। पद्धरि को भी इस युग में व्यापक स्वीकृति मिली और श्री निर्गुण, श्री मिलिंद, बच्चन, पंत, निराला आदि ने कहीं तो इसे यों ही ग्रहण किया और कहीं अपेक्षित परिवर्तन करके भावाभियक्ति को अधिक सशक्त और चमत्कारपूर्ण बना दिया। निराला ने तो 'पद्धटिका' के परिवर्तित रूप को ही अपने 'तुलसीदास' नामक काव्य में प्रमुखता दी जो कि "निराला जी का अपना आविष्कार है तथा यह कहना कठिन है कि 'तुलसीदास' में जो चमत्कार उत्पन्न हुआ है उसमें इस छन्द का अधिक हाथ है अथवा निरालाजी की विचारपूर्ण कल्पना का।"[1] प्रसाद जी ने करूण और विषण्ण भावों की अभिव्यक्ति के लिए उर्दू से प्रभावित होकर 'आँसू' छन्द का प्रयोग किया जो उनकी ही देन है।"[2] बच्चन जी ने उर्दू गज़लों से प्रभाव ग्रहण कर अपने गीतों में कोमलता और माधुर्य का समावेश किया।"[3] महादेवी ने अपनी गंभीर और साधनापूर्वक अभियक्ति के अनुकूल छन्द ग्रहण किए।"[4] नरेन्द्र जी और सियारामशरण जी ने भी अपनी मनोदशाओं के अनुकूल ही छन्द ग्रहण किए।"[5] नेपाली जी के समान कुछ कवि सिनेमा तथा उर्दू बहरों से भी बहुत प्रभावित हुए।"[6] पर हिन्दी क्षेत्र में सर्वाधिक क्रांति निराला जी ने की- "छन्दोबद्ध से कविता को मुक्त करनेवालों में निराला जी सर्ववरेण्य हैं।"[7] "निराला जी ने छन्द के क्षेत्र में जितना

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 76-77
2 मिट्टी की ओर, पृ. 77
3 मिट्टी की ओर, पृ. 77
4 मिट्टी की ओर, पृ. 78
5 मिट्टी की ओर, पृ. 78
6 मिट्टी की ओर, पृ. 78
7 मिट्टी की ओर, पृ. 72

काम किया, उतना उनके किसी भी समकालीन कवियों से नहीं बन पड़ा।"[1] मुक्त छन्द तो उनकी देन है ही। इसके अतिरिक्त अपनी साधना और उर्वर शक्ति के फलस्वरूप उन्होंने अनेक नये छन्दों को रचा, अनेक प्राचीन छन्दों को परिवर्तित कर नवीनता का जामा पहनाया और युग का भाव वहन करने योग्य बनाया। उन्होंने पूर्व के छन्दों को हिन्दी भूमि के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत किया। उनमें नवीनता, गांभीर्य और संगीत की अलौकिकता का समावेश किया। संस्कृत और अंग्रेजी छन्दों से भी उन्होंने अनेक चीज़ें ग्रहण कर हिन्दी छन्द में क्रांति पैदा की। इस सम्बन्ध में दिनकर कहते हैं- "नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए छन्दों का अनुसंधान करते हुए उन्होंने कितने पुराने छन्दों का उद्धार तथा कितने नवीन छन्दों की सृष्टि की है। अपनी लय चेतना के बल पर बढ़ते हुए उन्होंने तमाम हिन्दी-उर्दू छन्दों को ढूँढ़ डाला है तथा कितने ही ऐसे छन्द रचे हैं जो नवयुग की भावाभिव्यंजना के लिए बहुत ही समर्थ हैं।"[2]

प्रगतिवादी युग में कोई परिवर्तन लक्षित नहीं हुआ, पर प्रयोगवाद और नई कविता की भूमि छन्दों को आवश्यकतानुसार ग्रहण और त्याग करने लगी।

निचोड़ यह कि दिनकर के अनुसार हिन्दी काव्य ने अपनी भावभूमि के अनुकूल प्राचीन और नवीन छन्दों को उसके मूल एवं परिवर्तित रूप में ग्रहण किया।

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 73

2 मिट्टी की ओर, पृ. 73

अध्याय-तीन

दिनकर की व्यावहारिक आलोचना

3.1. मैथिलीशरण गुप्त :

भारतीय संस्कृति के आख्याता कवि मैथिलीशरण गुप्त के संबंध में विचार करते हुए दिनकर ने उन्हें कई रूपों में चित्रित किया है- (क) खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि के रूप में, (ख) भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि के रूप में, (ग) पुनरुत्थानवादी कवि के रूप में, (घ) नारी भावना के आख्याता कवि के रूप में, (ङ) वैष्णव भावना को पुनर्स्थापित करने वाले रचनाकार के रूप में तथा (च) सांस्कृतिक चेतना के उद्घोषक के रूप में।

खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि के रूप में गुप्तजी पर विचार करते हुए दिनकर ने उन्हें द्विवेदी युग का सबसे बड़ा प्रकाश-स्तंभ माना है। गुप्तजी का साहित्य वस्तुतः खड़ी बोली का ही साहित्य है जिसमें भाव, भाषा-अभिव्यक्ति, कौशल आदि कई दृष्टियों से उनका योगदान स्तुत्य है- "खड़ी बोली की कविता का बहुत बड़ा इतिहास गुप्तजी की कृतियों का इतिहास है। उन्होंने खड़ी बोली को उँगली पकड़कर चलना सिखाया, उसकी जिह्वा को शुद्ध किया तथा उसके हृदय में प्रेम एवं मस्तिष्क में अभिनव विचारों का संचार किया। उनका उत्थान द्विवेदी-मण्डल के सबसे बड़े प्रकाश स्तंभ के रूप में हुआ जिसके दूरगामी प्रकाश में खड़ी बोली ने अपनी गन्तव्य दिशा का ध्यान एवं अपने आदर्श का अवलोकन किया।"[1] खड़ी बोली के स्वरूप-निर्धारण एवं विकास की दृष्टि से गुप्त जी के योगदान को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता- "भारतेन्दु के बाद से अब तक के हिन्दी-कवियों में श्री मैथिलीशरण गुप्त निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ हैं।"[2] उन्होंने खड़ी बोली की कल्पना, चित्रात्मकता और भावना की व्यंजना का समावेश किया जिसके कारण खड़ीबोली काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो सकी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में इस बात का समर्थन किया है। भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि के रूप में गुप्तजी का स्थान सबसे ऊपर है इसके कारणों पर विचार करते हुए दिनकर कहते हैं

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 108-109

2 मिट्टी की ओर, पृ. 108

कि- ''शंका और सन्देह के युग में उन्होंने आस्तिकता की भारतीय परंपरा की वाणी को सुदृढ़ बनाया, साहित्य में वैष्णव धर्म को पुनर्जीवित किया, इतिहास को काव्य में रूपान्तरित करके उसमें जीवन डाला, पराधीन देश को अपनी शक्ति की याद दिलाई और शुद्ध आर्य-संस्कृति की जागृति को अधिक-से-अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा की। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू-जाति के सभी प्रिय भावों का व्यापक प्रतिनिधित्व किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि आज हिन्दू-जनता के हृदय पर उनका ऐसा साम्राज्य है जैसा बहुत दिनों से किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हुआ था।''[1] गुप्त जी ने जिस तरह जनता की मनोदशा, आकांक्षा, आशा और उल्लास एवं उसके समस्त संस्कारों का प्रतिनिधित्व अपनी रचनाओं में किया यह सायास ही है कि उन्हे जनता से श्रद्धा और विश्वास प्राप्त हुआ। पन्त, प्रसाद, और निराला जी की महत्ता को दरकिनार न करते हुए भी दिनकर गुप्त जी के प्रति अपने विचार प्रकट करते हैं- ''फिर जहाँ केवल एक प्रतिनिधि चुनने की बात हो वहाँ केवल कला की विलक्षणता ही विचारणीय नहीं होती, यह भी देखना पड़ता है कि जनता ने अपना प्रेम और विश्वास किसे समर्पित किया है। जाति का प्रतिनिधि कवि केवल समकालीन साहित्य की विशिष्टताओं का ही प्रतीक नहीं होता, वह उसकी पूरी मनोदशा, आकांक्षा, आशा, और उल्लास एवं उसके समस्त संस्कार का भी प्रतिनिधित्व करता है। इस दृष्टि से विचार करने पर संदेह की तनिक भी गुंजाइश नहीं रह जाती की श्री मैथिलीशरण जी अठारह करोड़ हिन्दी-जनता के सबसे बड़े प्रतिनिधि कवि और हमारे गौरव हैं। इस पूजनीय पद पर गुप्तजी के आसीन होने से सभी समकालीन कवियों एवं हिन्दी-जनता के विशाल समुदाय को हार्दिक प्रसन्नता होती है।''[2] यह गौरव संसार में कम कवियों को ही प्राप्त हुआ।

अपने संपूर्ण साहित्य में गुप्तजी प्रगतिवादी एवं पुनरुत्थानवादी चेतना का प्रतिनिधित्व भी करते हैं- ''उनकी आभ्यान्तर श्रुति-चेतना प्रगतिमयी है। समय की प्रत्येक

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 108

2 मिट्टी की ओर, पृ. 108

आवाज उन्हें स्पष्ट सुनाई पड़ती है और वह उसे बड़ी ही प्रसन्नता से छन्दों में बाँधते हैं।"[1] "किन्तु, पुनरुत्थान की ध्वजा हिन्दी प्रान्तों में सबसे पहले स्वामी दयानन्द अथवा उनके शिष्यों ने उठायी, इस निष्कर्ष से भागना कठिन है। और उतना ही कठिन इस बात से भी भागना है कि हिन्दी में इस पुनरुत्थान के प्रतिनिधि-कवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त हुए।"[2] "पुनरुत्थान ने हमारी सारी संस्कृति, संपूर्ण इतिहास और समग्र विश्वास पर जो नया आलोक फेंका, उसकी अधिक-से-अधिक अभिव्यक्ति, सबसे प्रथम, श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की कविताओं में ही हुई। इसलिए, हिन्दी में पुनरुत्थान के कवि वे ही माने जायेंगे।"[3] हिन्दी में पुनरुत्थान के भाव भारतेन्दु तथा उनके समकालीन कवियों के साथ ही प्रकट होने लगे थे और तभी से हिन्दी भाषी जनता के बीच एक नयी रुचि भी उदित होने लगी थी- "जब मैथिलीशरण जी का आविर्भाव हुआ, उसके पूर्व ही, पुनरुत्थान ने हिन्दी में नये क्षितिज का निर्माण कर दिया था। किन्तु, उस क्षितिज पर खड़े होकर गुण और परिमाण, दोनों ही दृष्टियों से, पुनरुत्थान को जितनी अभिव्यक्ति गुप्त जी ने दी, उतनी उनके पूर्व का कोई भी कवि नहीं दे सका था।"[4] राष्ट्र को तंद्रा से जगाने के लिए उन्होंने 'भारत-भारती' लिखी। भारतेन्दु युग की प्रगतिशील चेतना को भी गुप्तजी के काव्य में सर्वाधिक अभिव्यक्ति मिली। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रभावस्वरूप भारत में जो सांस्कृतिक जागरण राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, गाँधी, तिलक, गोखले आदि के द्वारा हुआ, उससे गुप्तजी पूर्णतः प्रभावित हैं। इसका आख्यान उन्होंने अपनी समष्टिवादी एवं प्रवृत्तिवादी भावना एवं नारी भावना के द्वारा किया है। उनकी यही चेतना उनके काव्य की प्रमुख चेतना है। वे पुनरुत्थानवादी कवि हैं, किन्तु पुनरुत्थान का आख्यान करते हुए भी उन्होंने अपनी हिन्दू भावना की रक्षा की है। प्रवृत्तिवादी भावना की स्थापना के रूप में

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 108
2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 15
3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 15
4 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 16

उन्होंने यशोधरा काव्य का उपहार हिन्दी साहित्य को दिया है। इस काव्य के द्वारा वैदिक धर्म का समर्थन होता है। नारी भावना का आख्यान उन्होंने 'साकेत', 'यशोधरा', और 'विष्णुप्रिया' में किया है। गुप्त जी की नारी-भावना की पूरी अभिव्यक्ति, "साकेत, यशोधरा, द्वापर और विष्णुप्रिया में हुई है। साकेत, यशोधरा और विष्णुप्रिया में से प्रत्येक काव्य की मूल-प्रेरणा ही किसी-न-किसी नारी के प्रति कवि की एकान्त भक्ति थी। उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया ये तीनों नारियाँ पुरुषों के वैराग्य से पीड़ित नारियाँ हैं और इस रूप में, वे भारत की उन असंख्य नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनके पतियों ने उन्हें अपनी मोक्ष-सिद्धि के मार्ग की बाधा मानकर छोड़ दिया अथवा जिनका वैवाहिक जीवन इसलिए कष्टमय हो गया कि उनके पति किसी बड़े लक्ष्य की सिद्धि में जा लगे थे। इन तीनों नारियों में से केवल उर्मिला ही ऐसी थी, जिसका वियोग निरवधि नहीं रहा। बाकी दोनों नारियाँ तो विरह के बाद आजीवन जीवित वैधव्य झेलती रहीं। ये तीनों नारियाँ भारतवासियों की स्मृति में व्यक्तित्वविहिन होकर जीती चली आ रही थीं। यह बहुत अच्छा हुआ कि राष्ट्रकवि के हाथों उनमें से प्रत्येक को उनका व्यक्तित्व प्राप्त हो गया। और यहाँ भी जिसके जीवन में जितनी करुणा थी, उसके व्यक्तित्व में चमक भी उतनी ही आयी है।"[1] दिनकर का कहना है कि वियोग और करुणा को आधार बनाकर असंख्य काव्यों की सृष्टि हुई है, पर पुरूष की वैराग्य भावना पर उससे चोट नहीं पड़ी, हिन्दी काव्य में इसकी ओर सबसे पहले गुप्त जी का ध्यान ही गया।

गुप्त जी की वैष्णव भावना पर विचार करते हुए दिनकर ने कहा- "गुप्तजी की अधिकांश रचनाओं के भीतर एक भक्ति विह्वल हृदय का पवित्र आवेग है, जो इस युग में एकमात्र उन्हीं की विशेषता है।"[2] वे रामभक्तिशाखा के वैष्णव कवि हैं, किन्तु उनमें नवीन

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 23

2 मिट्टी की ओर, पृ. 110

युग का प्रभाव भी है। तुलसी की आत्मा उनमें झलक मारती है। गुप्तजी में उन्हें रहस्यवादी कवि का रूप भी दिखलाई पड़ता है जो 'झंकार' काव्य की विशेषता है।

कवि के रूप में भारतीय सांस्कृतिक चेतना का उद्‌घोष ही गुप्तजी का मूल स्वर है। अतीत और वर्तमान को जोड़कर भविष्य का मंगलस्वप्न उनकी इसी भावना की उपज है। प्राचीनता के धरातल पर खड़े होकर नवीनता के आख्यान में वे संस्कृति के संरक्षक प्रतीत होते हैं। यह काम उन्होंने रामायण और महाभारत का आधार ग्रहण कर किया है। इस बात के प्रमाण उनकी रचनाएँ हैं।

इन भावधाराओं के अतिरिक्त गुप्तजी के काव्य में- उनकी उत्तरवर्ती रचनाओं में- मार्क्स का भी प्रभाव है। दिनकर एक और तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, वह है-युद्ध की समस्या। दिनकर का कहना है कि युद्ध की समस्या पर उन्होंने आत्ममंथन नहीं किया है और इससे संबंधित उनकी कविताएँ गाँधी से प्रभावित लगती हैं।

गुप्तजी की भाषा-शैली में भी युगानुरूप परिवर्तन हुए हैं, ऐसा दिनकर का मत है। जैसे-जैसे उनकी अनुभूतियाँ नये-नये स्तरों पर विचरती रही हैं, वैसे-वैसे उनकी शैली में भी परिवर्तन होता रहा है- "गुप्तजी प्राचीनता के सन्देशवाहक नवीन कवि हैं। वर्तमान कविता के इतिहास में उनका स्थान एक महासेतु की तरह है, जिसका आदि स्तंभ 'भारत-भारती' है तथा अन्तिम स्तंभ अभी लगने को बाकी है, यद्यपि उसमें 'झंकार', 'पंचवटी', 'साकेत' और 'यशोधरा' के सुदृढ़ खम्भे यथास्थान लगते ही आये हैं। इतने दिनों के भीतर उन्होंने बैठकर कभी विश्राम नहीं किया। ऐसा लगता है कि गुप्तजी के भीतर रूढ़ियाँ बन ही नहीं सकतीं। उनकी आभ्यान्तर श्रुति-चेतना प्रगतिमयी है। समय की प्रत्येक आवाज उन्हें स्पष्ट सुनाई पड़ती है और वह उसे बड़ी ही प्रसन्नता से छन्दों में बाँधते हैं। आरंभ में उन्होंने जिस शैली को अपने अनुकूल पाकर अपनाया था वह ढाँचे में अब भी उनके साथ है, किन्तु समय के साथ घिसने की जगह उसमें और नये पंख ही निकल आये हैं। 'पंचवटी' की शैली वही है जो 'शकुन्तला' में प्रयुक्त हुई थी, किन्तु अब

वह पूर्व की अपेक्षा अधिक चैतन्य, अधिक विलक्षण और विस्मयपूर्ण है। कौन जानता था कि 'मंगल घट' की शैली का ऐसा विकास होगा जिसमें 'झंकार' के गीतों की रचना की जा सकेगी?.....गुप्तजी ने किसी भी समय अपनी शैली को एकदम बदल तो नहीं दिया, किन्तु अनुभूतियों के विकास- क्रम में, नई-नई भूमियों में पदार्पण करते हुए, उन्होंने अपनी शैली में कई बार ऐसे परिवर्तन किये जो प्रायः आमूल क्रांति के समान थे। ऐसी क्रांति के उदाहरण 'मंगल-घट' और 'झंकार' की तुलना से अनायस ही मिल जाएँगे। 'द्वापर' की यह पंक्ति- 'झुक वह वाम कपोल चूम ले यह दक्षिण अवतंस हरे', 'जयद्रथ-वध', 'शकुन्तला' अथवा पूर्वरचित द्वापर-संबंधी अन्य किसी भी कविता की पंक्ति से भिन्न तथा अधिक विलक्षण शैली का परिचायक है। 'साकेत' तो ऐसा महाग्रन्थ है जिसमें कवि की शैली की अनेक रेखाएँ एक ही स्थल पर जगमगा रही हैं। महाकवि की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि स्वयं काव्य रचने के साथ-साथ वह अपने रचना के प्रभाव से अन्य समकालीन कवियों को भी नई भावनाओं की ओर प्रेरित करे।"[1] वे द्विवेदी युग के कवि हैं, पर छायावादी प्रभाव से अछूते नहीं हैं। जहाँ तक उनकी भाषा का प्रश्न है, उसमें खड़ी बोली की सामर्थ्य और छायावाद की कोमलता- दोनों का समावेश है- "छायावाद ने कोमलता की आराधना में अपनी शक्ति न्यून कर दी थी। द्विवेदी-युग की भाषा में शक्ति तो थी, किन्तु, वह अनगढ़ रूप की शक्ति थी। मैथिलीशरण जी ने दोनों की कमियों को पहचान कर छायावाद के समय अपनी भाषा में जो परिवर्तन किया उससे उनकी अपनी कविताओं में तो नया निखार आया ही, वह हम जैसे छायावादोत्तर कवियों के लिए भी प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ।"[2] दिनकर के अनुसार उनकी कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिसमें भाषा और भाव, दोनों स्तरों पर कवि के जागृत रहने का प्रमाण मिलता है- "कविता में भाषा और भाव के बीच होड़ होनी चाहिए और इस होड़ में प्रत्येक के भीतर जितनी शक्ति हो,

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 110

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 40

उतनी दूर तक आगे बढ़कर उसे अपना विकास करना चाहिए। किन्तु, इतना ही यथेष्ट नहीं है। इस होड़ में भाषा और भाव चाहे जितना भी आगे बढ़ जायें, किन्तु, कविता सफल तभी होगी जब दोनों एक धरातल पर पहुँचे हों। भाव और भाषा के बीच 'परस्परस्पर्धी-सम-भाव' कविता की सफलता की पहचान है।"[1] मैथिलीशरण जी की- "पंक्तियों में भाषा और भाव के बीच संतुलन की यह अवस्था प्रत्यक्ष दिखायी देती है।"[2]

अभिप्राय यह कि दिनकर ने गुप्तजी को आधुनिक हिन्दी के एक महान युगप्रवर्तक रचनाकार के रूप में माना है।

3.2. माखनलाल चतुर्वेदी :

माखनलाल चतुर्वेदी को हिन्दी जगत् 'भारतीय आत्मा' के नाम से जानता है, जिसका तात्पर्य यह है कि उनमें भारत की राष्ट्रीयता का ज्वार अत्यन्त प्रखर था। दिनकर ने माखनलाल चतुर्वेदी के कवि-व्यक्तित्व पर विचार करते हुए उनमें निहित अनेक तथ्यों को प्रकाशित किया है।

दिनकर कहते हैं कि- "पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी शरीर से योद्धा, हृदय से प्रेमी, आत्मा से विह्वल भक्त और विचारों से क्रांतिकारी हैं। किन्तु, साहित्य में इनके व्यक्तित्व के ये चार गुण अलग-अलग प्रतिबिम्बित नहीं होते; साधना की आग में पिघलकर सभी एकाकार हो जाते हैं। उनको कविताएँ उनके इन चार रूपों की मिश्रित व्यंजना हैं। भक्त और प्रेमी, साधारणतः, योद्धा और क्रांतिकारी से कुछ भिन्न होते हैं; किन्तु जब हृदय और आत्मा ने माखनलालजी को कवि बनने पर मजबूर कर दिया, तब शरीर और विचार ने कवि के सामने अपने मत्थे टेक दिये और चारों धाराएँ मिलकर एक ही प्रवाह में बहने लगीं।.....उनके व्यक्तित्व के सभी अंग परस्पर मिले हुए और एकाकार हैं तथा उनमें

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 41

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 41

से एक की समस्या सभी की समस्या और एक का निदान सभी का निदान है। उनके भीतर के योद्धा, विचारक, प्रेमी और भक्त, सब के सब एक ही लक्ष्य की ओर चलते हैं और कविता के द्वारा चतुर्वेदी जी ने आत्म-विकास की जो सीढ़ियाँ बनाई, उनमें से प्रत्येक पर इन सभी यात्रियों के पद-चिन्ह हैं। उनके जीवन में साधना और सिद्धि, ज्ञान और कर्म तथा शरीर और आत्मा में भिन्नता नहीं है। ऐसा नहीं है कि आत्मा उन्होंने भगवान को और शरीर स्वदेश को दिया हो। देश-भक्ति उनके लिए परोपकार का प्रतिमान नहीं, आत्मविकास का ही माध्यम है। इसी प्रकार उपासना उनके लिए केवल आत्मा का ही धन नहीं, शरीर की भी संपत्ति है। शरीर और मन एवं अस्तित्व के सारे उपकरणों को उन्होंने एक ही अराध्य के चरणों पर न्योछावर कर दिया है।.....माखनलालजी की कविताओं में दमनजनित यातनाएँ विकास की सीढ़ियाँ, आत्मा की दीप्ति और धर्म का उपकरण बनकर उपस्थित हुई हैं। राष्ट्र-सेवा और आराध्योपासना एक ही लक्ष्य की ओर जानेवाली ज्योति की दो पगडण्डियाँ हैं; प्रत्युत् यह कहना अधिक युक्तियक्त होगा कि कवि के शब्द-कोष में ये एक ही साधना-मार्ग के दो विभिन्न नाम हैं।"[1]

काव्य हो अथवा राजनीति या देश-भक्ति, सभी माध्यमों में उन्होंने अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व को ही वाणी दी है। गाँधी हों अथवा कृष्ण, सभी उनकी आराधना के उपकरण बनकर आए हैं। उनकी अध्यात्मिक प्रेरणाएँ विभिन्न रूपों में उद्भाषित हुई हैं, किन्तु आध्यात्मिक जगत् में विचरते समय भी उनके पाँव धरती पर ही रहे। सदैव इस बात की अनुभूति बनी रहती है कि जब वे अध्यात्म की भूमि में प्रवेश करते हैं तब भी बलिदान और वीरता उन्हें नहीं भूलती- "बलिदान के लिये रसमयी उत्तेजना, बलिदानी की मनोभूमि का आध्यात्मिक अन्वेषण, बलिदानी की पूर्णता पर विजयोल्लास, बलिदान को कृष्णार्पण को वस्तु समझना और अपरिग्रह तथा त्याग को महिमा की आध्यात्मिक टीका, माखनलालजी की कविता में ये स्वर बार-बार गूंजते हैं। प्रेम हो या अध्यात्म,

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 115-116

प्रकृति-दर्शन हो अथवा कल्पना का लीला-विकास, माखनलालजी की प्रत्येक मनोदशा में बलिदान की मधुरता किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहती है। केवल विद्यमान ही नहीं रहती, प्रत्युत् वर्ण्य विषय में अलौकिक तेज एवं माधुर्य की सृष्टि कर देती है। देश के लिये यातना-सहन की प्रक्रिया उनकी दृष्टि में धर्म का सबसे उज्जवल रूप है। इसे वे कहीं भी नहीं भूल सकते। प्रकृति की सुन्दरताओं के देखते-देखते उन्हें बेड़ियों में बँधे अपने स्वदेश-मन्दिर की याद आती है; बाँसुरी बजाते-बजाते उन्हें रणडंका बजाने की चाह होती है; गान आरंभ करने के साथ ही उनमें उल्लास जग पड़ता है और वे स्वर से नभोवितान को कँपा देना चाहते हैं; आराध्य जब उन्हें अपने हृदय का हार बनाना चाहता है तब वे यह कहकर उसकी वर्जना करते हैं कि वे किसी अन्य देवता पर पहले ही चढ़ चुके हैं; प्रेमिका जब उन्हें वरण करने को आती है तब वे मील का पत्थर बन जाते हैं। और यह व्यंजित करते हैं कि उनका हृदय कहीं अन्यत्र अर्पित हो चुका है।"[1] उनमें सारी चीजें इस तरह अर्न्तगुम्फित हो गयी हैं कि- "देश के लिए शूली पर चढ़नेवाला उनको कल्पना का तपस्वी अपने प्राण विसर्जित करते हुए, शायद, यह कहेगा कि 'देवता! यह लो मेरी पूर्णाहुति और मुझे स्वीकार करो।' इसी प्रकार उनकी कल्पना का योगी ध्यानस्थ होने पर, शायद, यह कहेगा कि 'प्रभो, मेरी वैयक्तिक मुक्ति किस काम की यदि मेरा प्यारा देश मुक्त नहीं हुआ?"[2] एक साधक को शरीर और आत्मा दोनों स्तरों पर जगने की आवश्यकता होती है। माखनलालजी भी अपने भीतर और बाहर दोनों स्तरों पर जागरूक थे। इस संबंध में माखनलालजी ने स्वयं अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व का परिचय दिया है-'दृष्टि का काम बाहर को भी देखना है और भीतर को भी' तथा 'अपने परम अस्तित्व तक ऊँचे उठकर रह सकना मुक्ति है।"[3] इस संबंध में दिनकर की माखनलाल

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 118
2 मिट्टी की ओर, पृ. 116
3 मिट्टी की ओर, पृ. 122

संबंधी यह व्याख्या बड़ी ही सटीक प्रतीत होती है- "और सत्य ही मिट्टी के सारे आवेगों को समेटकर वे सदैव अपने परम अस्तित्व की ओर उड़ना चाहते हैं। अध्यात्म तो धरती से दूर है ही, उनकी देशभक्ति भी स्थूलता को छोड़कर तथा बाह्य-जीवन से उठकर मानस-जगत् में चली जाती है और वहाँ पहुँचकर अध्यात्म के ही आकाश का एक अंग बन जाती है।"[1]

माखनलाल जी की कविता पर एक साहित्यकार के रूप में विचार करते हुए दिनकर ने उन्हें मूलतः छायावादी-रहस्यवादी कवि के रूप में देखा है, अपने अनुभवों का जिक्र करते हुए दिनकर हमें माखनलाल जी के छायावादी-रहस्यवादी पक्ष को बताने की कोशिश करते हैं- "मैं उनकी कविताओं को बड़े ही चाव से पढ़ता तथा अपने सहपाठियों को सुनाता था। किन्तु, जैसे-जैसे समय बीतता गया, मेरे लिए उनकी कविताएँ अधिक आकर्षक और साथ-साथ अधिक कठिन भी होती गईं। ऐसा लगता है कि जैसे-जैसे छायावाद का युग समीप आता गया, वैसे-वेसे माखनलालजी की वाणी अधिक गंभीर तथा धूमिल होती गई। छायावाद की कुहेलिका का आरंभ सबसे पहले उन्हीं की रचनाओं में हुआ था और, शायद, उसका सर्वाधिक गहन रूप भी उन्हीं की रचनाओं में विद्यमान है। बहुत अंशों में वे छायावाद के अग्रदूत थे। द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता को भेदकर सन् १९२३ ई० अथवा उसके पूर्व से ही वे हिन्दी के वक्षस्थल पर नई अभिव्यंजना की सुरम्य रेखाएँ खींचने लग गये थे जो इस बात को स्पष्ट कर देती रही थीं कि हिन्दी कविता में अभिव्यंजना की कोई नई एवं बलवती शैली जन्म लेने जा रही है। अधिकाधिक वक्रोक्ति-सृष्टि के प्रयास से जन्म लेने वाली दुरूहता अगर छायावाद की कोई विशिष्टता थी, तो इसका चरम विकास माखनलालजी में हुआ है। इस दृष्टि से वे चाहे छायावादी धारा के सबसे बड़े प्रतिनिधि कलाकार भले ही मान लिये जायें, किन्तु दुरूहता को प्रश्रय

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 122

देना का दायित्व उनके साथ रहेगा।"[1] ऐसे में यह कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में देशभक्ति की भावना है, प्रखर राजनैतिक चेतना है, गहरी आध्यात्मिक भावना है। अन्तर सिर्फ इतना है कि माखनलाल का आदर्शवाद यथार्थोन्मुख आदर्शवाद है, मात्र सपनों और कल्पनाओं पर आधारित नहीं। हिन्दी कविता में अभिव्यक्ति की जिस नई शैली को छायावाद नाम दिया गया, वह माखनलालजी में भी दिखायी पड़ी। उनमें उद्दाम भावुकता, विदग्धता और सहानुभूति की वेधकता, देशप्रेम और राजनीति आदि विशेषताएँ तो थीं हीं छायावाद की दुरूहता और अस्पष्टता भी थी।

जहाँ तक उनकी देशभक्ति का प्रश्न है, उन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा जनजागरण का काम भी किया था। उनकी राजनैतिक अनुभूतियाँ प्रचार का माध्यम नहीं थीं, किन्तु अनुभूति की तीव्रता और वेधकता के कारण उसने समस्त राष्ट्र को आन्दोलित किया। इसका एक और भी कारण है, कि उनकी अनुभूतियों में समस्त राष्ट्र का स्वर निनादित हुआ है। दिनकर का कहना है कि- "माखनलाल जी की कविताएँ केवल कविताएँ नहीं थीं। कविताएँ होती हुई भी वे कविताओं से कुछ बड़ी चीज थीं। वे व्यक्ति की नहीं, समग्र राष्ट्र की भावनाएँ थीं, एक युग की नहीं, भारत के पूरे इतिहास की आवाज़ थीं। माखनलाल जी केवल अपना हृदय ही नहीं हिलोरते थे, कविताओं के द्वारा वे सारे देश का हृदय हिलोर देते थे। जन-जीवन में कविता कितना बड़ा आलोड़न मचा सकती है, इसके जितने बड़े प्रमाण माखनलाल जी की कविताओं ने दिये, उतने बड़े प्रमाण इतिहास में कभी-कभी ही देखने को मिले होंगे।"[2] दिनकर उनकी दो कविताओं 'मरण-त्योहार' एवं 'क़ैदी और कोकिल' का उदाहरण देते हुए माखनलाल जी की देशभक्ति को और भी पुख़्ता करते हैं, शासन के अत्याचार, युवकों की वीरता और देश की विवशता और बेचैनी से भरी हुई इन कविताओं ने सारे हिंदी-भाषी भारत का हिला दिया। अंग्रेज़ी सल्तनत के खिलाफ़ भारतवासियों के हृदय में जो आक्रोश भरा था, मानों

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 120

2 संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ, पृ. 40

वही आक्रोश माखनलालजी जी की इन कविताओं में फूट पड़ा था। "देश-भक्ति के आवेग ने माखनलाल जी को मथा और अपनी कविताओं के ज़रिये उन्होंने सारे देश के हृदय को मथ डाला।"[1]

माखनलाल जी की वक्तृत्व शैली के दिनकर कायल थे, उनके वक्ता पक्ष के बारे में वे कहते हैं- "जिन लोगों ने माखनलाल जी का भाषण नहीं सुना, वे हमारे कहने से यह नहीं समझ पायेंगे कि हिंदी वक्तृता की कैसी अद्‌भत शक्ति है अथवा पुराने जमाने में नबी और पैगंबर किस आवेश में बोलते रहे होंगे। पटना के स्वर्गीय सच्चिदानंद सिन्हा हिंदी की शक्ति से अपरिचित थे और इसी कारण वे हिंदी की मखौल उड़ाया करते थे। किंतु सन् 1935 ई. में जब पंडित माखनलाल चतुर्वेदी जी पटना पधारे, उनका व्याख्यान एक दिन सिन्हा साहब ने भी सुना और भाषण सुनकर वे बिलकुल चकित रह गये। फिर उन्होंने माखनलाल जी के सम्मान में बहुत बड़ी पार्टी दी और बार-बार व्याख्यान सुनने को वे सभाओं में सम्मिलित होते रहे। इसी प्रकार उन्होंने एक बार माखनलाल जी के पांव पकड़ लिये और कहा कि 'महाराज, ऐसा भाषण मैंने आज तक नहीं सुना था।'"[2]

इस तरह उनकी कविताएँ सोद्देश्य नहीं होते हुए भी अनुभूतियों के बल पर जन-जीवन में छायी रही हैं। उनके देशभक्त कवि के रूप की एक और विशेषता का उल्लेख वांछनीय है। वह है-उनका बलिदानी रूप। पराधीन देश की बड़ी शक्ति के बलिदान में मानते हैं- और इस बलिदानी रूप की अभिव्यक्ति भी उनके काव्य में अनेक स्थलों पर हुई है। यह बलिदान का भाव आध्यात्मिक स्तर पर भी उनमें विद्यमान रहा है। जहाँ तक राजनैतिक चेतना का प्रश्न है, वह उनकी कविता में विलीन हो गई है और आत्मविकास का साधन ही बन गई है, न कहीं इसमें स्वार्थ की भावना है, न पदलोलुपता की। दिनकर उन्हें रहस्यवादी कवि भी मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि उनकी काव्यसामग्री रहस्यवादी है। इसका एक कारण उनका भक्तरूप है, दूसरा शैली की वैयक्तिकता।

---

1 संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ, पृ. 42

2 संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ, पृ. 43

वैयक्तिक शैली के कारण भी उनकी रचनाओं में दुरूहता एवं अस्पष्टता है। ऐसी कविताएँ आकर्षक होते हुए भी सामान्य पाठकों की समझ के परे हैं। उनके माधुर्य और सौन्दर्य के लोक में पाठक विचरता है, पर उनका रहस्य उसके समक्ष खुल नहीं पाता। उनकी आध्यात्मिकता को दिनकर ने सभी चीज़ों का मूल आधार माना है। अध्यात्म की ओर जाने के लिए ही उन्होंने कविता को अपना माध्यम बनाया जिसमें जीवन को अन्य चीजें भी समाविष्ट हो गई हैं।

उनका यह कवि-रूप उनके स्वाभाविक विकास का परिणाम है, न कि विचारों से प्रेरित। एक कवि के रूप में उनमें भावुकता की प्रबलता के कारण ही दिनकर उन्हें सूफी कवि के निकट रखते हैं पर यह भी कहते हैं कि सूफियों की अपेक्षा उनकी अनुभूति अधिक वास्तविक थी- "माखनलाल जी हृदय सूफी कवियों के समान प्रेम-विह्वल और कातर है। उनमें सूफियों की ही आकुलता, तड़प और विदग्धता का अतिरेक है। भेद इतना ही है कि जहाँ सूफियों की वेदना जीवन की वास्तविकता से उत्पन्न हुई है। सूफियों का का दर्द ख़्याली था, सचाई उसे मनुष्य की विह्वलता से मिली थी। माखनलालजी का दर्द सच्चा है, विह्वलता उसे सिर्फ उसे सुन्दर बनाती हैं। सूफियों की वेदना शून्य से जन्मी थी और मिट्टी पर आकर सत्य हुई। माखनलालजी की वेदना मिट्टी से जन्मी है, आकाश उसे केवल अलौकिकता प्रदान करता है। सूफियों की वेदना निराकार से साकार हुई। माखनलालजी का दर्द साकार से उत्पन्न होकर निराकार में जाकर दिव्य हो गया। सचाई कल्पना की अपेक्षा अधिक प्रभविष्णु होती है; यही कारण है कि माखनलालजी की चीख़ सूफियों की चीख़ की अपेक्षा अधिक वेधक एवं करुण है।"[1] इस भावुकता के कारण ही दिनकर यह भी मानते हैं कि यद्यपि प्रसाद और उनका आविर्भाव एक ही युग में हुआ, पर दोनों के व्यक्तित्व में भिन्नता का कारण माखनलालजी में भावुकता का आधिक्य है।

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 117

माखनलाल की रचनाओं में विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति हुई है। ये भाव है- श्रृंगार, वीर, करुण, रौद्र आदि। इन सभी भावों का उद्देश्य काव्यानंद अथवा अलौकिक आनंद की सृष्टि करना है। ऐसे स्थलों पर आलोचक भी उनके गांभीर्य की थाह लेने में असमर्थ हो जाते हैं। छायावाद युग की अनेक विशेषताओं को अपने काव्य में समाविष्ट करनेवाले माखनलालजी इस बात में दिनकर से भिन्न थे कि उनका आदर्शवाद यथार्थ पर आधारित था। जीवन के विशाल क्षेत्र से उन्होंने अनुभूतियाँ ग्रहण की थीं और कुछ स्थलों को छोड़कर उनकी अभिव्यक्ति भी सफल थी। उनका यह यथार्थोन्मुख आदर्शवाद ही उनको हिन्दी कवियों से भिन्न कर देता है- "वर्तमान साहित्य में वास्तविकता के सिन्धु मंथन से आदर्श की सृष्टि का उनकी कविताएँ एक ही उदाहरण है। और हिन्दी को अपना सौभाग्य मानना चाहिये कि उसके अंक में समस्त कवि-मंडली से भिन्न एक ऐसा स्रष्टा भी विद्यमान है।"[1] एक श्रेष्ठ कलाकार की भाँति उनकी अनुभूति में समूह की अनुभूति मुखरित हुई है। फिर उनकी यह विशिष्टता है कि स्थूल को सूक्ष्म रूप देने में वे एक सच्चे कलाकार की भूमिका निभाते हैं। काव्यगत चमत्कार भी उनमें सर्वत्र विद्यमान है। उनके काव्य में शुद्ध काव्य की अनेक विशेषताएँ है। पर उनमें भावनाओं के एक धरातल पर बहुत देर तक रहने का प्रमाण नहीं मिलता। कविताओं का आरंभ एक मनोदशा में होता है तो अन्त दूसरी मनोदशा में।

कुल मिलाकर दिनकर यह स्वीकार करते हैं कि माखनलाल में विशिष्ट प्रतिभा थी और कठिन क्षणों में जन्म लेने वाली उनकी कविताएँ विशेष प्रकाश से दीप्त हैं। दिनकर ने इस धारणा का खण्डन किया है कि माखनलाल जीवन के कवि न होकर कल्पना देश के कवि हैं। वे ऐसे कवि नहीं है जिनकी रचनाएँ मात्र मनोरंजन का काम करती हैं- "कभी-कभी यह कहा जाता है कि कविता माखनलालजी के जीवन का कोई प्रमुख अंग नहीं, वरन् उनकी अलस-लीला-भूमि है। इस कथन से यह व्यंजित होना चाहिए कि

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 120

कविताएँ वे मनोविनोद के लिए रचते हैं, दरअसल जीवन का लक्ष्य उनका कुछ और है। लेकिन, उनकी कविताओं में जो सत्य ध्वनित होता है वह इस कथन के सर्वथा विपरित है।"[1]

"कवि, देशभक्त और वक्ता-इन तीनों रूपों में माखनलाल जी का देश में जो सम्मान रहा है, वह सम्मान बिरले साहित्यकार को नसीब होता है।"[2]

3.3. जयशंकर प्रसाद :

दिनकर ने 'मिट्टी की ओर' पुस्तक में दो स्थलों पर जयशंकर प्रसाद के संबंध में संक्षेप में विचार किया है। एक स्थल पर वे उन्हें युग प्रवर्तक साहित्यकार मानते हैं, क्योंकि प्रसाद जी ने कविता के माध्यम से हिन्दी कर परंपरागत क्षितिज से भिन्न नये और असीम क्षितिज के विस्तार की दिशा में कदम उठाया- "और आगे चलकर प्रसाद जी ने तो- इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना/ किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं। गाकर मानो परंपरा की जंजीरों को छिन्न-भिन्न करके कविता को अपने नये क्षेत्र की निस्सीमता का साक्षात्कार ही करा दिया।"[3] दूसरे स्थल पर उन्होंने प्रसाद को ऐसे समृद्ध साधक के रूप में देखा है, जिसकी दार्शनिकता, ज्ञान-गरिमा और विद्या-वैभव छायावाद के विरोधियों का भी ध्यान उनकी ओर आकृष्ट कर लेते हैं- "प्रसाद जी अपनी समस्त दार्शनिकता, ज्ञान-गरिमा और विद्या-वैभव को लेकर इस कुहासे में समृद्ध साधक के समान बैठे हुए थे तथा उन्हें वे लोग भी सिर नवाते थे, जो इस नई दुनिया के खिलाफ थे।"[4] उपर्युक्त कथनों से यह भासित होता है की दिनकर

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 115

2 संस्मरण और श्रद्धांजलियां, पृ. 42

3 मिट्टी की ओर, पृ. 37

4 मिट्टी की ओर, पृ. 37

प्रसाद जी की विशेषताओं का आख्यान कर रहे हैं, पर उन्होंने 'पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण' पुस्तक के 'कामायनी : दोष-रहित-दूषण सहित' शीर्षक निबंध में प्रसाद की उपलब्धियों और सीमाओं पर विस्तृत विचार किया है। 'कामायनी' उनकी प्रतिनिधि और समर्थ रचना है, जिसमें छायावाद के गुण और दोषों के रूप में उनके गुण-दोषों की विवेचना हुई है। दिनकर ने कामयानी के महाकाव्यत्व, प्रगीतात्मकता, पात्र-निरूपण, प्रतीकात्मकता, संवाद योजना, पुनरुत्थानवादी भावना, कल्पना, सौन्दर्य चित्रण, नारी-वर्णन, अलंकार निरूपण, विशेषणों के प्रयोग, उपमानों के प्रयोग और भाषा-सामर्थ्य जैसे विषयों पर विचार किया है। 'कामायनी' को दिनकर 'महाकाव्य' की जगह 'काव्य' कहना अधिक उचित मानते हैं- "कामायनी पर विचार करते हुए सुधी-मेधावी विद्वान, प्रायः, उसके महाकाव्यत्व पर विचार करने लगते हैं। किन्तु, मेरी विनम्र मति में काव्य महाकाव्य से श्रेष्ठ होता है। कम-से-कम, खड़ी बोली के महाकाव्यों को देखकर तो मुझे महाकविता की अपेक्षा कविता ही ऊँची जान पड़ती है। कामायनी की श्रेष्ठता का भी मूल कारण उसका महाकाव्य नहीं, केवल कवित्व है जो यत्र-तत्र तो सभी सर्गों में दिखाई पड़ता है, किन्तु, उसका सघन परिचय श्रद्धा, काम और लज्जा सर्गों में विद्यमान है। श्रद्धा और लज्जा के संवाद में जो कवित्व है, वह किसी भी प्राचीन परंपरा का पिष्टपेषण अथवा विकास न होकर, शुद्ध रूप से, साहित्य में नवीन उद्‌भावना है और प्रसाद जी ने उसे जिस सफलता के साथ लिखा है, उसे देखते हुए कभी-कभी मुझे लगता है कि यह संवाद केवल छायावादी शैली में ही लिखा जा सकता था, शास्त्रीय अथवा कोई अन्य शैली इस संवाद का इतना सुंदर चित्रण नहीं कर सकती थी।"[1]

अनेक आलोचक 'कामायनी' को महाकाव्य की श्रेणी में रखने का मुख्य कारण उसकी सुविशाल प्रगीतात्मकता को मानते हैं, दिनकर का मंतव्य है कि अगर ऐसा है तो प्रगीतात्मकता पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता, परन्तु ऐसा हुआ नहीं है- "इस

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 76

महाकाव्य की प्रशंसा का मुख्य कारण उसकी सुविशाल प्रगीतात्मकता है। किन्तु, कामायनी पर लिखित अनन्त आलोचनाओं को देख जाइये, प्रायः, नब्बे प्रतिशत आलोचनाएँ उसके कथानक को लेकर लिखी गयी हैं। कामायनी में प्रयुक्त प्रगीतों के कौशल पर तो अधिकांश आलोचकों का अभी ध्यान नहीं गया है। और आलोचकों की यह प्रवृत्ति अभी रोकी भी नहीं जा सकती। खड़ी बोली में पहले-पहल एक ऐसा काव्य निकला है जिसके कथा-सूत्रों की खोज में पंडितों को प्राचीन साहित्य के कानन में विचरण करने का अवसर मिलता है, पांडित्य प्रदर्शन करने और ऊँची-ऊँची बातें कहने के प्रसंग हाथ आते हैं। यही नहीं, प्रत्युत्, वैदिक साहित्य के अरण्य में गये बिना कामायनी के कथानक को क्रमबद्ध रूप में उपस्थित कर देना भी साहित्य का अच्छा काम समझा जाता है।"[1] दिनकर का विचार है कि आलोचकों ने लिखा तो केवल कथावस्तु पर वह भी इसके स्थूल रूप को लेकर, परन्तु इसकी कथावस्तु का रूप स्थूल न होकर सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है- "स्थूल रूप में कामायनी की कथा मनु, श्रद्धा और इड़ा की कहानी है। किन्तु, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह कथा मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास की कहानी बन जाती है। अवश्य ही, कवि ने मनु, श्रद्धा और इड़ा की कहानी नहीं लिखी है। उनका उद्देश्य मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण और समाधान था।"[2] इसलिए दिनकर यह मानते हैं कि विरल होते हुए भी यह कथानक काफी लम्बा है, क्योंकि "कामायनी का कथा-सूत्र विरल होता हुआ भी लम्बाई में कम नहीं है। उसका एक छोर यदि सभ्यता के आदिकाल में है तो दूसरा भविष्य के ग्ह्वर तक जाता है।"[3] जहाँ तक प्रसाद की पुनरुत्थानवादी भावना का प्रश्न है, उसमें नवयुग की चेतना स्पष्ट दिखलाई पड़ती है-"सौभाग्यवश, प्रसाद जी उस समय जनमे जब यूरोप से आनेवाले विचारों के संपर्क से भारतीय संस्कृति में नवजीवन की लहर दौड़ चुकी थी तथा राममोहन, दयानन्द,

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 49

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 49

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 50

रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक और गाँधी के व्यक्तित्वों के भीतर से वह एक बार फिर से जवान हो चली थी।"[1] मनु का रूप अकर्मण्य पुरुष का रूप है और श्रद्धा में आधुनिक नारी की संभावनाएँ नहीं हैं, फिर भी इड़ा आधुनिक नारी का प्रतिनिधित्व करती है। मनु को कर्म की ओर प्रेरित करने के पीछे प्रवृत्तिवादी भावना का ही आख्यायन होता है। 'कामायनी' में कर्म का जो संदेश है, वह भी प्रवृत्तिवादी भावना की ही पुष्टि करता है- "रहस्य सर्ग से पूर्व तक तो इस काव्य में कर्म की प्रेरणा इस प्रकार जगमगाती है कि उसी कारण छायावादी चिंतन के तुषार में चलनेवाला यह महाकाव्य स्वस्थ किरणों से संवलित दीखता है।"[2]

जहाँ तक पात्रों के चरित्र-निरूपण और सौन्दर्य-चित्रण का प्रश्न है, प्रसाद ने श्रद्धा को विशिष्ट सौन्दर्य से मंडित नारी के रूप में अंकित किया है- "कवि ने श्रद्धा का कैसा अद्‌भुत 'विज़न' देखा था कि उसकी लेखनी से ऐसी अनिवर्चनीय पंक्तियाँ निःसृत हो गयी? यह कविकौशल का परिणाम नहीं, सौन्दर्य की समाधि की कविता है। रूपवती एक मूर्ति के प्रकट होने से सारा निर्जन प्रदेश ज्योतिर्मय हो उठा, यह श्रद्धा की शरीर-कान्ति का वर्णन नहीं, उसके तेजोमय व्यक्तित्व का आख्यान है। उसकी आत्मा की तेजस्विता बाहर फैल रही है। वह उस सिद्ध चिंतक के निष्कंप विचार के समान मधुर और श्रान्तिमुक्त है जो विश्व-प्रपंच का भेद समझ कर सबविध शीतल और संतुष्ट हो चुका है।"[3] छायावाद युग में नारी को देखने की जो दृष्टि थी, उसका पूर्ण परिपाक 'कामायनी' की 'श्रद्धा' के रूप में हुआ है। निवृत्ति की भावना में यह देखा गया है कि स्त्री को कलुषित और मूल ध्येय अथवा साधना को प्राप्त करने में एक रोड़े के रूप में देखा जाता है, वह एक बाधा बन जाती जिससे सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती।

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 51

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 53

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 64

"पिछली सदी से भारत में प्रवृत्तिमार्गी चिंतन का जो विकास हुआ उसका सब से सुन्दर परिणाम नारियों की पदोन्नति में प्रकट हुआ है। अब हम नारियों को 'अघ की खान' नहीं मानते, न हम यही विश्वास करते हैं कि नारी की सारी महिमा उसके शरीर को लेकर है। छायावाद-युग में तो बात ठीक इसके विपरित दिखायी पड़ी। छायावादी कवियों ने सौन्दर्य-बोध को धर्म के धरातल पर अधिष्ठित कर दिया और उन्होंने नाना छन्दों में, अपूर्व भंगिमा के साथ, यह घोषणा की कि नारी भोग्या नहीं, प्रेरणा का पावन उत्स है; उसे दूर से देख कर प्रेरित एवं उत्फुल्ल होने में जो आनन्द है वह और कहीं भी नहीं मिल सकता।

कामायनी में नारी के जिस रूप के जिस रूप की कल्पना की गयी है वह उसका यही निष्कलुष रूप है। कामायनी के कवि का ध्येय पाठकों को नारी के उस आभ्यन्तर सौन्दर्य से परिचित कराना है जो नारी के चर्म और मांस में नहीं, प्रत्युत्, उसकी आत्मा में बसता है, जो वासना नहीं, अर्चना का विषय है, जिससे पुरुष भोग और तृप्ति नही, प्रेरणा और स्फुरणा की प्राप्ति करता है, जिसे छूने की इच्छा तो जगती है, किन्तु, उस इच्छा का पर्यवसान स्पर्श नहीं, स्फूर्ति में होता है।

स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

यह नारी को देखने की छायावाद-युगीन दृष्टि है। और कामायनी के कवि के मन में नारी की जो निष्कलुष प्रतिमा अवस्थित थी, उसकी पवित्रता नारी-सौन्दर्य-चित्रण में झलक मारती है। इस वर्णन में कवि ने वासना-व्यंजक विशेषणों का सर्वथा त्याग करके केवल ऐसे-ऐसे विशेषण रखे हैं जिनसे, स्वतः निष्कलुषता का वातावरण हो जाता है और इस वातावरण में श्रद्धा का जो रूप प्रकट होता है वह, सचमुच ही, स्पर्श से दूर और मन में अनिवर्चनीय स्फुरणा उत्पन्न करनेवाला है।

कौन तुम संसृति-जलनिधि-नीर तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक?

एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य।

* * *

एक लघु ज्वालामुखी अचेत माध्वी रजनी में अश्रान्त।

* * *

रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार

(श्रद्धा सर्ग)

इन उद्धरणों में केवल 'आलस्य' और 'मधु', ये दो ही विशेषण ऐसे हैं, जिनका कुछ दूर का संबंध वासना से भी बिठाया जा सकता है। शेष विशेषण तो ऐसे ही हैं जिनसे पवित्रता की अगुरु-गंध निःसृत होती है। 'प्रभा की धारा' 'सुन्दर मौन', 'शिशु साल', 'अचेत ज्वालामुखी', और 'परमाणु-परागशरीर', ये ऐसे विशेषण हैं जिनके भीतर सरस्वती अपनी पूरी सामर्थ्य को लेकर विराज रही हैं और इन विशेषणों से सौन्दर्य की जो पवित्रता ध्वनित होती है वह अन्यविध अव्याख्येय है।"[1]

इड़ा का चित्रण एक साहसी नारी के रूप में किया है जो कि मनु के संभावित हमले को विफल बना देती है और उसमें पुरुषोचित गुण हैं, जो कि उसे चतुर बनाती हैं, ऐसा इसलिए की वह अतिशय बुद्धिवादी का प्रतिनिधित्व करती है। वह औसत नारी से ऊपर ही है, अतः प्रसाद की नारी-सृष्टि विशिष्ट कही जा सकती हैं।

मनु को दिनकर कल्पनाशील, भावुक, अकर्मण्य, वेदनाप्रिय और निराशा से आक्रांत रोमांटिक पुरुष के रूप में चित्रित मानते हैं, मनु छायावाद युग के अग्रणी कवि की सृष्टि है, उनके व्यक्तित्व के विरोधाभास से पाठक संतुष्ट नहीं होता। पर इस संबंध में दिनकर यह भी स्वीकार करते हैं कि संभवतः कवि ने मनु को किसी प्रकार की मानवीय संभावनाओं से युक्त बनाकर पाठक के समक्ष रखा है- "जहाँ तक कामायनी के पुरुष का संबंध है, मनु अनगढ़ मानवता के प्रतीक हैं। उनके भीतर अच्छी और बुरी, दोनों प्रकार

---

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 54

की संभावनाएँ दिखायी देती हैं। कर्म तो उन्होंने बड़े ही गर्हित किये हैं। ईर्ष्यावश श्रद्धा के पशु को मरवा देना, नारी के गर्भिणी-रूप को देखकर वितृष्ण हो जाना, अजात शिशु की कल्पना मात्र से ईर्ष्यादृप्त हो उठना और फिर अन्य नारी को अधिकृत करने की चेष्टा करना, ये लक्षण अनगढ़ मर्दाना मर्द के ही हो सकते हैं। किन्तु, उनका जो मानसिक रूप है वह छायावादी कवि के समान भावुक और रहस्यवादी संत के समान सुगंभीर है। बात-बात पर उनके मन में कविता के बुलबुले फूटते हैं और बार-बार उन्हें उस प्रच्छन्न शक्ति का ध्यान आता है जो प्रकृति के भीतर अथवा उसके परे विद्यमान है। यही नहीं, वे भावुक छायावादियों के ही समान अत्यन्त वेदनाप्रिय और निराशा से पूर्ण हैं।"[1]

वे कामायनी की संवाद-योजना को प्रसाद की उपलब्धि मानते हैं। कवित्व की दृष्टि से साहित्य में यह नवीन उद्‌भावना कही जा सकती है , जो छायावादी शैली में ही संभव है-"श्रद्धा और लज्जा सर्ग के संवाद में जो कवित्व है, वह किसी भी प्राचीन परंपरा का पिष्टपेषण अथवा विकास न होकर, शुद्ध रूप से साहित्य में नवीन उद्‌भावना है और प्रसाद जी ने उसे जिस सफलता के साथ लिखा है, उसे देखते हुए कभी-कभी मुझे ऐसा लगने लगता है कि यह संवाद केवल छायावादी शैली में ही लिखा जा सकता था, शास्त्रीय अथवा कोई अन्य शैली इस संवाद का इतना सुन्दर चित्रण नहीं कर सकती थी।"[2]

प्रसाद की विराट कल्पना शक्ति का भी अभूतपूर्व दस्तावेज 'कामायनी' है- "छायावाद की स्वाभाविक रुचि तो नन्हें, कोमल और रमणीय अपमानों पर ही केन्द्रित थी, किन्तु, प्रसाद जी की अपनी विशेषता यह है कि सौन्दर्य वे नन्हें उपमानों में ही नहीं देखते, कभी-कभी वे उस विराटता की भूमि पर भी संचरण करते हैं जहाँ रहकर वाल्मीकि ने पूर्ण चन्द्र की तुलना आकाश में विचरते हुए श्वेत वृषभ से की थी। यह

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 61

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 76

कितनी बड़ी कल्पना है कि श्रद्धा को देखकर प्रसादजी को साल वृक्ष की उत्त्प्रेक्षा सूझी, यद्यपि, 'शिशु' और 'मधु पवन क्रीक्ति' कहकर उन्होंने उस कोमल और रमणीय बना दिया है। विराट कल्पना का ऐसा ही दूसरा दृष्टांत वह है, जहाँ वे कहते हैं कि श्रद्धा ऐसी दिखायी पड़ती थी जैसे इन्द्रनील पर्वत को फोड़कर ज्वालामुखी धधक रही हो।

याकि नव इन्द्रनील लघु श्रृंग फोड़कर धधक रही हो कान्त
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रान्त।

और जैसे साल वृक्ष को शिशु एवं मधुपवनक्रीक्ति कहकर कवि ने उसे लम्बी, रमणीय, युवती नारी के साथ अधिक तुलनीय बना दिया, वैसे ही, इस उत्त्प्रेक्षा में भी श्रृंग को नव एवं लघु कहकर तथा ज्वालामुखी को कान्त, नवीन और अचेत बताकर उसे वह्नि-शिखा की कर्कशता हर ली है और उसे युवती नारी की उपमा के योग्य बना दिया है।"[1] "कामायनी में ऐसे कई पद हैं जिनमें कल्पना अपनी पूरी विराटता में क्रीड़ा करती है और जिनके भीतर समाहित चित्रों का विस्तार आसानी से मापा नहीं जा सकता।

पंचभूत का भैरव मिश्रण, शंपाओं के शकल निपात,
उल्का लेकर अमय शक्तियाँ खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।
बार-बार उस भीषण रव से कंपित धरती देख विशेष,
मानों, नील व्योम उतरा हो आलिंगन के हेतु अशेष।

(चिंता सर्ग)

* * *

तप से संयम का संचित बल तृषित और व्याकुल था आज,
अट्टाहस कर उठा रिक्त का वह अधीरतम, सूना साज।

(आशा-सर्ग)

* * *

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 72

किस गहन गुहा से अति अधीर
झंझा-प्रवाह-सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर?

(इडा-सर्ग)

इसी प्रकार, वर्णन की विराटता एवं दृश्यों के निस्सीम प्रसार को भाषा में समेटना की अप्रतिम क्षमता दर्शन-सर्ग के उन पाँच पदों में दिखायी देती है जिनका आरंभ

सत्ता का स्पन्दन चला डोल
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल

से तथा अन्त,

हीरक गिरि पर विद्युद्-विलास
उल्लसित महा हिम-धवल हास

पर होता है।"[1]

"व्यापक-विराट चित्रों के समान ही 'कामायनी' के अनेक छोटे चित्र भी अत्यन्त सफल और सुहावने लगते हैं। श्रद्धा, काम और लज्जा सर्गों में इनकी छटा देखते ही बनती है। और वे क्या, सचमुच, लघु चित्र कहे जा सकते है?

कौन हो तुम संसृति-जलनिधि-तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?
मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 73

और चंचल मन का आलस्य।"[1]

हम देख सकते हैं कि, जहाँ तक प्रसाद की काव्य-भाषा का प्रश्न है, दिनकर ने उनके सामर्थ्य की प्रशंसा की है। विस्तृत और अरूप को भाषा में समटने के सामर्थ्य, उपमानों के विरल प्रयोग, सौन्दर्य के चित्रण के लिए विराट उपमाओं के चयन, अलंकारों के प्रयोग, लघु और विराट चित्रों की सटीक योजनाओं आदि दिनकर के अनुसार प्रसाद के कवित्व की उच्चता प्रमाणित करती है।

फिर भी, कामायनी में दोषों का अभाव नहीं है। इसके दोषों पर विचार करते हुए दिनकर यह मानते हैं कि कामायनी की कल्पना जितनी ऊँचाई तक दौड़ सकती है और जितना विराट का निर्माण कर सकती है, उसके अनुपात में उनका अभिव्यक्ति पक्ष कमज़ोर है। भाव और भाषा दोनों स्तरों पर सर्वत्र जागृत रहने का प्रमाण नहीं मिलता- "किन्तु, कितने दुर्भाग्य की बात है कि जो काव्य इतना महार्घ, इतना उन्नत और प्रशंसनीय है उसमें दोष भी कम नहीं है। पता नहीं, जो विद्वान इस काव्य का गुणगाण करते नहीं थकते उनकी दृष्टि भाषा और अभिव्यक्ति की उन अनेक दुर्बलताओं पर जाती है या है नहीं जो समस्त ग्रन्थ में उसी प्रकार बिखरी पड़ी है जैसे बिना जाड़े-बुहारे घर में कूड़े पड़े रहते हैं। दो-एक आलोचकों ने कहा है कि कामायनी में कुछ दोष भी हैं जो उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। मेरा ख्याल है, कामायनी के दोष उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। मेरा ख्याल है, कामायनी के दोष उँगलियों पर तो क्या, उँगलियों की परों पर भी नहीं गिने जा सकते और उँगलियों पर ही गिनना हो तो प्रत्येक उँगली की प्रत्येक पोर को अनेक बार छूना पड़ेगा। कामायनी किसी नवसिखुए कवि की रचना नहीं है कि उसकी परीक्षा की कसौटी ज़रूरत से ज़्यादा उदार रखी जाय।..... कामायनी में खड़ी बोली का जितना असमर्थ रूप प्रकट हुआ है, उतना असमर्थ रूप किसी और काव्य में नहीं मिलता। कामायनी में ऐसे अंश कम हैं जिन्हें पढ़ते हुए मन पर अप्रियता के धक्के न

---

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 73

लगते हों, अभिव्यक्ति की असमर्थता और शब्दों के कुप्रयोग से पाठक का मन न खीजता हो।"[1]

"कविता केवल विचार और भाव को लेकर सफल नहीं होती। सफल वह तब होती है जब भाव और विचार अनुकूल भाषा में, अनुकूल ढंग से, व्यक्त होते हों। कविता का अन्तिम विश्लेषण उसमें प्रयुक्त भाषा की सफाई का सौन्दर्य होता है। दुःख के साथ कहना पडता है कि ऐसे सौन्दर्य के स्थल कामायनी में बहुत कम हैं। कामायनी का अधिकांश तो ऐसा ही है जहाँ भाषा लचर, अभिव्यक्तियाँ लद्धड़ और सफाई बिल्कुल शून्य है।"[2] "कविता रचते समय कवि दो धरातलों पर काम करता होता है। एक धरातल तो वह है जिस पर उसकी अनुभूतियाँ, भाव और उत्पन्न होते हैं और दूसरा वह जिस पर वह कलम पकड़ कर तल्लीन रहता है। और दोनों धरातलों पर कवि को एक साथ जागना पड़ता है। पहले धरातल पर जागरूक रहने की आवश्यकता इसलिए होती है कि कवि अपनी अनुभूतियों और विचारों को ठीक से समझ सके। और दूसरे धरातल पर जगने की आवश्यकता इसलिए होती है कि पहले धरातल पर कवि ने जिन अनुभूतियों को ग्रहण किया है उन्हें वह अनुकूल भाषा में व्यक्त कर सके।.....कामायनी में दोनों ही प्रकार के दोषों के उदाहरण मिलते हैं। इन सभी दोषों में भाषा की असमर्थता तो अत्यन्त ही स्पष्ट है। इसी असमर्थता में कभी-कभी यह अनुमान भी होने लगता है कि, कदाचित्, कवि की अनुभूतियाँ ही कच्ची और अस्पष्ट थीं, कदाचित्, उसने अनुभूतिवाले धरातल पर यह समझने का यथेष्ट प्रयास ही नहीं किया कि, वास्तव में, वह कहना क्या चाहता था। इसीलिए, उसकी भाषा अस्पष्ट रह गयी।"[3]

"असमर्थ टुकड़ियों, उलझे हुए वाक्यखंडों से यह सारा काव्य ओतप्रोत है, वस्तुतः, कामायनीकार की कला-चेतना अत्यन्त शक्तिशाली, किन्तु रचनाशिल्प उससे कमज़ोर

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 77

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 77

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 78-79

है।"[1] "पर, जिस ऊँचाई पर वह पाँव रखता है उसकी स्पष्ट और पूर्ण अभिव्यक्ति देने में वह असमर्थ है। उसके विचार ऊँचे, किन्तु, भाषा कमज़ोर है। उसके भाव सूक्ष्म, किन्तु, अभिव्यक्तियाँ उलझी हुई हैं। कितने ही सर्गों की शिथिलता मन को कुरेदती है। कितनी ही पंक्तियों की असमर्थता मन में खीज उपजाती है। किन्तु, सब कुछ देख लेने पर इतना जरुर कहना पड़ता है कि यह काव्य विचारों के बहुत ही ऊँचे धरातल पर अवस्थित है और इसका देशव्यापी सुयश बिलकुल अकारण नहीं है। किन्तु, फिर भी इतना कहे बिना सत्य की रक्षा नहीं हो सकती कि कामायनी के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि खड़ीबोली हिन्दी में वह काव्य आ गया जिसे देखकर कविता मे भाषा और अभिव्यक्ति का स्तर बाँधा जा सके। कम-से-कम, कामायनी वह आदर्श काव्य नहीं है, यह ध्रुव सत्य है।"[2]

दिनकर कामायनी में चित्रित दार्शनिक आशंकाओं को भी उकेरते हैं, मनु का हवाला देते हुए कहते हैं कि- "माना कि मनु का संघर्ष मानव का संघर्ष है, मनुष्य-जाति का संघर्ष है, किन्तु, इस संघर्ष का कामायनी समाधान क्या देती है। मनु ने काफी संघर्ष झेला, किन्तु अन्त में, इड़ा के व्यवहार से दुःखी होकर वे संसार से भाग गये। यदि कथा इतने पर ही समाप्त हो जाती तो बात वही होती कि 'मुई नारि गृह-संपति नासी, मूँडाय भये सन्यासी।' किन्तु, मनु औसत मनुष्य की उपेक्षा कुछ अधिक सौभाग्यशाली निकले। चरित्र और कर्म से वे ईश्वरानुग्रह के पात्र रहे हों या नहीं, किन्तु, शंकर की उन पर अशेष कृपा थी। यही कृपा श्रद्धा के रूप में उनके साथ हुई थी और श्रद्धा ने ही सहसा उन्हें 'मन के सूक्ष्म प्रतिमानरूप त्रिपुर को भी पार कर त्रिपुरारि के उस चैतन्य लोक में' पहुँचा दिया जहाँ पहुँचते ही वे जीवन की सभी समस्याओं का समाधान पा गये, सुख-

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 88

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 89

दुःख और भेद-भाव के द्वन्द्वों से छूटकर समरस चैतन्य के अंक में विश्राम करने लगे, जहाँ

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो, इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत-पर निनाद में श्रद्धायुत मनु, बस, तन्मय थे।

(रहस्य-सर्ग)

किन्तु, इस समाधान में कोई नवीनता नहीं है। यह तो अत्यन्त प्राचीन काल से आनेवाली परंपरा को नवजीवन देने का प्रयास है। संसार में चूँकि विषमताएँ, विभीषिकाएँ और संघर्ष बहुत हैं, इसलिए, संसार से भाग चलो। जहाँ आग है, जलने की संभावना वहीं होती है। अतएव, आग से बचने के लिए हिमालय की गुफा में जा बसो। लेकिन, बाहर की आग से तो भागकर बचा जा सकता है, किन्तु, भीतर की आग से बचने का क्या उपाय है? वह तो हिमालय की गुफा में भी मन को दग्ध कर सकती है। और सब को श्रद्धा-जैसी सद्गुरु मिल जायँ, यह क्या संभव है? और यदि संभव हो भी, तो भी, क्या यह संन्यास, यह पराजय की भावना नवयुग की चिन्तनधारा के अनुकूल मानी जा सकती है?"[1] "कामायनी के इस परंपरागत समाधान पर विचार करते हुए पंडित सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है कि जो आनन्द-चैतन्य कामायनी का प्रतिपाद्य है, वह अपनी जगह पर ठीक है और "जीवन-संघर्ष से विरक्त होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर, यह तो विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है! मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि इड़ा-श्रद्धा का समन्वय करके वहाँ तक कैसे पहुँचे, उसके सामने जो चिरन्तन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन, जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है।.....श्रद्धा की सहायता से समरस-स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आये। आने पर

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 94-95

भी, शायद, वे कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है।"[1]

"कामयानी का अन्तिम संदेश नवयुग की विचारधारा के अनुकूल नहीं है। संसार छोड़कर मुक्ति के लिए वन में जा बसना और कुछ वैराग्य-साधना के द्वारा वैयक्तिक संतोष प्राप्त करना, यह परिपाटी उपनिषदों के समय चली और बौद्ध तथा जैन मतों ने उसका चरम विकास किया।.....शुद्ध भोगवादी प्रवृत्ति का तो आदर भारत में कभी नहीं हुआ, किन्तु, वैराग्य-साधना और यतीवाद के व्यापक रूप से प्रचलित हो जाने पर भी, जनक का आदर्श यहाँ की विचार-भूमि पर बराबर मँडलाता रहा है।"[2] "यदि कामायनी का समाधान श्रेष्ठ माना जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि संसार राग और हिमालय विराग का स्थान बना रहेगा अर्थात् मनुष्य की यह रूढ़ धारणा ज्यों की त्यों बनी रह जायगी कि संसार में रहकर धर्म की साधना नहीं की जा सकती, जिसे धर्म की साधना करनी हो वह विश्व का त्याग करके वैराग्य ले ले। किन्तु, नवयुग की प्रवृत्ति इसके विपरित है। वह नहीं चाहती कि मनुष्य धर्म को वन में जाकर साधे तथा संसार में वह पाप से समझौता करता रहे। वह नहीं चाहती कि धर्म तो मनुष्य रविवार या शुक्रवार को करे तथा बाकी दिन वह अधर्म से भी काम ले। नवयुग का अध्यात्म सन्यास और गार्हस्थ्य को परस्पर भिन्न रखने का पक्षपाती नहीं है। वह प्रत्येक सन्यासी को गृहस्थ तथा प्रत्येक गृहस्थ को सन्यासी बनाना चाहता है। और इसीलिए, कामायनी का सन्यासवाला समाधान नवयुग को ग्राह्य नहीं हो सकता।"[3] ऐसे में दिनकर यह मानते हैं कि- "प्रसाद जी कामायनी में जिस चेतना को लेकर चले वह इच्छा और ज्ञान के लिए तो अनुकूल थी, किन्तु, कर्म के साथ उसकी सहानुभूति अधिक सिद्ध नहीं होती। कर्म की जो प्रशंसा प्रवृत्ति के प्रसंग में की गयी है उससे अब यह विदित होता है कि प्रवृत्ति के समर्थक

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 95

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 95

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 96

नवयुग ने उतना अंश प्रसाद जी से उनके मन के विरुद्ध लिखवा लिया। वास्तव में, कामायनीकार के निगूढ़ अंतर्तम में कर्म नहीं, इच्छा और ज्ञान के लिए प्रेम था। उनकी असली मनोदशा वह थी जिसकी प्रेरणा से मनुष्य अतिशय भावुकता के कारण अपूर्ण इच्छाओं को लिये हुए तड़प-तड़प कर जीने में सुख मानता है और इस स्थिति से खीझकर एक दिन सन्यास ले लेता है। मनु ने और क्या किया?"[1]

निचोड़ के रूप में यही कहा जा सकता है कि दिनकर ने प्रसाद के काव्य में छायावाद के वैशिष्टय और उसकी दुर्बलताओं- दोनों को देखा है- "काामायनी में सर्वत्र ही छायावादी भावना, छायावाद कारीगरी और छायावादी मनोदशा का प्राचुर्य है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि, कामायनी छायावादी धारा का महाकाव्य है और छायावाद की शक्ति और दुर्बलताएँ, दोनों ही इस काव्य में अपनी चरम-परिणति पर पहुँचे मिलते हैं।"[2] वहीं वे इससे भी इनकार नहीं करते कि- "कामायनी का कवि अद्‌भूत प्रतिभा से संपन्न है। उसमें ऊपर उड़ने की रंध्र में धँसने और प्रत्यक्ष आवरण को चीरकर वस्तुओं के भीतर प्रवेश करने की अपरिमित शक्ति है।"[3] फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रसाद की विवेचना केवल काव्य तक ही सीमित नहीं है, वे एक महान नाटककार, कहानीकार, उपन्यासकार और निबंधकार भी हैं। दिनकर ने उनके इन सब रूपों पर कहीं विचार नहीं किया है जो थोड़ा खटकता है।

3.4. सियारामशरण गुप्त :

'मिट्टी की ओर' पुस्तक के एक स्वतंत्र लेख 'कवि श्री सियारामशरण गुप्त' में दिनकर ने कवि सियारामशरण गुप्त की काव्य-चेतना और शैली-पक्ष पर विचार किया है। जब हिन्दी कविता के पुराने और नये स्कूलों के प्रतिनिधियों के बीच का संधर्ष बहुत ही

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 99

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 63

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 89

मुखर हो उठा था, तथा नवयुवक साहित्यकारों में कुछ कवियों और आलोचकों ने सियारामशरण गुप्त जी की कविताओं को मैथिलीशरण गुप्त से श्रेष्ठ माना तथा इस घोषणा का स्वागत किया गया, दिनकर इससे सहमत नहीं थे। दिनकर की मूल स्थापना यह है कि सियारामशरण जी अपने अग्रज मैथिलीशरण गुप्त से श्रेष्ठ कवि नहीं हैं- "श्री सियारामशरण जी को श्री मैथिलीशरण जी से श्रेष्ठ मैं अब भी नहीं मानता।"[1] दोनों की तुलना के क्रम में ही उनके कवि-व्यक्तित्व के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर उन्होंने विचार किया है- "दोनों भाइयों की मनोदशाएँ एक न होते हुए भी प्रायः मिलती-जुलती-सी हैं और समधिक दूरी तक दोनों में ही प्राचीन संस्कारों के प्रति एक प्रकार की अनुरक्ति है; किन्तु उम्र में छोटे होने के कारण अथवा अन्य प्रभावों से श्री सियारामशरण जी नवीनता की ओर अधिक उन्मुख हैं। उनकी विषय को ग्रहण करने की प्रणाली मैथिलीशरण जी की अपेक्षा अधिक नवीन है तथा यद्यपि छायावाद की अभिव्यंजक शक्तियों का विकास उनमें भी पूर्ण रूप से नहीं हो सका, तथापि वे अपने अग्रज की अपेक्षा अधिक समीप और उसके अधिक कवि अपने कवि रहें। छायावाद की दुनिया में मैथिलीशरण जी अपनी सामर्थ्य के बल पर आये थे, किन्तु सियारामशरण जी को उस दुनिया को किरणों ने अपनी ओर खींचा। यों भी कह सकते हैं कि छायावाद के बाज़ार से अपनी पसन्द की तूलिका और रंग खरीदकर मैथिलीशरणजी अपने देश को लौट गये, किन्तु सियारामशरणजी ने उस बाज़ार में आकर डेरा ही डाल दिया; यानी स्थायी निवास के उद्देश्य से वहाँ अपना घर नहीं बनाया, क्योंकि तब अपने असली घर का मोह उन्हें छोड़ देना पड़ता और 'दूर्वादल', 'पाथेय', 'मृणमयी', एवं 'आद्रा' क रचना बँटी हुई मनोदशाओं से ऊपर उठकर एकमात्र रोमांस की समाधि में करनी पड़ती।

सियारामशरणजी की कविताओं के पीछे हम एक ऐसी मनोदशा को विद्यमान पाते हैं जो प्राचीन और नवीन, दोनों ही दिशाओं की ओर बँटी हुई है। शैली से वे रोमांस-प्रिय

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 123

और विचारों से शास्त्रीय हैं। किन्तु, शैली उनके विचारों को प्रेरित नहीं करती। भाव उनके इतिहास से आते हैं और शैली वे नये युग से लेते हैं। यह भी ठीक है कि उनके सभी भाव उनकी अनुभूतियों में गलकर नवीन बन जाते हैं, किन्तु इस क्रम में उनका एक तिहाई अंश प्राचीन रह जाता है, उनके साथ एक और कठिनाई है। प्राचीन भाव और नई शैली जब आपस में मिलने लगती हैं, तब उनमें से प्रत्येक को अपनी मूल शक्ति का कुछ अंश बलिदान करना पड़ता है। इस प्रकार उनके भावों की अपनी परंपरागत प्रबलता घट जाती है और नवीन शैली को भी अपनी स्वाभाविक विशिष्टताओं में से कुछ का त्याग करना पड़ता है। 'आर्द्र' और 'मृणमयी' की कविताओं में रोमांसवाद की चमत्कार पूर्ण शैली अपने तेज के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है, किन्तु स्पष्ट ही, गंभीर शास्त्रीय भावों को सफलता-पूर्वक वहन करने के लिए उसे अपनी सूक्ष्मता को छोड़ देना पड़ा है और गद्य के उतना समीप आ जाना पड़ा है जितना समीप उसे, साधारणतः नहीं आना चाहिए था। यह कवि की असमर्थता का परिणाम नहीं, प्रत्युत् जब कभी लिरिक-कविता की शैली, प्रबन्ध अथवा कथा-काव्य या किसी प्रकार को नीति-व्यंजना की शैली, प्रबन्ध अथवा कथा-काव्य या किसी प्रकार की नीति-व्यंजना के लिए प्रयुक्त की जायेगी, तभी उसे सूक्ष्म की अपेक्षा कुछ अधिक स्थूल हो जाना पड़ेगा।"[1] काव्य के भाव पक्ष की दृष्टि से वे विचारक कवि हैं। इनके भाव और विचार संस्कारजन्य हैं। एक चिंतक कवि के रूप में भावों और विचारों का शोध उनकी विशेषता है। काव्य-निर्माण की दृष्टि से उन्हें सोद्देश्यवादी कलाकार कहा जा सकता है। इसलिए उनमें नीति का प्राचुर्य है। वे भक्तकवि हैं जिनकी भक्ति में ज्ञान का भाव अधिक है। इसके कारणों का विश्लेषण करते हुए दिनकर कहते हैं कि उनमें रहस्यवादी संतों की भाव-विह्वलता नहीं है, वरन् उनका मस्तिष्क पक्ष ही प्रबल है- "सियारामशरणजी में कला की आराधना कम, विचारों का सेवन अधिक है। उनका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नहीं, प्रत्युत् कविता के माध्यम से सत्य का

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 123-124

प्रतिपादन है। प्रसन्नता उन्हें इसलिए नहीं होती कि वे सुन्दर सुरों में गाते हैं, प्रत्युत् इसलिए कि उनका गान संसारयुत है! हिन्दी संसार में उन्हें जो सुयश मिला है वह भी निरे कला निर्माण के लिए नहीं, प्रत्युत् विचारों की शुद्धता एवं भावों की पवित्रता के कारण ही।"[1] "एक कवि जीवन भर में एक ही कविता लिखता है, हिन्दी के वर्तमान कवियों में इस सिद्धान्त के वे सबसे बड़े अपवाद है। रस का अभाव उनमें भले ही हो, किन्तु विचारों का उनमें एकदम अभाव नहीं है। उनकी कविताओं के भीतर से एक ऐसे चिन्तक का व्यक्तित्व झलकता है जो सदैव नये-नये भावों का शोध कर रहा हो। उनकी प्रत्येक कविता भाव-प्रधान है और उनके भाव भी विविध एवं विशाल हैं। वे अपने समय के अत्यन्त सम कवि भी हैं; उनकी कविताओं का धरालत ऊपर-नीचे नहीं होता। ऐसा नहीं कि उनकी एक रचना बहुत ही छिछली और दूसरी अत्यधिक गंभीर हो। जिस स्तर पर वे काम करते हैं उसके नीचे विचारों के सदृढ़ खम्भे लगे हुए हैं जो ज्यादा हिलते-डुलते नहीं।"[2]

"वे काव्य की भूमि में विचारक की भाँति गंभीरता और सहज विनय के साथ उतरते हैं तथा प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का सत्यान्वेषी पुरुषों की भाँति विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द उनका उद्देश्य नहीं है। वे इससे कुछ अधिक ठोस लक्ष्य की तलाश में है। जीवन की छोटी-से-छोटी बातों में भी उन्हें किसी महान सत्य की ध्वनि सुनाई पड़ती है।"[3] "वे प्रधानतः नीति-व्यंजक कवि हैं, किन्तु यह नीति उनकी चिन्ता की धारा से सहज रूप से प्रस्फुटित होती है। वृन्द या गिरिधर की तरह उन्हें इसके लिए तैयारी नहीं करनी पड़ती। और जब यह नीति-व्यंजना सुविकसित वक्रोक्ति के माध्यम से होने लगती है तब उसमें काव्यानन्द भी खूब उमड़ता

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 125
2 मिट्टी की ओर, पृ. 125
3 मिट्टी की ओर, पृ. 126

है।"[1] उनका यही विचारक और ज्ञानात्मक पहलू उन्हें रहस्यवादी प्रेम के उन्माद में बहने से सदैव सचेत रखता है, विचार का प्रहरी उनकी श्रद्धा के भावावेग को सीमाबद्ध रखता है। "इसलिये उनका रहस्यवाद भक्त की आत्म-विस्मृति न होकर, रहस्य के लोक में ज्ञानी का जागरण हो जाता है।.....मिला जुलाकर यही निष्कर्ष उचित मालूम पड़ता है कि सियारामशरणजी में भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का ही अधिक प्रधान्य है और इसी के बल पर वे काव्य से लेकर अध्यात्म की भूमि तक सचेष्ट होकर विचरण करते हैं।"[2]

दिनकर उन्हें गांधीवादी कवि की श्रेणी में इसलिए रखते हैं कि उनमें विचारों की उच्चता, पवित्रता और संयम का समावेश हो गया है। गाँधी के अनुयायी के रूप में उन्होंने गाँधीवादी सिद्धांतों का पूरे, विश्वास के साथ समर्थन किया है। इस सन्दर्भ में दिनकर का कथन है- "इनमें से सियारामशरण गुप्त सर्वतोभावेन गाँधीवादी थे और गाँधीवादी थे और गाँधीजी के सिद्धान्तों पर शंका करने की बात वे सोच भी नहीं सकते थे।"[3] ऐसा इसलिए कि उन्होंने युद्ध की समस्या पर अपना आत्ममंथन नहीं किया, न इस प्रश्न पर अथ से इति तक उन्होंने सोचने की कोशिश की। उनकी शांति और युद्धविषयक कविताएँ आत्ममंथन से उत्पन्न नहीं दिखतीं। वे सीधे गाँधी जी की प्रयोगशाला से आयी हुई लगती हैं। यहाँ तक कि उनके भीतर से द्वंद्व और बैचेनी का भी आभास नहीं मिलता, जिसके भीतर से गुज़रकर गाँधी जी किसी निष्कर्ष पर पहुँचे होंगे।"[4]

सियारामशरण गुप्त के शैली-पक्ष पर दिनकर विचार करते हुए उन्हें नवीनता का आग्रही मानते हैं, अथवा, कहें कि वे नवीनता और प्राचीनता के बीच की कड़ी की तलाश में सदैव लगे रहे तो अधिक सटीक होगा, उनकी कृति 'दैनिकी' का हवाला देते हुए दिनकर कहते हैं- "'दैनिकी' एक विचारक कवि की शैली और भाव, दोनों ही के सुरम्य

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 126
2 मिट्टी की ओर, पृ. 126
3 साहित्यमुखी, पृ. 88
4 साहित्यमुखी, पृ. 89

परिपाक का सुन्दर उदाहरण है और इसकी तुलना रवि बाबू की 'कणिका' से की जा सकती है। सियारामशरणजी नवीन और प्राचीन, दोनों के बीच से होकर मध्य-मार्ग पर चल रहे थे। इस यात्रा में उनका हृदय आगे और मस्तिष्क पीछे की ओर था। अब तक उनकी शैली में प्राचीन की नग्नता और नवीन की कुहेलिका आँखमिचौनी खेल रही थीं। 'दैनिकी' में आकर इस द्वन्द्व का अन्त हो गया है। अब वे उस बिन्दू पर दृढ़तापूर्वक खड़े हो गये हैं जहाँ नवीन और प्राचीन, दोनों ही प्रेम-पूर्वक मिल सकते हैं। इस दृष्टि से भी सियारामशरणजी की कृतियों में 'दैनिकी' का अप्रतिम स्थान होना चाहिए।"[1] वे शैली की दृष्टि से उन्हें छायावादी सिद्ध करते हैं। यद्यपि छायावाद की सभी चीजें उनमें हैं- "सियारामशरण जी ने स्वप्न छोड़कर और समस्त उपकरण छायावाद से ही लिये हैं,"[2] किन्तु छायावादी सौन्दर्य-चेतना और कल्पना की उड़ान का उनमें पूर्णतः अभाव है।

अतः यह कहा जा सकता है कि कलावादी अथवा आनन्दवादी कवि की दृष्टि से सियारामशरण का महत्त्व भले ही नहीं हो, पर विचारक और सोद्देश्यवादी कवि की दृष्टि से उनका महत्त्व है। इसके अतिरिक्त सियारामशरणजी मौलिकता की दृष्टि से गुप्तजी से श्रेष्ठ हैं। सियारामशरण जी की कविता में कपास का गुण हैं, जिसमें सरसता न होकर जीवन की उपयोगिता है। दिनकर कहते हैं कि- "इससे उनकी कविताएँ कपास के समान हो गयीं-उस कपास के समान, जिसके बारे में तुलसीदास जी ने कहा है, 'निरस विसद् गुनमय फल जासू।'"[3]

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 127
2 मिट्टी की ओर, पृ. 123
3 साहित्यमुखी, पृ. 88

3.5. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' :

दिनकर ने हिन्दी के श्रेष्ठ साहित्यकार महाप्राण निराला की साहित्यिक उपलब्धियों पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार निराला की विशेषताएँ इस प्रकार हैं- (क) संत कवि, (ख) छायावादी पौरुष के कवि, (ग) क्रांतिकारी कवि, (घ) नवीनता के आग्रही, (ड) छन्द-निर्माता और (च) छायावादी शैली की काव्य-भाषा के निर्माता और साहित्य-मर्मज्ञ एवं आलोचक थे। वे निराला को सन्यासी और संत कोटि के साहित्यकारों में गिनते हैं, क्योंकि कविता के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए उन्होंने बड़ी कुर्बानी की थी- "कविता के सर्वोच्च शिखर पह पहुँचने का मार्ग राजमार्ग नहीं है.....साहित्य के शिखर तक वही पहुँच सकता है जो अपने सांसारिक सुखों की कुर्बानी दे सके, ज़रूरत पड़े तो अपनी संज्ञा और चेतना को भी बलिवेदी पर चढ़ा दे। स्पष्ट ही, यह बलिदान गृहस्थ नहीं दे सकता और जो यह कुर्बानी देता है, वह, सच्चे अर्थों में सन्यासी और संत है।"[1] दिनकर अपने निजी अनुभव को सामने रखते हुए कहते हैं- "जब हम लोग अपने लिए और अपने बाल-बच्चों के लइे रोटी-दाल जुटाने के काम में मशगूल थे, निराला जी का ध्यान कहीं और केंद्रित था। वे साहित्य में नयी जमीन तोड़ने के काम में लगे हुए थे, नयी दिशाओं के उद्घाटन में तल्लीन थे। वे ऐसा साहित्य लिखने नहीं चाहते थे, जिससे अर्थ की प्राप्ति हो और अधिक लोगों के बीच लोकप्रियता उपलब्ध हो। अर्थ और शीघ्र सुयश की प्राप्ति उन्हें होती है, जो साहित्य की स्थापित भूमि में उसकी चौहद्दी के भीतर काम करते हैं। लेकिन जिनका जन्म चौहद्दी को ढकेलकर आगे ले जाने को होता है, उन्हें अर्थ तो मिलता ही नहीं, सुयश भी काफी विलंब से मिलता है। लेकिन साहित्य के ज़रिये निराला जी साहित्य की ही सेवा करना चाहते थे। उनके भीतर यह भाव बिलकुल नहीं था कि साहित्य का एक धर्म यह भी है कि वह अपने सेवकों को जिलाये, सांसारिक अभावों से

---

[1] साहित्यमुखी, पृ. 59

उसकी रक्षा करे। निराला जी तपस्या कर रहे थे"[1] निराला का आविर्भाव छायावादी युग में हुआ था और छायावाद का पौरुष इनके काव्य में दिखलाई पड़ता है- "इस आन्दोलन के अन्दर जो कुछ भी सुन्दर और सारधान था, वह मुख्यतः हिन्दी के चार कवियों में विभक्त हुआ। उसकी दार्शनिकता प्रसादजी के हाथ लगी तथा उसका पौरुष निरालाजी को मिला।"[2]

दिनकर का यह कथन सार्थक प्रतीत होता है क्योंकि 'राम की शक्तिपूजा', 'जागो फिर एक बार", 'तुलसीदास', जैसी अनेक रचनाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं। वस्तुतः छायावाद का विद्रोही स्वभाव निराला के काव्य में ही प्रकट हुआ है। उनके काव्य में सर्वत्र कुरीतियों, रूढ़ियों और जर्जर मान्यताओं से संघर्ष का क्रीड़ा स्थल लगता है जिसमें यथार्थ की भूमि पर आदर्श को उतारने की उनकी आकुलता दिखलाई पड़ती है। नवीनता के आग्रही निराला ने निरन्तर समय से आगे बढ़कर अपनी बातें कही हैं- "जो मनुष्य सबके दुःखों से दुःखी है, वह अपने लिए विशेष प्रकार के सुख को अंगीकार नहीं करेगा। जो व्यक्ति भविष्य को खींचकर समीप लाने की चिंता से बेचैन है, उसे इतनी फुरसत कहाँ कि व दोनों शाम की रोटियों का भी इंतजाम करे?"[3] समाज में निहित त्रासद स्थितियों को अंगीकार किए हुए "निराला जी की वेदना उनकी व्यक्तिगत वेदना नहीं थी। निरालाजी का अभाव उनका व्यक्तिगत अभाव नहीं था। अपने आपको उन्होंने सारे युग के अभाव का प्रतीक बना लिया था। सारे युग की वेदना को उन्होंने अपने माथे पर ओढ़ लिया।"[4] ताउम्र जद्दोजहद में गुजरी उनकी जिन्दगी मानों चुनौती देती रही "कि लेखक समाज का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और सारी उपेक्षाओं को झेलकर उसका काम सच्चे साहित्य की सृष्टि करना है। सच्चा साहित्य राजा या प्रजा, किसी की भी खुशामद करने

---

1 साहित्यमुखी, पृ. 55
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 37
3 साहित्यमुखी, पृ. 56
4 साहित्यमुखी, पृ. 56

को नहीं लिखा जाता है।"[1] इसके कारण वे अत्यन्त साहसी व्यक्ति के रूप में सामने आते हैं। दिनकर के शब्दों में- "समय से बहुत आगे बढ़कर कहना बड़ा जोखिम का काम है और सम्प्रति भारतवर्ष में इसे झेलनेवाले साहसी कवि केवल निरालाजी हैं।.....भारतीय साहित्य में कवि के आत्मविश्वास और साहस का यह एक अद्‌भुत उदाहरण है।"[2] उनकी एक और विशेषता यह है कि वे साहित्य के क्षेत्र में निरन्तर नवीनता की तलाश करते रहे। इसी क्रम में उन्होंने कितनी ही ऐसी चीजें दीं, जिनका महत्त्व अक्षुण्ण है। एक और उल्लेख्य बात यह है कि छंदों का निर्माण उनकी मौलिकता है। उन्होंने कितने ही उर्दू, संस्कृत ओर प्राचीन हिन्दी छन्दों को अपेक्षित परिवर्तन के अनुसार ग्रहण किया और जहाँ आवश्यकता अनुभव हुई वहाँ कविता को छन्द के बन्धन से मुक्त भी किया। छंद के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ बहुत बड़ी हैं- "छन्दोबन्ध से कविता को मुक्त करनेवालों में निरालाजी सर्ववरेण्य हैं और हिन्दी-साहित्य के इतिहास ने इसका सुयश भी उन्हें ही दिया, जो योग्य भी है।"[3] "कारण चाहे जो भी हो, किन्तु निरालाजी ने छन्द के क्षेत्र में जितना काम किया, उतना उनके किसी भी समकालीन कवि से नहीं बन पड़ा।"[4] "छन्दों का अनुसंधान करते हुए उन्होंने कितने पुराने छन्दों का उद्धार तथा कितने नवीन छन्दों की सृष्टि की है। अपनी लय-चेतना के बल पर बढ़ते हुए उन्होंने तमाम हिन्दी-उर्दू छन्दों को ढूँढ़ डाला है तथा कितने ही ऐसे छन्द रचे हैं जो नवयुग की भावाभिव्यंजना के लिए बहुत ही समर्थ हैं।"[5] दिनकर मानते हैं कि मुक्त छन्द के प्रवर्तक निराला जी हैं- यह बात बिना किसी विवाद के मान ली जानी चाहिए कि हिन्दी में मुक्त-छन्द के जन्मदाता निरालाजी हैं।"[6] तथा "छायावाद-युग में निरालाजी शायद अकेले कवि हैं जिन्होंने हिन्दी

---

1 साहित्यमुखी, पृ. 57
2 रसवन्ती, पृ. 10
3 मिट्टी की ओर, पृ. 72
4 मिट्टी की ओर, पृ. 73
5 मिट्टी की ओर, पृ. 73
6 मिट्टी की ओर, पृ. 73

के प्राचीन छन्द बरवै का प्रयोग सुन्दरता के साथ किया है।"[1] दिनकर यह भी कहते हैं कि- "स्वच्छन्द छन्दों के प्रयोग के द्वारा उन्होंने समकालीन पाठकों की श्रुति-चेतना का परिमार्जन और विस्तार किया है।"[2] और यह भी कि- "सबसे अधिक निरालाजी की रचनाओं में नये छन्दों की एक पूरी दुनिया ही खुलती जा रही है।"[3]

निराला ने साहित्य में नई ज़मीन बनाने का जो प्रयास किया, उसमें उन्हें सफलता मिली है। निराला का पुरुषार्थ, दार्शनिकता और क्रांतिकारी तथा विद्रोही स्वभाव उनके काव्य में प्रतिबिंबित है। यह कहा जा सकता है कि छायावाद की समस्त स्वीकृत विशेषताओं को अपने-आप में समेट कर निरालाजी एक विशिष्ट धरातल पर खड़े हैं और उनका असाधारण व्यक्तित्व युग के अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न है- "साहित्यकार की मर्यादा और स्वाभिमान की रक्षा के लिए उन्होंने जितना कुछ झेला, जितना कुछ सहा, उसके कारण उनका व्यक्तित्व अत्यन्त उजागर हो गया। वे अपने जीवनकाल में ही लगभग एक पौराणिक चरित्र हो गये थे और उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को लेकर उनके जीवन-काल में हिन्दी में जितना कुछ लिखा गया, उतना जीवित साहित्यकारों के विषय में कम लिखा जाता है।"[4]

3.6. सुमित्रानंदन पन्त :

दिनकर ने 'पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण' पुस्तक में 'विचारक कवि पन्त' शीर्षक के अन्तर्गत पन्त-काव्य का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए उनकी उपलब्धियों पर विचार किया है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट होता है, इस पाठ के अन्तर्गत पन्त का विचारक रूप आलोचना का विषय है। किन्तु, प्रासंगिक तौर पर उनके अन्य पक्षों पर भी प्रकाश

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 73
2 मिट्टी की ओर, पृ. 75
3 मिट्टी की ओर, पृ. 78
4 साहित्यमुखी, पृ. 58

पड़ा है। दिनकर ने उनके तीन रूपों में विवेचना की है- (क) शुद्धतावादी कवि, (ख) विचारक कवि और (ग) भाषा के समर्थ शिल्पी कवि।

पन्त के प्रथम रूप पर विचार करते हुए दिनकर उनके प्रारंभिक काव्यों की चर्चा करते हैं। इन काव्यों में वे सौन्दर्य, आनन्द और कल्पना के कवि रूप में उभर कर आये हैं। इनमें उनका विचार पक्ष गौण है। ये काव्य हैं-"'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव' आदि- "फिर भी यह कहा जा सकता है कि वीणा, ग्रन्थि और पल्लव, ये रूप काव्य के उदाहरण हैं। उनकी सारी रूप चित्रण की महिमा है और इससे यदि कुछ भिन्न सौन्दर्य है तो वह भावनाओं का सौन्दर्य है और भावनाएँ विचार से कुछ भिन्न होती हैं।"[1] उनके यही काव्य लोकप्रिय ओर आलोचकों को भी प्रभावित करने वाले हैं। विद्वानों और आलोचकों ने 'पल्लव' 'गुंजन', 'युगान्त', 'युगवाणी', और 'ग्राम्या' को जितने चाव से पढ़ा है, उतने चाव से उनकी उत्तरकालीन रचनाओं को नहीं- "क्योंकि सहृदय पाठकों ने युगान्त अथवा ग्राम्या तक पन्त जी को जिस उत्साह से पढ़ा, उस उत्साह से वे उनकी युगान्त के बाद की रचनाओं को नहीं पढ़ रहे हैं। और विचित्रता की बात यह है कि केवल पाठकों ने ही नहीं पंडितों और आलोचकों ने भी युगान्त के बाद के पन्त-काव्य पर बहुत ही कम ध्यान दिया है। अभी भी पन्त-काव्य के विशेषज्ञ का लक्षण यह है कि वह पल्लव और गुंजन को भली भाँति पढ़ा होता है।"[2] कारण यह है कि उत्तरवर्ती रचनाओं में दर्शन का ताप अधिक है। इसलिए दिनकर उनके काव्यों का वर्गीकरण रूप-काव्य और विचार-काव्य दो भागों में करते हैं- "सुविधा के लिए समस्त काव्य का विभाजन रूप-काव्य और विचार-काव्य नाम से किया जा सकता है।.....यह कहा जा सकता है कि

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 105

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 104

वीणा, ग्रन्थि और पल्लव, ये रूप काव्य के उदाहरण हैं।"[1] ऐसी कविताओं के विषय हैं- प्रकृति, सौन्दर्य और नारी। यहाँ उनका सौन्दर्यभोगी कल्पक रूप ही सामने आता है।

दिनकर के अनुसार उनके दूसरे(विचारक कवि) रूप का दर्शन 'ज्योत्सना' में दिखायी पड़ता है, 'ज्योत्सना' में उनका विचारक रूप प्रखर है, इसके बाद की रचनाओं में कहीं उनके विचारक रूप के दर्शन होते हैं तो कहीं उनके विचारक कवि और सौन्दर्यभोगी कवि के प्रखर द्वन्द्व से पाठक का परिचय होता है। परन्तु "पन्त जी के पल्लव वाले रूप से भिन्न, 'युगान्त' में ऐसी कई बातें थीं जिनसे उनके प्रेमी पाठक उस समय चौंक उठे थे।"[2] "क्योंकि यही वह काव्य है जिसमें कवि की दृष्टि, निश्छल रूप से, पहले-पहल सपनों से निकल कर सत्य की भूमि पर आ गयी।"[3] युगान्त में उनकी क्रांतिकारी और सुधारवादी प्रवृत्ति दिखायी पड़ी। 'युगान्त' भी 'गुंजन' की तरह महज उनके बदलाव की सूचना प्रदान करता है, उनके सौंदर्योपभोगी और क्रांतिकारी एवं सुधारक कवि के बीच चल रहे द्वन्द्व की ओर इशारा करता है, हाँ, यह अवश्य है कि 'युगान्त' में इसकी गहनता अधिक है क्योंकि युगान्त तक आते-आते कवि को यह अहसास हो गया था कि उसे जनारण्य की पीड़ाओं का कोई-न-कोई समाधान खोजना होगा, जो वह दे नहीं पाया, जिस कारण "युगान्त विचारक-कवि की कृति नहीं है। यह उस सौन्दर्य-भोगी कल्पक के अन्तर्द्वन्द्व की कविता है जिसे निरी कल्पना से अब संतोष नहीं मिलता, जो जीवन की समस्याओं पर सोचने को तैयार हो रहा है और, इसलिए, उसकी दृष्टि कल्पना-लीक से उतर कर उस कर्मठ महापुरुष पर पड़ती है, जो ज्ञान नहीं, कर्म से जीवन को सँवार रहा था।"[4]

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 105
2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 106
3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 106
4 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 106-107

"आजतक उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसे समझने में युगवाणी कुंजी का काम देती है।"[1] किन्तु, यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उनका विचार-काव्य उनके सौन्दर्यबोध से अछूता है। इसमें भी उनकी प्रारंभिक चेतना झलक मारती है; पर यहाँ उसका रूप गौण और विचार का रूप प्रखर है।

पन्त के बाह्य जीवन और अन्तर्जीवन के समन्वय का दर्शन, मार्क्स की वैज्ञानिकता, गाँधी की सांस्कृतिक चेतना, अरविंद-दर्शन, कर्मवादी चिंतन, नारी संबंधी दृष्टिकोण, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता जैसे विषयों पर विचार मिलता है। अरविंद के संपर्क में आने के पहले ही पन्त ने भूत और आत्मा के समन्वय को आधार बनाकर रचनाएँ की थीं। अरविंद के संपर्क में आने पर उनकी इस चेतना को और शक्ति मिली। इस संबंध में पन्त द्वारा स्थापित मान्यताओं से दिनकर सहमत होते हैं और कहते हैं कि युगवाणी की चेतना उनके उत्तरवर्ती काव्यों में भी विकसित और परिवर्द्धित हुई है-"इन्हीं दिनों मेरा परिचय श्री अरविन्द के भागवत जीवन(द लाइफ डिवाइन) से हो गया। उसके प्रथम खंड को पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरे स्पष्ट स्वप्नचिंतन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है।"[2] इसी संदर्भ में वे आलोचकों के मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं- "मुझ-जैसे सामान्य पाठक को तो यही दिखायी देता है कि पन्त जी के विचारों में आकस्मिक परिवर्तन कभी नहीं आया। कम-से-कम, उनके विचारों में क्रांति-जैसी कोई घटना नहीं हुई है। वे स्वाभाविक गति से वर्धित और विकसित होते रहे हैं।"[3]

पन्त काव्य पर मार्क्सवादी चिंतन की चर्चा भी लोग करते हैं। इस संबंध में दिनकर का कहना है कि मार्क्सवाद को जिस रूप में विकृत कर साम्यवादी देशों ने ग्रहण किया है, उस अर्थ में पन्त उसे नहीं ग्रहण करते, वरन् वे उसे पूर्ण, सर्वांगीण, रूप के

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 107

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 108

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 108

प्रति ही आस्थावान थे, पन्त युगवाणी की भूमिका में अपनी धारणा को साफ स्पष्ट कर देते हैं कि- "'पदार्थ(मैटर) और चेतना(स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित होता है।' इन्हीं दो किनारों में से एक भूतवाद है जिसके समर्थक मार्क्स हैं, जिसका समर्थन समस्त नास्तिक दर्शन करता है और जिससे प्रेरणा लेकर मनुष्य संचय करता है और जिसकी अति मनुष्य-मनुष्य और देश-देश के बीच घटित होने वाली छीनाझपटी, शोषण और व्यापारिक युद्धों में देखी जा सकती है। किन्तु, दूसरा किनारा आत्मा का किनारा है जिसका समर्थन समस्त आस्तिक दर्शन करता है और जिसका संदेश यह है कि दूसरों को लूटकर धनी होने तथा दूसरों को मारकर जीवित रहने की लालसा निन्दनीय है।"[1] उन्होंने मार्क्स के भौतिक दर्शन को अपने निजी ढंग से स्वीकृति दी है, और उसका खण्डन किया है- "साम्यवादियों की पद्धति को कवि ने केवल बहिर्जीवन-संगठन की पद्धति माना, जो आवश्यक तो है, किन्तु पर्याप्त नहीं है। मनुष्य में केवल हाड़-मांस ही नहीं हैं, उसके मन भी होता है और आत्मा भी होती है। और मनुष्य केवल रोटी ही नहीं चाहता, रोटी खाने के बाद वह स्वतंत्र रूप से चिंतन का भी आनन्द लेना चाहता है। किन्तु, साम्यवादी देशों में जो प्रयोग अब तक हुए हैं उनसे परिणाम यह निकला है कि तानाशाही में आदमी को रोटी तो मिल जाती है, किन्तु, उससे चिंतन का अधिकार छीन लिया जाता है। और रोटी इच्छा मात्र से तो मिलती नहीं। साम्यवाद के अन्दर भी देशों को समृद्धि के लिए दीर्घकाल तक प्रयास करना पड़ता है। और उस प्रयोग-काल में मनुष्य रोटी और चिंतन, दोनों से विहीन हो जाता है। यह, सचमुच ही, दुहरा दारिद्रय है।

क्या-द्रवित हो गये देख दारिद्रय असंख्य तनों का?
अब दुहरा दारिद्रय उन्हें होगे निरुपाय मनों का?

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 108-109

भूत और आत्मा, ये तो नदी के दो किनारों के नाम हैं। वास्तव में, नदी जिस जल को लेकर नदी बनी है, वह मानवता का जल है। अतएव, भूत और आत्मा, स्थूल, और सूक्ष्म तथा व्यष्टि और समष्टि के नारे लगाकर कलह मचाने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। पन्त जी के अनुसार, सत्य या तो इस सब से परे है अथवा वह इनके समन्वय में है।"[1] वे द्वन्द्वात्मक नियमों को स्थूल के साथ सूक्ष्म पर भी लागू होना मानते हैं, जबकि मार्क्स ने केवल उसे स्थूल पर लागू माना है- "भौतिक दर्शन को पन्त जी इस परिष्कार के साथ स्वीकार करते हैं कि स्थूल का अस्तित्व तो है, किन्तु, उसके भीतर सूक्ष्म का भी निवास है और बहिर्जीवन के परिवर्तनों का प्रभाव भी स्थूल और सूक्ष्म, दोनों पर पड़ता है। यहाँ पन्त जी ने द्वन्द्वात्मक नियमों को स्थूल के साथ सूक्ष्म पर भी लागू माना है और कहा है कि दर्शन(सूक्ष्म) और विज्ञान(स्थूल) के पारस्परिक द्वन्द्व से दोनों का विकास होता है और सत्य प्रकाश में आते हैं।"[2] यहाँ वे विज्ञान और दर्शन दोनों को समन्वित करते दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह मार्क्स के भौतिक दर्शन के गुणों को तो उन्होंने स्वीकृति दी है, पर अवगुणों का त्याग किया है। यह पन्त की विशेष उपलब्धि कही जा सकती है।

पन्त की विशेषता यह भी थी, कि एक गंभीर विचारक की तरह वे समन्वय की तलाश में लगे रहते थे, ऐसा सामंजस्य जो कि भविष्य में एक आदर्श समाज की स्थापना में सहायक सिद्ध हो। पन्त ने जब कल्पना से वास्तविक धरातल पर पैर जमाया तब उनका सारा आकर्षण मार्क्सवादी सिद्धान्त पर था, परन्तु भौतिकवाद को मूल में ले कर चलने वाले मार्क्सवाद से वे शीघ्र ही विरक्त हो गए, और उनका ध्यान गाँधी-दर्शन की ओर गया, जिसे उन्होंने सहर्ष मान्यता दी। यह पुनः उनके स्थूल और सूक्ष्म की परिकल्पना को स्थापित करता है। उन्होंने एक ऐसे समन्वय की कल्पना की जहाँ शारीरिक ढाँचा(समाज-संगठन)मार्क्सवाद के आधार पर हो और इस समाज को कालजयी बनाने के लिए गाँधी दर्शन का विकास किया जाए, क्योंकि यह दर्शन मानवीय समस्याओं

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 109-110

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 110

का तात्कालिक समाधान नहीं खोजता, वरन् वह तात्कालिकता से परे कुछ ऐसी बातों की खोज करता है जो मानवता को कुछ शाश्वत परिष्कार दे सके। इससे पता चलता है कि उन्होंने मार्क्स और गाँधी दोनों को अपने आदर्श के अनुकूल ही स्वीकृति दी है। दिनकर मानते हैं- "भूत और आत्मा के बीच पन्त जी ने अपने मन में जो समन्वय स्थापित किया है, उसका व्यवहारिक रूप उनके मार्क्स और गाँधी-विषयक विचारों में खुलता है। वे गाँधी जी की अहिंसा, आस्तिकता, व्यक्ति-स्वातन्त्रय की भावना एवं साधन और साध्य की एकता आदि बातों को तो मानते हैं, किन्तु, गाँधीवाद से यंत्रों का जो विरोध ध्वनित होता है, उससे नर-नारी पर कठोर नैतिकता के निर्वाह का जो कठिन दायित्व आता है एवं उसके साथ यतीवाद की जो अनेक व्याप्तियाँ लिपटी हुई हैं, उन्हें स्वीकार करने में पन्त जी को हिचक है। इसी प्रकार, मार्क्स का भी वे केवल सांस्कृतिक पक्ष ही स्वीकार करते हैं। इसीलिए, वे चिंतन की हेतुवादी पद्धति को पसन्द करते हैं, विज्ञान की सहायता मानवता की सुविधाओं में जो वृद्धि हो रही है उसके वे समर्थक हैं एवं मनुष्य के नैतिक उत्थान के साथ-साथ वे उसकी भौतिक समृद्धि का भी विकास चाहते हैं।"[1] पन्त, गाँधी और मार्क्स का जो समन्वय करना चाहते थे, अरविंद दर्शन में उन्हें यह वस्तु मिली- "अरविंद-दर्शन के संपर्क ने पन्त जी के चिंतन को परिष्कृत एवं सुदृढ़ बना दिया। वे मैटर के गुणों पर मुग्ध थे, किन्तु, आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखने के कारण भूत उन्हें सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं था। अरविन्द-दर्शन ने उन्हें बताया कि भौतिक गुण भी बिलकुल त्याज्य नहीं, एक सीमा तक ग्राह्य हैं, बशर्ते कि इन गुणों के विकास से आत्मा के उत्थान में बाधा न पड़ती हो।"[2]

दिनकर 'विचारक कवि पन्त' निबंध में विस्तृत रूप में अरविंद दर्शन का वर्णन करते हैं और यह दर्शाने की कोशिश करते हैं कि अरविंद ने पदार्थ और आत्मा, दोनों के विकास और स्वस्थता पर बल दिया। उन्होंने योग और भोग, दोनों की आवश्यकता और

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 110

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 120

उपयोगिता पर बल दिया। पन्त के उत्तरवर्ती काव्यों में अरविंद-दर्शन का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। दिनकर की स्थापना यह है कि अरविंद-दर्शन को भी पन्त जी अपने अनुकूल ही ग्रहण करते हैं। अरविंद-दर्शन को भी वे सामाजिक विकास के अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। आत्मविकास के लिए भूत की सत्ता को स्वीकार करते हैं, पन्त सामाजिक विकास के लिए अरविंद के आत्म-विकास के दर्शन को स्वीकृति देते हैं- "पन्त जी ने अरविंद से जो प्रेरणा पायी उसका उपयोग उन्होंने अधिक सुन्दर समाज की कल्पना करने में किया है, असल में, मनुष्य के शरीर पर पन्त जी भूतवाद का शासन मानते हैं, उसे मन पर प्राणिवाद का तथा हृदय पर अध्यात्म का।"[1] पुनः पन्त और अरविंद के नारी के चित्रण में भी भेद है।

दिनकर ने पन्त की नारी भावना, काम और अध्यात्म, नैतिकता, व्यष्टि और समष्टि जैसे विषयों पर भी विचार किया है। उनके अनुसार पन्तजी की नारी भावना पर छायावाद युग का प्रभाव है। नारी को देखनेवाली उनकी दृष्टि सौन्दर्यवादी है। फलतः नारी-चित्रण में उनकी श्रृंगारिकता काम पक्ष को महत्त्व देती है। इस प्रकार के नारी चित्रण और काम-भावना को आवश्यक छूट देने में पन्त मनोविज्ञान के निकट हो सकते हैं, क्योंकि उसमें यौन-आवेग को दबाना कुंठा के जन्म का कारण कहा गया है- "आधुनिक कवि की भूमिका में उन्होंने लिखा है, 'सामन्त-युग के स्त्री-पुरुष-संबंधी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर-यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अंचल-छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बाल-विधवा अपनी छाती से चिपकाये हुए है और दूसरे छोर को उस युग की देन 'वेश्या'। यह भी कि 'भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है।"[2] "इस नैतिकता के स्थान पर पन्त जी जिस नयी नैतिकता का प्रचलन

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 127

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 126

चाहते हैं उसका प्रथम सूत्र यह है कि नर-नारी का दैहिक मिलन घृणा की वस्तु नहीं है, वह स्वाभाविक प्रवृत्ति है, और उससे जो निश्छल प्रेम की धार फूटती है वह प्रेमियों के लिए सुधावृष्टि के समान है।"[1] दिनकर स्वयं इस बात से सहमति रखते हैं- "पन्तजी द्वारा वर्णित उद्दीपक श्रृंगार चाहे जितना भी अनुचित दीखे, किन्तु, अपने भूत-अध्यात्म-मिश्रित दर्शन से उन्होंने नयी नैतिकता के जो सिद्धान्त निकाले हैं उन्हें मैं समाज के लिए उपयोगी मानता हूँ और मेरा अनुमान है कि उनके प्रचलन से दंपतियों के जीवन में सुख और शान्ति की वृद्धि होगी।"[2]

जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न, पन्त यह मानते हैं कि नारी शरीर के स्तर पर अपवित्र नहीं होती- "यदि वेश्या का मान उसके व्यवसाय में नहीं है तो उसे पतिता समझने का कोई आधार नहीं है।"[3] और "पति-पत्नी यदि परस्पर प्रेमासक्त हैं तो उनके कामाचार में कोई दोष नहीं है। अन्यथा, विवाह केवल कामाचार का समर्थन मात्र है।"[4] उसे दो आत्माओं का मिलन नहीं कहा जा सकता हैं। पन्त इसका इलाज केवल निश्छल प्रेम में मानते हैं वे बारंबार इसी बात की महत्ता स्थापित करना चाहते हैं- "पन्त जी नर-नारी-मिलन को आत्मा की प्रगति में बाधक नहीं मानते। बाधा वह तभी होता है, जब जोड़ों के बीच निश्छल प्रेम नहीं हो। शारीरिक मिलन में जो दोष या मैल है वह सात्विक प्रेम-प्रवाह से घुल जाता है।"[5]। मूलतः पन्त ने नर-नारी संबंधी दृष्टि जो अरविंद से पाई उसे अपनी मान्यताओं के अनुसार अपनायीं ताकि समाज का हित हो। "पन्त जी ने नर-नारी-संबंधों की व्याख्या जिस रोचकता और गहराई से की है, उससे यह बात और स्पष्ट हो जाती है।"[6] दिनकर हामी भरते हैं कि-"उन्होंने नयी नैतिकता के जो सिद्धान्त निकाले

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 127
2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 126
3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 128
4 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 129
5 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 128
6 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 127

हैं उन्हें मैं समाज के लिए उपयोगी मानता हूँ।"[1] दांपत्य जीवन हो अथवा प्रेमी-प्रेमिका का जीवन, दोनों ही स्थितियों के लिए प्रेम की पवित्रता शारीरिक संबंधों से अधिक महत्त्व रखती है। दिनकर समाजिकता के स्तर पर तो पन्त से सहमत होते हैं पर उनका निश्छल प्रेम को लेकर अपना मत है, वे कहते हैं कि पन्त- "जीवन के भौतिक रूप को ग्रहण करने की प्रक्रिया में वे नारी को ग्रहण करते हैं और आत्मा के विकास की प्रक्रिया में वे नर-नारी संबंध को किसी उच्च धरातल पर अवस्थित करना चाहते हैं। यह उच्च धरातल उन्हें निश्छल प्रेम दिखायी देता है जो एक सीमा तक ठीक है। किन्तु, कर्मठता के अभाव में क्या प्रेम स्वस्थ रह सकता है?"[2] दिनकर का मानना है कि- "नर-नारी परस्पर प्रेम के बन्धन में बँधे रहें, यह ठीक है, किन्तु, स्वस्थ काम की स्थिति उन्हें तब भी प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य का मानसिक स्वास्थ्य काम को याद रखने में नहीं, उसे भूल जाने में है, अपने जीवन में उसे गौण कर देने में है। और इसका सरल उपाय यह है कि नर और नारी श्रम का कोई काम करें, समाज को अपनी सेवाएँ अर्पित करने में लग जायें। तभी काम का स्वस्थ रूप प्रकट हो सकता है। इसीलिए मेरा विचार है कि नर-नारी-समस्या का जो समाधान रोमांटिक कवियों और चिंतकों ने दिया है वह किसी काम का नही है। इस समस्या का श्रेष्ठ समाधान वह है जिसकी ओर इंगित गाँधी और मार्क्स अथवा मार्क्स अथवा गाँधी ने किया है। यह समाधान ग्राम्या की 'मजदूरनी के प्रति' कविता में झलक मारता है। काम-जनित सभी मानसिक हलचलों की महौषध कर्म है, अध्यवसाय है, मन को किसी न किसी ठोस काम में लगाये रखना है। जिस समस्या पर यहाँ विचार हो रहा है उसकी दृष्टि से आदर्श नारी वह नहीं जो प्रेम में डूबी और भाँति-भाँति की कल्पनाओं से सिहरती रहती है, प्रत्युत् वह जो कोई ठोस काम कर रही है।"[3] दिनकर कहते हैं-"फिर, भी, कर्मठता का समर्थन केवल मजदूरनी कविता में है। बाकी

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 126

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 132

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 131

सभी कविताओं में पन्त जी केवल प्रेम की दूहाई देते रहते हैं। यह, कदाचित् छायावादी संस्कार का अवशेष है।"[1] यही छायावादी संस्कार पन्त जी की तमाम इच्छाओं के बावजूद उन्हें सौन्दर्य आसक्त बनाए रखता है और वे चाह कर भी जिस निश्छल प्रेम की जद्दोजहद करते हैं उसका चित्रण करते समय अति माँसल हो उठते हैं, नारी-रूप के चित्रण में पन्त जी इस संयम का पालन नहीं करते-

अर्ध-विवृत जघनों पर तरुण सत्य के सिर धर
लेटी थी वह दामिनि-सी रुचि-गौर कलेवर;
गगन-भंग-से लहराये मृदु कच अंगों पर,
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य-कर

* * *

लिपटे भू के जघनों से घन, प्राणों की ज्वाला जन-मादन,
नाभि में घूम भँवर-सी करे मर्म आकांक्षा नर्तन

(भू-प्रांगण)

* * *

कब तप्त लालसा के मुख पर चापोगे तुम शीतल चुंबन?
शोभा के रस उद्वेजों पर कब प्रिति धरेगी उपकृत कर?

(गीत-विभव)

ध्यान देने की बात यह है कि दिनकर जिस(मजदूरिन के प्रति) कविता का हवाला देते हैं कि ऐसी कविताएँ ही काम से मुक्ति का इलाज हो सकती है, कर्मरत होना काम से दूर होना है, भी, प्रो. शीतांशु जी के अनुसार चित्रण के धरातल पर काम निहित कविता है।

पन्त जी के व्यष्टि और समष्टि के समन्वय को दिनकर भूत और आत्मा का ही समन्वय मानते हैं- "वयष्टि और समष्टि का द्वन्द्व, असल में, भूत और आत्मा का ही द्वन्द्व

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 132

है।"[1] "बहुत कुछ इसी प्रक्रिया से उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के बीच समन्वय स्थापित किया है।"[2] "इसीलिए, पन्त जी के दर्शन में व्यष्टि और समष्टि के बीच कोई विरोध नहीं है। ये दोनों सत्य हैं और दोनों को एक दूसरे से बल प्राप्त होता है।"[3] दिनकर कहते हैं कि- "व्यक्ति की रुझान आत्मा की ओर तथा समष्टि की शरीर की ओर होती है। इन दो स्थितियों का समन्वय इसमें है कि जो आत्मा से सेवक हैं उन्हें भी शरीर-सेवा की ओर उन्मुख होना चाहिए तथा जो शरीर को सँवारने में लीन हैं उन्हें भी यह ध्यान रखना है कि मनुष्य केवल शरीर नहीं है, उसके आत्मा भी होती है।"[4] यह पन्त-दर्शन का मूल है। भौतिक विज्ञान ने हमें गुलाम नहीं बनाया, हम स्वयं इसके दास हो गये, दोष विज्ञान का नहीं है, हमारे मलिन भावों का है, जिसकी वजह से हम वस्तुओं की गिरफ्त में हैं। "अतः, वाह्य संगठनों से मनुष्य का सम्यक् परिष्कार नहीं हो सकता। उसे अन्तःसंघठन की आवश्यकता है। विज्ञान के साथ मनुष्य के मानवीय गुणों का भी विकास होना चाहिए, यही पन्त जी के उस दर्शन की सार्थकता प्रतीत होती है जिसके अनुसार मनुष्य की समदिक् और ऊर्ध्व, दोनों ही गतियाँ अनिवार्य हैं।"[5]

दिनकर का कथन है कि पन्त ने अरविंद के दर्शन के प्रभाव और आन्तरिक अनुभूतियों से उत्पन्न जिस आध्यात्मिकता की चर्चा की है, वह उनके उत्तरवर्ती काव्यों में विद्यमान है। यह अपेक्षाकृत दुरूह प्रसंग है। किन्तु आदर्श और यथार्थ के सम्मिलन के द्वारा जीवन के जिस विकास की बात वे रखते हैं, वह आधुनिक युग की आध्यात्मिक भावना के अत्यन्त निकट है। इसमें भौतिकता और आध्यात्मिकता के सम्मिलन के द्वारा सुन्दर मानव समाज की रचना की संभावना की गई है। पन्त मानते हैं कि तमाम भौतिक

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 133
2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 132
3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 132
4 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 132-133
5 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 132

विकास के कारण मानवता के समदिक् प्रसार की जो वेदनाएँ उपजी हैं उनकी ओट में मानवता की ऊर्ध्व गति भी अपना काम कर रही है। "मनुष्य प्राचीन रूढ़ियों को पहचान गया है। वह उनसे मुक्ति पाने के प्रयास में है। उसके भीतर एक नया स्वप्न आकार ग्रहण कर रहा है। यह स्वप्न जब पूर्ण रूप से साकार होगा, मनुष्य सारी क्षुद्रताओं से ऊपर उठ जाएगा। उसके भौतिक शरीर के भीतर आध्यात्मिक मन का साम्राज्य होगा। उसकी नैतिकता नयी, उसका धर्म नया एवं उसके मानवीय संबंध भी नवीन हो जायँगे।"[1]

दिनकर मानते हैं कि पन्त जी की इस भविष्यगामी दृष्टिकोण के कारण पाठकों के सामने एक दुरूहता पेश होती है, ऐसा इसलिए कि जिन रचनाओं(उत्तरा और अतिमा) में उनका यह भविष्यवादी रूप उभर कर आता है, वे कविताएँ सामाजिक धरातल पर नहीं है। दिनकर कहते हैं कि- "जब वे किसी अनिवर्चनीय आशा के शिखर से आगामी विश्व का आख्यान अथवा मानवता की संभावित प्रगति का गान करने लगते हैं तब पाठकों का हृदय उनका साथ नहीं देता। कठिनाई यह है कि पाठकों के सामने तो अभी जीवन की विभीषिकाएँ उल्लंग होकर नाच रही हैं। फिर वह उस जगत् के चित्र में विश्वास कैसे करे जो इन विभिषिकाओं के शमन के बाद प्रकट होनेवाले हैं?"[2] अतः दिनकर ने यह कहा है कि पन्त की आध्यात्मिकता सामाजिकता के विकास के संदर्भ में ही स्वीकृत हुई है, और इस अर्थ में वे अरविंद से भिन्न हैं पर 'अतिमा' और 'उत्तरा' में वे अरविंद के अति निकट हैं। ये रचनाएँ कबीर या जायसी की कविताओं की तरह की रहस्यवादी नहीं हैं, पर इनका चिंतन पक्ष अपरिचित लोक का है। अतः यहाँ दुरूहता और अस्पष्टता है, जिसका कारण संभवतः विषय की गंभीरता के अनुकूल भाषा का अभाव है। दिनकर अपनी तमाम आशंकाओं के बावजूद यह टिप्पणी करते हैं कि यदि पन्त का यह स्वप्न सत्य हुआ तो वे अवतारी और संदेशवाहक कवि समझे जाएँगे। ऐसा नहीं भी हुआ तो भी

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 136

2 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 137

इतना तो कहा ही जाएगा कि-"अणुभीत सभ्यता के भीतर विश्व में आज एक ऐसा भी कवि है जो अत्यन्त आशामय और अभीत है तथा जिसे समस्त विनाश के भीतर भविष्य का दिव्य जीवन लहराता हुआ दिखायी दे रहा है।"[1]

दिनकर भाषा की दृष्टि से पन्त के कार्य को ऐतिहासिक मानते हैं, क्योंकि खड़ीबोली की इतिवृत्तात्मकता में कोमलता और सौन्दर्य भरने का काम इन्होंने ही किया- "किन्तु मेरा बराबर यह विचार रहा है कि खड़ी बोली के पौरुष रूप को गलाकर मोम बनाने में जितनी सफता पन्त जी को मिली, उतनी और किसी को नहीं। यह पन्त जी का ऐतिहासिक कार्य है, जिसकी महत्ता आगे की शताब्दियाँ स्वीकार करेंगी।"[2] पन्त की कृति 'पल्लव' की भाषा को छायावाद की भाषा का आदर्श रूप मानते हैं। पन्त की उत्तरवर्ती रचनाओं की भाषा की प्रशंसा भी वे मुक्तकंठ से करते हैं और कहते हैं कि उनकी भाषा अरूप चिंतन को लिबास पहनाने में सफल हुई है। उनका भाषा-सौन्दर्य हिन्दी काव्य को किसी भी उन्नत भाषा के समक्ष ला बिठाने में सक्षम है- "भाषा की शक्ति वहीं प्रंशसनीय नहीं होती, जहाँ सब कुछ सुस्पष्टता के साथ वर्णित हो जाता है। भाषा जब अल्प-चिंतन को लिबास पहनाने में पसीने-पसीने होने लगती है, उसका सौन्दर्य, वास्तव में वहीं देखते बनता है। 'उत्तरा' और 'अतिमा' को देखकर यह अनुमान होता यह है कि समर्थ कलाकर के हाथ में हिन्दी भाषा वही चमत्कार दिखला सकती है जो विश्व की बड़ी से बड़ी भाषाओं ने दिखलाया है।"[3]

पन्त की उत्तरवर्ती शैली को दिनकर भविष्यवाद की शैली कहते हैं। इनमें 'उत्तरा' और 'अतिमा' की कई कविताएँ लिखी गई हैं।

---

1 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 138

2 वट-पीपल, पृ. 41-42

3 पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 140

संक्षेप में उनके संपूर्ण साहित्य का विहगावलोकन करते हुए दिनकर पन्त को छायवाद के उन्नायक, प्रगतिवादी धारा के पथ निर्देशक कवि और आध्यात्मिकता के अग्रणी कवि के रूप में महत्त्व प्रदान करते हैं- "किन्तु, इससे इस बात का खंडन नहीं होता कि जैसे उन्होंने छायावाद का नयन किया, वैसे ही, अब वे आध्यात्म की भूमि में भी अग्रणी कवि का काम कर रहे हैं।"[1]

[1] पन्त, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृ. 141

अध्याय-चार

दिनकर की आलोचना : भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में

4.1. उर्दू साहित्य-

महाकवि इक़बाल :

फ़ारसी और उर्दू के जिन साहित्यकारों से दिनकर विशेष प्रभावित रहे हैं, उनमें सर इक़बाल का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इक़बाल के सम्बन्ध में दिनकर के विचार उनकी सूक्ष्म आलोचकीय दृष्टि का परिचय देते हैं।

इक़बाल का जन्म उस युग में हुआ था, जब भारत एक ओर पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से प्रभावित हो रहा था और दूसरी ओर आजादी की चेतना अंगड़ाई लेने लगी थी। यह भारतीय लोगों के व्यक्तित्व विकास को अपरिमित दिशा देने का क्षण था। इक़बाल ने अपनी शिक्षा के क्रम में यूनानी रहस्यवाद का अध्ययन किया था और उस पर म्युनिख से डॉक्टरेट की उपाधि भी पायी थी। इंगलैंड में रहकर इक़बाल ने पाश्चात्य जीवन दर्शन और उसकी कमज़ोरियों को गहराई से देखा था और जब वे भारत लौटे, तो उन्होंने भारतीयों को तीन संदेश दिये- (१) कर्मण्यता, (२) संघर्षशीलता, और (३) हृदय पक्ष की महत्ता। कर्मण्यता और संघर्षशीलता के कारण ही पाश्चात्य देशों की इतनी प्रगति हुई है, किन्तु इतनी प्रगति के बाद भी उनमें छीना-झपटी और स्वार्थपरता का भाव है जिससे वे अशांत हैं। इक़बाल सोचते थे कि यही भाव उन्हें पतन की ओर ले जाएगा। इसलिए उन्होंने भारतीयों को पाश्चात्य जाति की दार्शनिकता, कर्मठता और संघर्षशीलता को अपनाने का संदेश दिया, पर यह भी कहा कि उनकी कमज़ोरियों को अपनाने से एशिया का विनाश होगा। वे दर्शन के विद्वान और दार्शनिक थे। इस्लाम पर उन्होंने जो छह दार्शनिक व्याख्यान दिये थे, वे गद्य में हैं और उनकी दार्शनिकता के प्रमाण हैं।

दिनकर ने इक़बाल को (उनकी प्रारंभिक रचनाओं के आधार पर) भारतीय राष्ट्रीयता का बड़ा समर्थक माना है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं से यह सिद्ध हो जाता है। उनकी 'नया शिवाला', 'तरान-ए-हिन्द', और 'तस्वीरे-दर्द' में भारत की सामासिक

संस्कृति का समर्थन करनवाले विचार मिलते हैं ।"[1] वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के बड़े हामी और भारतीय स्वतंत्रता के समर्थक थे। 'बाँगे-दरा' में संग्रहित 'नानक' और 'राम' शीर्षक कविताएँ कवि की राष्ट्रीयता के प्रमाण हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से विचार करें तो 'बाँगे-दरा' राष्ट्रीय काव्य है।"[2]

दिनकर के अनुसार, इक़बाल की राष्ट्रीयता उनके भीतर की उपज थी, न कि नकली अथवा कृत्रिम थी। दिनकर लिखते हैं- उसके(बाँगे-दरा) भीतर ऐसी-ऐसी पंक्तिया भरी पड़ी हैं जो किसी ऐसे हृदय से निकल ही नहीं सकती हैं, जिसमें राष्ट्रीय एकता के लिए बेचैनी न रही हो। 'तरान-ए-हिन्द' को बाद देकर भी देखें तब भी 'नया शिवाला' के भाव बड़े ही तेजस्वी और पवित्र दीखते हैं। ये भाव उस बेचैन कवि के हैं, जो हिन्दुओं और मुसलमानों से यह कहना चाहता है कि मंदिर और मस्जिद को लेकर तुम क्यों अलग होते हो? तुम्हारा आधार तो वह मिट्टी है, जिस पर ये दोनों इमारतें खड़ी हैं। यह मिट्टी मंदिर और मस्जिद दोनों से बढ़कर पाक और पवित्र है।"[3]

लेकिन इक़बाल का यह राष्ट्रीय भाव स्थायी नहीं रह सका और मुसलमानी जीवन और समाज के प्रभाव के फलस्वरूप वे हिन्दुस्तानी मुसलमानों के नबी हुए, वे उनके जातीय कवि बन गये। मुसलमान भारत में विजेता बनकर आये थे। जब आजादी के लिए संघर्ष किया तो जनसंख्या की अधिकता के कारण कांग्रेस में हिन्दुओं का आधिक्य था और अंग्रेज़ यदि हिन्दुस्तान छोड़ते तो हिन्दू सिंहासीन होते। यह बात मुसलमानों को पसन्द नहीं थी, पर वे इसक बात को कहने में समर्थ नहीं थे। इक़बाल के पहले मौलाना हाली, मौलाना शिबली, सर सैयद अहमद आदि कवियों के भीतर भी ये भाव उमड़-घुमड़ कर रह गये। इक़बाल ने अपने समय के अंतःकरण में प्रवेश कर उनके अस्पष्ट भाव को वाणी दी। वे मुस्लिम संस्कृति और मुस्लिम मन राष्ट्रीयता के कवि बन गये- ".....इक़बाल

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 591
2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 595
3 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 595

हिन्दुस्तानी मुसलमान के नये नबी बनकर आये, मानों, मुसलमानों के हृदय की अविशिष्ट बेचैनियों और अपरिज्ञात आशंकाओं ने ही उन्हें अपने निदान के लिए उत्पन्न किया हो। इक़बाल ने वास्तविकता का सामना ठीक वस्तुवादी दृष्टिकोण से किया और उन्होंने बड़ी ही वीरता के साथ उन भावनाओं की व्याख्या शुरू कर दी जो मुसलमानों के भीतर खुलकर भी नहीं खुल पा रही थी।"[1] "मुसलमान हिन्दुओं से अलग होकर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का सपना देख रहे थे और वे एक योग्य दार्शनिक नेता की ताक में बैठे थे, तो इस बात को मानने में भी किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि यह नेता इक़बाल ही हुए और उन्होंने ही मुसलमानों के दिल में अस्फुट या अर्धस्फुट रूप से गूँजने वाले भावों को प्रत्यक्ष करके उन्हें दिखला दिया तथा इन भावों के विकास और परिणति की दिशा भी उन्हें बतला दी।"[2]

इक़बाल ने बीसवीं सदी के प्रथम के अंत तक अपनी अनुभूतियों और विचारों को फ़ारसी साहित्य और उर्दू साहित्य में उतार दिया था। दिनकर ने उन्हें मुसलमानों का एकमात्र उद्धारक माना है। इसका कारण यह है कि मुस्लिम समाज, जो अपनी जातीय संस्कृति भूल चुका था, को उन्होंने फिर से उसके बीच जीवित किया। उन्होंने यह बतलाया कि मुसलमानों का इतिहास खुद इतना समृद्ध है कि उससे प्रेरणा लेकर वह जाति कर्मठ, शूर और आत्मविश्वासी बन सकती है। लेकिन अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने सूफ़ी कवियों के विचारों का और धर्म-प्रणेताओं का विरोध किया- "अब तक के धर्म की शिक्षा यह रही थी कि मनुष्य झंझटों से दूर रहकर जीवन के पारलौकिक तत्त्वों पर विचार करे। इक़बाल ने धर्म के इस पक्ष की निन्दा की और वैराग्य तथा समाधि, दोनों को हीन बताया। इक़बाल का यह प्रवृत्ति-मार्ग इस्लाम का पुराना मार्ग था। निवृत्ति या जीवन-त्याग की आदतें सूफ़ियों ने डाली थीं। अतएव, इक़बाल सूफ़ी-दर्शन के विरुद्ध हो गये। उन्होंने इस बात को बार-बार दुहराया है कि जीवन ध्यान और समाधि नहीं, बल्कि

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 49

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 49

भोग और आनन्द का विषय है।"[1] वे कहते थे कि रहस्यवादी धर्मात्माओं और कोमल, स्वप्निल, रंगीन और मोहकता का वातावरण तैयार करनेवाले साहित्यकारों के कारण ही मुस्लिम जाति का पतन हुआ है-"इक़बाल ने इस्लाम के इस निवृत्तिमूलक रूप का विरोध किया और मुसलमानों के सामने उन्होंने इस्लाम का वह युद्ध-परक रूप रखा जो उसके इतिहास के आरंभ के दिनों में प्रचलित था। इस्लाम के आरंभिक इतिहास की व्याख्या से उन्होंने अपने मत को पुष्ट किया तथा अपने अनुयायियों को उन्होंने यह शिक्षा दी कि धर्म के नाम पर तलवार उठाना जीवन का सबसे बड़ा पुण्य है।"[2] यही कारण है कि उन्होंने फ़ारसी के महाकवि की निन्दा की। उन्होंने पारलौकिकता का विरोध और इहलौकिकता का समर्थन किया। वे कर्मठता को सबसे बड़ा दर्शन मानते थे और यह विश्वास करते थे कि सृष्टि के मूल में कर्म और संघर्ष है। जीवन को वे सतत क्रियाशीलता का ही दूसरा नाम मानते थे। उन्होंने प्रवृत्ति का समर्थन किया जो इस्लाम का पुराना मार्ग था। इक़बाल के इस पक्ष पर विचार करते हुए दिनकर लिखते हैं- "इक़बाल की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने ऊँघते हुए भारतीयों को कर्मठता की ओर प्रेरित किया और वीरतापूर्वक यह उद्घोष किया कि कर्मठता से पुण्य नहीं बढ़ता है, वह स्वयं भारी पुण्य है, यहाँ तक कि अकर्मण्य मुसलमान से कर्मण्य काफ़िर भी श्रेष्ठ है।"[3]

अपने काव्य के माध्यम से इक़बाल ने मुसलमानों में प्रवृत्तिवादी भावना भरी है, उन्हें झकझोर कर कर्मण्यता और मर्दानगी का तेज भरा। भारतीय इस्लाम के जागरण में उनका योगदान अतुलनीय और अपरिमेय है।

इस्लाम धर्म में एक स्वेच्छाचारी परमात्मा की सत्ता में विश्वास किया जाता है। भक्त भगवान को शंका की दृष्टि से नहीं देख सकता है। पर इक़बाल ने इसके विपरित दर्शन की स्थापना की जिसमें उन्होंने मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रधानता दी और 'खुदी के

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 598-599

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 45

3 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 599

सिद्धान्त' को जन्म दिया। उनका विश्वास था कि मनुष्य के भीतर अनन्त संभावनाएँ विद्यमान हैं और यदि मनुष्य श्रेष्ठ गुणों को अपनाये तो ईश्वर उसके पास आएगा। उनमें जो ज्वलंत पौरुष, अहंकार और आत्माभिमान था। उसके सम्बन्ध में दिनकर कहते हैं कि यह नीत्से और मौलाना रुमी का प्रभाव था। मौलाना रुमी संत थे, पर वे वीरता और तेजस्विता की इज़्ज़त करते थे। जहाँ तक इक़बाल पर नीत्से के प्रभाव की बात है, उनकी यह टिप्पणी अत्यन्त उपयुक्त है- "नीत्से के सिद्धान्त सार रूप से ही नहीं, बल्कि पूरे के पूरे इक़बाल की कृतियों परिख्यात हैं।"[1] "उनकी दृष्टि में संपूर्ण जीवन इकाइयों में विभक्त है। मनुष्य अपनी इकाई को जितना ही आत्मतंत्र एवं औरों से भिन्न बनाता है, वह उतनी ही पूर्णता को प्राप्त होता है। इसीलिए, उनका उपदेश है कि अपनी वैयक्तिकता की रक्षा करो.....नीत्से के अतिमानव वाले सिद्धान्त को उन्होंने मोमिन (सच्चे मुसलमान) पर लागू कर दिया।"[2] उन्होंने बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म को भी अस्वीकृत किया क्योंकि ये धर्म मनुष्य को कोमल बनने की सीख देते हैं। इक़बाल ने एक राजनीतिक के रूप मे हथियार एवं आक्रमण को प्रश्रय दिया।

इक़बाल यूरोपीय प्रजातन्त्र में भी विश्वास नहीं करते थे। और यहाँ भी वे नीत्से से प्रभावित थे। मनुष्य की वैयक्तिकता में इक़बाल नीत्से की भाँति ही विश्वास करते थे और उन्हें गरुड़ और बाज़ बनकर जीने का आदर्श सिखाते थे। दिनकर यह मानते हैं कि इक़बाल के दर्शन का केवल साम्प्रदायिक अभिप्राय नहीं है। इक़बाल का दर्शन सिर्फ मुसलमानों के लिए नही, वरन् उन लोगों के लिए है जिन्हें उत्थान की अपेक्षा है। इक़बाल ने संघर्ष को जीवन के लिए आवश्यक माना है, क्योंकि यही मनुष्य को व्यक्तित्व भी देता है। वे दया, सहिष्णुता और अहिंसा को त्याज्य मानते थे, पर उन्होंने प्रेम की महिमा को स्वीकार किया है। उन्होंने तर्क और बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति और हृदय को महत्त्व दिया

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 62

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 62

है। इस अर्थ में दिनकर ने उन्हें गाँधी, रवीन्द्र और रामकृष्ण के निकट माना है। दिमाग की अपेक्षा उन्होंने हमेशा हृदय को विशिष्टता प्रदान की है।

दिनकर यह प्रतिपादित करते हैं कि इक़बाल जीवन को प्रभावित करने वाले कवि हैं। एक कवि के रूप में उन्होंने कविता के सौन्दर्य और कला पक्ष की उपेक्षा ही की है, क्योंकि वे शुद्धतावादी कवि के बिलकुल विपरीत पड़ते हैं। वे कला को जीवन के लिए मानते हैं। जीवन से भिन्न वे कला की सत्ता नहीं स्वीकारते और कविता को कर्म की प्रेरणा देनेवाली शक्ति मानते हैं उदाहरण के लिए वे यह कहते हैं कि "कला में अफ़ीम-सेवन के लिए गुंजाइश नहीं होनी चाहिये"[1] "जो भी वस्तुएँ हममें निद्रा और आलस्य का संचार करती हैं, जिसे अधिकार में लाए बिना जीवन नहीं टिक सकता, वे सब-की-सब मृत्यु और विनाश लानेवाली हैं।"[2] इक़बाल के कला-विषयक सिद्धान्त को दिनकर टाल्सटॉय का सिद्धान्त मानते हैं।[3]

दिनकर ने कवि और चिंतक के रूप में रवीन्द्र और इक़बाल की तुलना भी की है। 'संस्कृति के चार अध्याय' में उन्होंने रवीन्द्र और इक़बाल, दोनों को भारतीय नवोत्थान का कवि कहा है। एक हिन्दू-नवोत्थान के कवि हैं और दूसरे मुस्लिम नवोत्थाान के- "हिन्दुत्व के कवि होने के कारण, रवीन्द्रनाथ कोमल, अहिंसक और परलोक के प्रेमी हैं। और इस्लाम के कवि होने के कारण, इक़बाल दर्पशाली तथा आवेशयुक्त हैं एवं वे इहलौकिकता को बढ़ावा देते हैं। दार्शनिक और, कदाचित, रहस्यवादी भी दोनों ही कवि हैं।"[4]

वे दोनों कवियों के कला-दर्शन की तुलना करते हुए उनका अन्तर स्पष्ट करते हैं दोनों ही कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कला को कहते हैं, पर इक़बाल कला में उपयोगिता

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 62
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 191
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 193
4 अर्धनारीश्वर, पृ. 147

को महत्त्व देते हैं, जबकि रवीन्द्र उपयोगिता को मानव का पशु धर्म कहते हैं। रवीन्द्र सौन्दर्यवादी कवि हैं, और इक़बाल उपयोगितावादी, रवीन्द्र शुद्धतावादी कवि हैं और इक़बाल जीवनवादी।

इक़बाल की कविताओं के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इक़बाल की दृष्टि में धर्म और समाज, दोनों दो चीज़े रही हैं। धर्म में निहित सामाजिक पक्ष और समाजवाद में निहित धार्मिकता की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

संक्षेप में, दिनकर यह प्रतिपादित करते हैं कि इक़बाल कविता के माध्यम से नये मूल्यों, नये संस्करों और नूतन क्षितिज के निर्माता हैं। इक़बाल जैसा पुरुष कितनी ही सदियों के बाद उत्पन्न होता है।

4.2. बंगला साहित्य-

रवीन्द्रनाथ टैगोर :

दिनकर ने रवीन्द्र के साहित्यकार रूप पर विचार करते हुए कई तथ्य समाने रखे हैं। उन्होंने रवीन्द्र के विकास की पारिवारिक पृष्टभूमि, उनके विशिष्ट साहित्यकार रूप(गीतकार रूप), उनके साहित्यिक वैशिष्टय, उनकी राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता एवं आध्यात्मिकता के अतिरिक्त उनके कला-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया है।

दिनकर का कहना है कि रवीन्द्र का जो विशिष्ट रूप है उसके विकास में उनके पारिवारिक वातावरण का बहुत हाथ है। उनका पारिवारिक वातावरण उपनिषद् का वातावरण था। उनके परिवार में साहित्य, सौन्दर्य और कलाप्रियता के अतिरिक्त सभी लोग विश्वबंधुत्व की भावना से भी अनुप्राणित थे, फलतः रवीन्द्र के साहित्य में ये सारी चीजें नवयुग की किरणों से दीप्त होकर आई हैं।

वे रवीन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व का प्रसंग उठाते हैं और उन्हें विशिष्ट साहित्यकार प्रमाणित करते हैं। इनका सर्वोत्कृष्ट रूप एक साहित्यकार-विशेषकर कवि का रूप है।

साहित्य की सभी धाराओं पर उनका अखण्ड अधिकार था। उन्होंने महाकाव्य तो नहीं लिखा पर नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार एवं निबंधकार के रूप में उनका महत्त्व अक्षुण्ण है। प्रत्येक धारा की सभी विशेषताएँ उनकी रचनाओं में विद्यमान हैं। अगर यह कहा जाय कि एक व्यक्ति में रचनाकार के इतने रूपों का संयोग अन्यत्र नहीं हुआ है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी- "विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में रवि बाबू ने अपनी प्रतिभा का जो विलक्षण परिचय दिया है, उसे देखते हुए मेरा अनुमान है कि संसार के सभी कवियों की आत्माएँ अगर एक हाल में एकत्र की जा सकें और विविध ज्ञानों में अगर उनकी परीक्षा ली जाय, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि रवीन्द्रनाथ को सबसे अधिक अंक मिलेंगे।"[1]

किन्तु उनके सभी रूपों में सबसे बड़ा रूप उनका कवि या गीतकार रूप है।"[2] कवि-रूप में ही उनका सम्यक परिचय मिलता है। कवि के रूप में गान उन्हे सर्वाधिक प्रिय था और इसके द्वारा वे ईश्वर के सान्निध्य अनुभव करते थे।"[3] जहाँ तक काव्य-विषय का प्रश्न है, रवीन्द्र की काव्यवस्तु संपूर्णतः भारतीय है। 'गीतांजलि' का परिवेश भी पूर्णतः भारतीय है। भारत की सनातन आत्मा उसमें प्रतिबिम्बित हुई है। यह बात अलग है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म लेने के कारण रवीन्द्र ने भारतीयता का आख्यान नवीनता के संदर्भ में किया। इसलिए दिनकर कहते हैं कि "भारत की सनातन उस भाषा में अपनी अभिव्यक्ति खोज रही थी जिस भाषा में अर्वाचीन मनुष्य सोचने और समझने का आदी हो गया था और इसी आवश्यकता से रवीन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ।"[4] भारतीय आत्मा के गौरव की जैसी व्याख्या रवीन्द्र में मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने भारत की

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 147
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 147
3 अर्धनारीश्वर, पृ. 148
4 अर्धनारीश्वर, पृ. 160

आध्यात्मिक चेतना और उसके सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को नये युग के आलोक में जिस प्रकार रखा है, उसके कारण दिनकर उन्हें राष्ट्रकवि मानते हैं।''[1]

रवीन्द्रनाथ की दार्शनिकता और आध्यात्मिकता भी भारतीयता से अनुप्राणित है। उपनिषदों की व्याख्या उन्होंने नये युग के संदर्भ में की है। किन्तु रवीन्द्र मूलतः अनुभूति के कवि थे। उनके दार्शनिक चिंतन का आधार अनुभूति है और इसी अनुभूति को उन्होंने अपने काव्य में वाणी दी है।''[2]

जहाँ तक रवीन्द्र की अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न है, वह उनकी राष्ट्रीय भावना का ही विकसित रूप है।''[3] वे ऐसे आध्यात्मिक पुरुष थे, जिन्होंने विश्व मानवता के साथ ऐक्य स्थापित करना चाहा।''[4] उन्होंने स्व और पर की चेतना से मुक्त होकर संपूर्ण मानवता के साथ अपने अस्तित्व के विसर्जन का संदेश दिया-'साबार ऊपर मानुष सत्य ताहार ऊपर नाई।' मानव ऐक्य की जो वाणी भारतीय साहित्य में अनंतकाल से महावीर, गौतम, अशोक आदि के माध्यम से गुंजारित होती आई है वही रवीन्द्र काव्य में व्याप्त है। इसलिए दिनकर कहते हैं कि उन्होंने ''विश्वात्मा की एकता पर ज़ोर दिया जो भारत का सनातन संदेश है।''[5]

शुद्धतावादी, सौन्दर्यवादी और कलावादी होने के कारण रवीन्द्र-काव्य जीवन-संघर्ष और कर्मण्यता का चित्रण और उपदेश नहीं मिलता। उनमें चिंतन की प्रधानता है जो उस युग की विशेषता है। इस सम्बन्ध में दिनकर की पंक्तिया द्रष्टव्य हैं- ''अपनी शिक्षा-दीक्षा और मति से वह जिस दुनिया के लिए तैयार हुए थे, वह इल्म नहीं, हुनर की दुनिया थी, वह कर्म नहीं चिंतन का जगत् था, वह ज्ञान नहीं, गान का संसार था। रवीन्द्र-साहित्य के

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 160
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 148-149
3 अर्धनारीश्वर, पृ. 152-153
4 अर्धनारीश्वर, पृ. 154
5 अर्धनारीश्वर, पृ. 154

भीतर प्रवेश करने पर कर्म और कोलाहल का विश्व पीछे छूट जाता है।.....रवीन्द्र शीतलता के कवि है। वे मनुष्य या प्रकृति में दाह के अस्तित्व को तटस्थ भाव से नहीं देख सकते।"[1]

रवीन्द्र के काव्य पर वे कालिदास का प्रभाव मानते हैं। कालिदास की कल्पना, कोमलता, सौन्दर्यचेतना, श्रृंगारिकता एवं रसग्राहिता रवीन्द्र में है।

रवीन्द्र का काव्य जिस उच्च शिखर पर अवस्थित है, उसका सम्यक् मूल्यांकन आलोचना से परे है।"[2] उनकी कला में बारीकी है।

दिनकर ने रवीन्द्र के कला विषयक विचारों की भी चर्चा की है। वे निरुद्देश्य आनन्द को ही काव्य का विषय मानते थे। कला के वातावरण को वे अलौकिक मानते थे। उनका विश्वास था कि कला की भूमि मे पहुँचते ही कलाकार लौकिक बंधनों से परे हो जाता है। इस स्थल पर सीमा और असीम का भेद लुप्त हो जाता है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि रवीन्द्र काव्य में बुद्धि और हृदय, भौतिकता और अध्यात्म, पूर्व और पश्चिम का अद्‌भुत समन्वय हुआ है।

रवीन्द्र की कला-सम्बन्धी धारणा कांट के निकट है जहाँ कला को सौन्दर्य की अभिव्यक्त मात्र माना गया है। पर पीछे चलकर इसकी त्रुटियों की ओर भी रवीन्द्र का ध्यान गया था और कला के प्रयोजन पर वे विचार करने लगे थे। लेकिन रवीन्द्र कला को प्रधान रूप से व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति मानते हैं।

इस प्रकार दिनकर ने रवीन्द्र को विशिष्ट प्रतिभा से युक्त साहित्यकार के रूप में देखा है और लोगों की इस भ्रांत धारणा का निराकारण किया है कि रवीन्द्र राष्ट्रीयता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्त्व देते थे और उनका काव्य भी बाह्य प्रभाव की देन है।

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 297-298

2 मिट्टी की ओर, पृ. 96

काज़ी नज़रुल इस्लाम :

बंगला साहित्यकार नज़रुल के सम्बन्ध में दिनकर की धारणा बहुत ऊँची है। नज़रुल के सम्बन्ध में दिनकर बेनीपूरी जी के द्वारा परिचित हुए थे। नज़रुल का प्रभाव भी दिनकर के साहित्यकार व्यक्तित्व पर है।

नज़रुल एक राष्ट्रीय कवि हैं जिनमें पराधीन भारत को जगाने की तीव्र आकांक्षा थी। अपनी पुस्तक 'अग्निवीना' के माध्यम से नज़रुल ने क्रांति की चिनगारी दूर-दूर तक फैलायी। उर्दू में जो काम जोश ने किया, बँगला में लगभग वही काम नज़रुल ने। पूर्व बंगाल में विद्रोह की पहली वाणी लेकर वे आए। क्रांतिकारी के रूप में उन्होंने रूढ़ियों और जर्जर परम्पराओं को तोड़ना चाहा।

नज़रुल एक अर्थ में धार्मिक भी है। साहित्यकार के रूप में उन्होंने हिन्दू संस्कृति का आख्यान किया है। उनमें संस्कार हिन्दू के थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा भी हिन्दू संस्कारों से पूर्ण थी। वे मुसलमानों को भी उसी तरह जगाना चाहते थे, जैसे पराधीन भारत के हिन्दुओं को।

इस प्रकार नज़रुल एक महान कवि और महान मानवतावादी के रूप में उल्लेखनीय हो जाते हैं।

4.3. मराठी साहित्य -

केशवसुत :

केशवसुत का जन्म 19वीं शताब्दी में हुआ था। और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह संसार से विदा हो गये। केशवसुत हिन्दी के भारतेन्दु, नाथूरामशर्मा शंकर, श्रीधर पाठक आदि के समकालीन थे।

दिनकर ने केशवसुत की दो विशेषताओं का उल्लेख किया है-

(क) वे भारत की राष्ट्रीय एकता के संदेशवाहक तथा मानवतावादी कवि थे,

(ख) वे रोमांटिक कवि थे।

बंगाल से रवीन्द्रनाथ की रचनाओं के माध्यम से जो स्वर निःसृत हो रहा था, उसे मराठी में केशवसुत ने हिन्दी वालों से पहले ध्वनित किया। उन्होंने एक राष्ट्र की कल्पना की, बृहत् मानवता के स्वप्न को पहचाना और हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शूद्र आदि को एक बतलाया। इसलिए दिनकर उन्हें प्रशंसा योग्य मानते हैं- "केशवसुत की प्रशंसा इसलिए भी की जानी चाहिये कि उन्होंने बृहत् मानवता की इस कल्पना को पहचान लिया और उसे अपनी हार्दिक भक्ति अर्पित की।"[1]

दिनकर ने उन्हें इस अर्थ में रोमांटिक माना है कि उनमें प्रेम और सोन्दर्य के प्रति आकर्षण का भाव था। वे सौन्दर्य-स्रष्टा, और भाव-विह्वलता के कवि थे। इतना ही नहीं, उनमें रूढ़ियों और जर्जर परम्पराओं के प्रति विद्रोह का भाव भी था- "केशवसुत को मैं रोमांटिक कवि मानता हूँ। रोमांटिक कविता सभी देशों में विद्रोह के प्रति सहानुभूतिशील रही है। केशवसुत भी विद्रोहप्रिय कवि थे, रोमांटिक कविता रूढ़ियों की विरोधिनी होती है। केशवसुत भी रूढ़ियों के विरुद्ध थे। रोमांटिक कवि सौन्दर्य और प्रेम के पुजारी होते हैं। केशवसुत भी सौन्दर्यद्रष्टा और प्रेम के कवि थे। रोमांटिक कविता कवि के व्यक्तित्व को अनूठा समझती है। केशवसुत भी कवि के व्यक्तित्व को विलक्षण समझते थे। और सबसे बढ़कर रोमांटिक कविता भाव-विह्वलता की कविता होती है, और केशवसुत सच्चे अर्थों में भाव-विह्वल कवि थे।"[2] कुल मिलाकर केशवसुत नवीनता के कवि थे और सच्चे अर्थ में कवित्व के गुणों से विभूषित थे।

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 65

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 63

मामा वरेरकर :

दिनकर ने मामा वरेरकर को मराठी भाषा का श्रेष्ठ साहित्यकार कहा है। वे मूलतः नाटककार हैं- "मामा साहब मुख्यतः नाटककार हैं। अतएव, महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन का मंथन उनके नाटकों में खुलकर अभिव्यक्त हुआ है.....नाटकों की रचना उन्होंने रंगमंच की प्रेरणा से की और, प्रायः, प्रत्येक नाटक में उन्होंने समाज की आलोचना, उसके सुधार अथवा किसी सामाजिक परिवर्तन को अपना ध्येय रखा। वस्तुतः, नाटक और रंगमंच का उपयोग उन्होंने जीवन-यज्ञ में भाग लेने को किया, निरे मनोरंजन या आत्मसंतोष के लिए नहीं।"[1] उनके नाटकों का विषय सामाजिक है और उनके नाटकों का उद्देश्य अभिनयेता है, न कि पाठ मात्र। उन पर नाटककार इब्सन का प्रभाव है और वाल्मीकि तथा कालिदास का भी। वरेरकर की नवीनतम रचना 'भूमि कन्या सीता' है जो एक श्रेष्ठ कृति कही जा सकती है। उनके नाटकों में मराठी समाज की प्रगति की झाँकी मिलती है। उनका साहित्य विस्तृत है। उन्होंने 45 नाटक लिखे हैं। वे उपन्यासकार, कहानीकार, निबंधकार और कवि भी हैं। इस तरह, इन्होंने साहित्य की सभी धाराओं पर लेखनी चलाई है। दिनकर के शब्दो में, "यह कहा जा सकता है कि आनंद को अपने भीतर केन्द्रित करनेवाले साहित्य के, प्रायः सभी अंगों पर मामा साहब का अच्छा अधिकार है।"[2]

4.4. तेलुगु साहित्य :

विश्वनाथ सत्यनारायण

दिनकर विश्वनाथ सत्यनारायण को दक्षिण का साहित्य-सम्राट और ऋषि कोटि का कवि मानते हैं। वे इनकी दो रचनाओं की समीक्षा करते हैं। वे हैं- 'सहस्रफन' और 'चन्द्रगुप्त का स्वप्न'। 'सहस्रफन' में आधुनिक काल के आगमन के पूर्व के समाज का

---

1 वट-पीपल, पृ. 45

2 वट-पीपल, पृ. 46

चित्रण है। यों यह पुस्तक उपन्यास कोटी में आती है, पर शैली की दृष्टि से यह काव्य है। इसमें श्रृंगार का भी वर्णन है ओर यह वर्णन क्लासिक काव्य के समान है। इसकी शैली मनोहर है और इसमें अलंकारों की छटा है। इसमें उपमा, उत्त्प्रेक्षा और रूपक के प्रयोग एक से बढ़कर एक हैं। इसमें जो मुहावरे प्रयुक्त हुए हैं। वे भी आकर्षक हैं और हिन्दी में उन मुहावरों का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है।"[1] इनकी दूसरी पुस्तक 'चन्द्रगुप्त का स्वप्न' है जिसका हिन्दी अनुवाद बालशौरी रेड्डी ने किया है। दिनकर इनकी भी प्रशंसा करते हैं।"[2] दिनकर का विचार है कि "विश्वनाथ जी में वैदुष्य, विदग्धता और विनोद तीनों अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए हैं।"[3]

4.5. अंग्रेज़ी साहित्य -

श्री अरविन्द :

अरविंद भारत के ऐसे महापुरुष हैं, जिनके व्यक्तित्व के अन्य कई पक्षों से लोग अवगत हैं, पर उनका साहित्यकार रूप लोगों की दृष्टि से प्रायः ओझल रहा है। दिनकर ने उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए उनके महान साहित्यकार रूप को उद्घाटित किया है। दिनकर ने उन्हें एक योगी-कवि, आध्यात्मिक कवि, सहजानुभूति के कवि, प्रेम के कवि, गंभीर सत्य के कवि और श्रेष्ठ आलोचक के रूप में हमारे सामने रखा है। इन तत्वों का विश्लेषण उन्होंने 'अर्धनारीश्वर' पुस्तक में 'महर्षि अरविन्द की साहित्य साधना' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। वस्तुतः एक साहित्यकार के रूप में उनकी महत्ता का आकलन कोई साधारण कार्य नहीं है, क्योंकि उन्होंने जिस विशिष्ट भूमि पर विचरण किया है, उसे हृदयंगम करना साधारण पाठकों के लिए सरल नहीं है। उनके

---

1 दिनकर की डायरी, पृ. 255
2 दिनकर की डायरी, पृ. 258
3 दिनकर की डायरी, पृ. 255

महान साहित्य को संपूर्णतः समझने का दावा बड़े से बड़ा पंडित अभी तक नहीं कर सका है-श्री अरविंद की साधना अथाह थी, उनका व्यक्तित्व गहन और विशाल था और उनका साहित्य दुर्गम समुद्र के समान है। मुझे अब तक ऐसा आदमी नहीं मिला, जो यह दावा कर सके कि श्री अरविंद को उसने पूरी तरह समझ लिया है।"[1] उनके काव्य-जगत् की गहनता का कारण यह है कि उनके व्यक्तित्व में योगी, कवि और दार्शनिक, तीनों का समन्वय हो गया है। इस सम्बन्ध में दिनकर का यह कथन है- "……..श्री अरविंद के व्यक्तित्व में योगी, कवि और दार्शनिक, तीनों का समन्वय था और वे सबके सब एक ही लक्ष्य की ओर गतिशील थे।……..वैसे तो मात्र कवि और दार्शनिक के रूप में भी श्री अरविंद वरेण्य हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी महिमा यह थी कि वे योगी थे। उनके दर्शन और काव्य की जो वास्तविक शक्ति है, उनके भीतर जो प्रमाणिकता है, वह श्री अरविंद की योग-साधना से आई है।"[2]

दिनकर के इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट होती है कि साहित्यकार के रूप में उनका जो महत्त्व और सुयश है, वह उनकी योग-साधना पर आधारित है। काव्य-रचना की प्रक्रिया में उन्होंने योगी की मनोदशा को अपनाकर सत्य का साक्षात्कार किया है और उसे ही काव्य के रूप में लोगों के समक्ष रखा है। अरविंद साहित्य की अथाह गहराई का कारण उनकी योग-साधनाओं के साथ ही उनका दार्शनिक चिंतन भी है जिसमें विश्व के श्रेष्ठ चिंतकों दार्शनिकों और विचारकों का सार समाविष्ट है। उनका दर्शन पक्ष यूरोपीय विद्वानों की भाँति मेधा और तर्क पर आधारित न होकर उनकी सहजानूभूति से संबंधित है। इसमें उनकी अनुभूति के दर्शन होते हैं जो भारतीय परम्परा की वस्तु मालूम होती है। उनके दर्शन का मूल वेदान्त में खोजा जा सकता है।

अरविंद के साहित्य में जिस आध्यात्मिकता का स्वर है, उसका लक्ष्य सन्यास न होकर आत्मा का मंदिर मानकर आत्मविस्तार को महत्त्व दिया, क्योंकि, इसके द्वारा ही

---

1 चेतना की शिखा, विज्ञप्ति, पृ. 1

2 चेतना की शिखा, भूमिका, पृ. 2

परम तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है। योग और साधना के मध्य से उन्होंने जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह मानवीय मुक्ति का स्तुत्य प्रयास है अरविंद विज्ञान के युग में अवतरित हुए थे, फलतः उनके काव्य में अपार बौद्धिकता का समावेश भी हुआ है। दिनकर का विश्वास है कि चालीस वर्षों की निरन्तर साधना साधना के उपरान्त उन्होंने जो साहित्य रचा है, वह मानवता के पथ-प्रदर्शन का काम करेगा।"[1]

अरविंद के साहित्य में अभिव्यक्त आध्यात्मिकता एक ओर बुद्धिपरक और जिज्ञासापरक है, तो दूसरी और संबुद्धि के साथ आन्तरिक प्रेरणा को भी उन्होंने महत्त्व दिया है। जीवन में दिव्यता लाभ करने की बात अरविंद के पहले के बहुत से साहित्यकारों ने कही है, किन्तु अरविंद की मौलिकता यह है कि उन्होंने इसे वर्तमान युगीन संदर्भ के अनुकूल बनाकर देखा है। विज्ञान के युग में उन्होंने उसे बुद्धि-सम्मत भाषा में व्यक्त किया है, और उसके निष्कर्षों को शब्दों में बाँधा है। मानवीय सीमा का अतिक्रमण करके पार्थिव अमरता और दिव्यता की ओर जाने का प्रयास किया है।

दिनकर ने अरविंद के काव्य के सम्बन्ध में सामान्य अवधारणाएँ ही प्रस्तुत नहीं की हैं, वरन् उन्होंने उसका विवरण और मूल्यांकन प्रस्तुत भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अरविंद के काव्यशास्त्री और कला-चिंतक रूप का भी उद्‌घाटन किया है।

यहाँ पहले दिनकर द्वारा प्रस्तुत अरविंद के काव्य-सम्बन्धी और मूल्यांकन का उल्लेख किया जा रहा है और उसके बाद उनके कला-चिंतन का। दिनकर ने अरविंद के काव्य को काल-क्रम से रखा है, जो इस प्रकार है-"'Songs of Mytrilla', 'बाजी प्रभु', 'उर्वशी', 'प्रेम और मृत्यु', 'Life Divine', और 'सावित्री' काव्य हैं। पहली पुस्तक में अरविंद की बौद्धिकता और उनके काव्यगत वैशिष्ट्य का पूर्वाभास दिखलाई पड़ता है। 'बाजी प्रभु' में भी उनकी आगे की रचना का पूर्वाभास ही है। उनकी 'उर्वशी' खंडकाव्य है जिसका नायक पुरुरवा और नायिका उर्वशी है। इस पुस्तक को दिनकर श्रृंगार रस का

---

[1] अर्धनारीश्वर, पृ. 134

विलक्षण काव्य कहते हैं।"[1] अरविंद की 'उर्वशी' के प्रेम वर्णन को नवयुग की श्रृंगार-भावना की देन मानते हुए वे कहते हैं कि इसमें अरविंद ने प्रेम के आन्तरिक तत्त्व को कोमलता से पकड़ा है। उन्होंने प्रेम की चेतना के भीतर सूक्ष्मता से प्रवेश किया है जिससे उस वर्णन नई-दीप्ति का संचार हुआ है। उनका यह चित्रण पार्थिव और लौकिक होते हुए अलौकिता से पूर्ण है और उसमें कारीगरी की अपूर्व छटा निखरी मिलती है।"[2] उसमें ऐन्द्रियता की आर्द्रता के साथ आदर्शवाद का समावेश भी है- "उर्वशी का प्रत्येक चरण प्रेम का आवर्त्तशील एवं सबको प्लावित करने वाले महानंद की धारा से परिपूर्ण है। रक्त और मांस की पुकार की दिव्य पर ही अभिव्यक्त हुई और फिर प्रेम ईश्वरत्व का प्रतिरूप बनकर आया है।"[3] इस प्रकार लौकिकता अलौकिकता का समावेश अरविंद की विशेषता है। 'उर्वशी' काव्य में पुरुरवा और उर्वशी की कथा को नये मूल्यों के संदर्भ में उपस्थित किया गया है और यह कहा गया है कि 'स्वर्ग की विभूति का भोग मनुष्य तभी कर सकता है, जब तक वह अपनी नग्नता पर आवरण दिये रहे।' दूसरा खंडकाव्य 'प्रेम और मृत्यु' है। इसका आधार भारत की पौराणिक कथा है। इसमें क्षात्रधर्म के प्रतीक पुरुरवा के पतन का कारण उसकी अतिशय भोग-विलास की कामना थी। 'प्रेम और मृत्यु' तथा 'उर्वशी'-इन दोनों खंडकाव्यों में दिनकर अरविंद के यौवन की भावुकता की झलक पाते हैं, किन्तु 'बाजी प्रभु' में दृढ़ता, तेजस्विता और आत्मविश्वास का परिचय है। इस काव्य की सामग्री राजनीति है और इससे अरविंद की काव्य-प्रतिभा के विस्तार का निर्देशन होता है।

दिनकर के अनुसार, अरविंद की सर्वोत्कृष्ट कृति उनकी अंतिम रचना 'सावित्री' काव्य है। यह उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है जो पैंतीस वर्षों की गहन साधना के बाद निर्मित हुई है। इनकी कथा भारतीय जीवन से ली गई है। 'सावित्री' एक ऐसी महान दृढ़प्रतिज्ञ

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 193-194

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 194

3 अर्धनारीश्वर, पृ. 195

भारतीय नारी है जिसने मृत्यु को जीत लिया था। इसीलिए भौतिकता की भूमि पर अवस्थित होकर आध्यात्मिक उपलब्धि का आदर्श सावित्री काव्य के माध्यम से विश्व के समक्ष रखा गया है। सावित्री जीवन की अपराजेय ज्योति के रूप में आई है जो मृत्यु के अन्धकार को भेदने के लिए दृढ़ संकल्प है। दिनकर इस काव्य को 'अकथनीय के कथन का प्रयास' मानते हैं।"[1] इसमें अरविंद ने सूक्ष्म को स्थूल रूप देने की चेष्टा की है। सावित्री काव्य को वे मात्र वे बुद्धि का काव्य नहीं मानते वरन् दिव्यलोक के प्रकाश से युक्त रचना मानते हैं।"[2] यह पुस्तक उनकी अनुभूतियों और आध्यात्मिक उपलब्धियों का पूर्ण प्रतिनिधित्त्व करनेवाली रचना है।"[3] यदि संसार विकास पथ पर बढ़ता हुआ अध्यात्म की ओर गतिशील होगा, तो सावित्री काव्य का स्थान वही होगा जो स्थान वेद उपनिषद् और गीता का है।"[4] 'सावित्री' काव्य में अरविंद ने जिन तत्त्वों का समावेश किया है, वे, दिनकर के अनुसार, मौलिक हैं। उसमें अपार सौन्दर्य है। ऐन्द्रिय चित्रण होते हुए भी उसका वातावरण होते हुए भी उसका वातावरण सर्वत्र पवित्र है। 'सावित्री' काव्य में अतिमानस की जो कल्पना उन्होंने की है, वह अतिशय दुरुह है।

अरविंद ने जिस अति-मानस की कल्पना की है, उसी के अनुरूप साहित्य भी रचा है। उनका विश्वास है कि मानव मन विविध स्तरों को पार कर अतिमानस के धरातल पर पहुँचेगा, जहाँ द्वैत की सीमा लुप्त होगी और मनुष्य इसी जीवन की दिव्यता लाभ करेगा।

अरविंद के काव्य में दिनकर मनोविज्ञान, दर्शन, बुद्धि, अध्यात्म, कल्पना, सत्य, सौन्दर्य अनुभूति और संबुद्धि सभी का समावेश पाते हैं। अरविंद ने अपने काव्य-जगत में जिस गंभीर धरातल पर पदार्पण किया है, उसी अनुपात में उनके काव्य में दुरूहता है, किन्तु एक कवि के रूप में अरविंद को दिनकर अनुभूति और अभिव्यक्ति, दोनों दृष्टियों से

---

1 चेतना की शिखा, पृ. 7
2 चेतना की शिखा, पृ. 2
3 चेतना की शिखा, पृ. 2
4 चेतना की शिखा, पृ. 7

सफल कवि मानते हैं।"[1] जिसका कारण यह है कि अरविंद ने योग की समाधि में काव्य रचा है। दिनकर अरविंद को ऊँचे दर्जे के रहस्यवादी कवि के रूप में मानते हैं पर रहस्यवाद का धुँधलापन उनमें कहीं नहीं है। यहाँ भी अनुभूति और अभिव्यक्ति पूर्ण संतुलित है। दिनकर का यह विश्वास है कि अरविंद ने कविता को जो गौरव दिया है, उससे कविता एक बार फिर मानवात्मा की सबसे अधिक शक्तिशालिनी अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होगी।"[2]

दिनकर अरविंद को एक ऊँचे पहाड़ के रूप में देखते हैं जिस पर स्वर्ग की किरणे पहले आती हैं और इस पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी कविता को मानते हैं।"[3] कविता के सम्बन्ध में अरविंद की धारणाओं का उल्लेख करते हुए दिनकर कहते हैं-"सफल कविता उनके अनुसार वह है जिसमें सौन्दर्य में लिपटा हुए सत्य की अनंतता कल्पना द्वारा अभिव्यक्ति होती है।"[4] अर्थात कविता का अर्थ वे अत्यन्त व्यापक लेते हैं जिसमें सत्य की अनंतता और सौन्दर्य कल्पना के द्वारा स्वरूप धारण करते हैं। वे काव्य में सत्य और सौन्दर्य के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु, सत्य की भूमि बहुत व्यापक हो जाती है। काव्य में कल्पना को उन्होंने अतिशय महत्त्व दिया है और यह कहा है कि कल्पना सत्य का वहन है। उन्होंने कविता की सत्ता को स्वतंत्र सत्ता मानी है और यह कहा है कि यह धर्म, विज्ञान, दर्शन को आत्मसात् करके भी स्वतंत्र ही रहेगी।

भावी कविता पर विचार करते हुए अरविंद ने जो कुछ कहा है, उसका सार दिनकर इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं- "भावी कविता सुसंस्कृत मानव की कविता होगी तथा वह मंत्र के समान होगी ओर निगूढ़ सत्य के भीतर से प्रकट होकर सांत और अनन्त दोनो

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 190-191
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 186
3 अर्धनारीश्वर, पृ. 188
4 अर्धनारीश्वर, पृ. 176

पक्षों में विचरेगी क्योंकि नई आध्यात्मिकता भी प्राचीन धार्मिक भावना से, दर्शन से भिन्न सूक्ष्म और नई चीज़ होगी।"[1]

यहाँ कविता के भाव पक्ष और कला पक्ष, दोनों के सम्बन्ध में अरविंद की मान्यताओं का संकेत मिल जाता है। भाव पक्ष की दृष्टि से वे कविता के निगूढ़ सत्य का प्रतिपादन करते हैं और स्थूल और सूक्ष्म अथवा सांत और अनन्त जगत् को काव्य का क्षेत्र स्वीकृत कर उसे अत्यन्त व्यापक बना देते हैं। इतना ही नहीं, वे इसमें परम्परागत धर्म भावना से भिन्न नवीन आध्यात्मिकता की चर्चा करते हैं तथा उसका स्वरूप प्राचीन दार्शनिकता से भी भिन्न मानते हैं। अभिप्राय यह है कि अरविंद नई कविता में युगबोध का महत्त्व स्वीकार करते हैं। जब वे नई कविता को सुसंस्कृत मानव की कविता कहते हैं , तो यह बात स्पष्ट होती है कि आगामी युग की कविता मनुष्य की आध्यात्मिकता की कविता होगी। जहाँ तक कविता के कलापक्ष का सम्बन्ध है, वे उसकी संक्षिप्तता पर विचार करते हैं। इसी अर्थ में वे कविता को मंत्र के समान सुसंघठित होने की बात करते हैं।

अरविंद के काव्य-सम्बन्धी विचार उनकी आलोचना पुस्तक "The Future Poetry" में उपलब्ध है। इसके सम्बन्ध में दिनकर का कहना है कि "यह अरविंद की काव्य सम्बन्धी धारणाओं का संक्षिप्त विश्वकोश है।"[2] इसमें अंग्रेज़ी कविता का इतिहास है, अनेक अंग्रेज़ी कवियों की आलोचनाएँ हैं तथा काव्य के विविध पक्षों का बड़ा ही गहन और सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसकी विशिष्टता के सम्बन्ध में दिनकर के विचार हैं- "इन निबंधों की भाषा, उनकी शैली की गंभीर भंगिमा और उनमें व्यक्त अतलस्पर्शी विचार ऐसे हैं, जिन्हें देखकर सहसा यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अरविन्द विकास के नाता हैं अथवा साहित्य के।"[3] दिनकर ने उनके काव्यालोचन को अत्यन्त प्रकाशवान कहा है और आलोचना शास्त्र के अनेक निर्माताओं ने उनकी आलोचनाओं को श्रेष्ठ माना है-

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 182

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 182

3 अर्धनारीश्वर, पृ. 182

"जहाँ तक मेरी पहुँच है, मैंने काव्यालोचना के इससे अधिक प्रकाशमान रूप और कहीं नहीं देखे और जब मैं यह कहता हूँ, तब उस उक्ति के घेर में अनेक आलोचकों के अनाम आ जाते हैं को प्राचीन अथवा नवीन आलोचनाओं के निर्माता कहे जाते हैं तथा जिनके विचारों के प्रकाश में कविता नई राह पकड़ती आई है और आलोचना के मानदंडों में परिवर्तन होता आया है।"[1]

दिनकर ने अरविंद के 'प्रेम और मृत्यु', 'बाजी प्रभू', एवं 'सावित्री' और 'उर्वशी' काव्य की विस्तार से चर्चा की है।

[1] अर्धनारीश्वर, पृ. 172-173

अध्याय-पाँच

दिनकर की आलोचना : विश्व साहित्य के सन्दर्भ में

5.1. अंग्रेज़ी साहित्य-

5.1.1. विलियम शेक्सपीयर :

दिनकर ने शेक्सपीयर को एक श्रेष्ठ नाटककार के रूप में विचेचित किया है। शेक्सपीयर का आविर्भाव 16वीं शताब्दी में हुआ था और मात्र 20 वर्षों की साहित्य-सेवा में ही वे संसार के साहित्य में ऊँचे स्थान के अधिकारी बन गये। दिनकर के अनुसार, एक नाटकार के रूप में शेक्सपीयर ने मानव चरित्र की विविधताओं की व्याख्याएँ प्रस्तुत की है- "एक ही शेक्सपीयर ने आदमी के कितने रूपों का सफल प्रतिनिधित्व किया है, यह देखकर आश्चर्य होता है। युद्ध का वर्णन वे सेनापति की तरह करते हैं।.....यह कहना तनिक भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि विधाता के बाद सबसे अधिक मूर्तियाँ शेक्सपीयर ने ही गढ़ी है।"[1] वे एक ओर अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर आधुनिक युग का। उनका साहित्य विशाल है, किन्तु उनके 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' ऐसे पात्र हैं, जिनके चारित्रिक द्वन्द्व ने मानव-जाति का इतिहास और वर्तमान, सब कुछ समाविष्ट हो गया है। उनका अन्तर्द्वन्द्व मानवता का अन्तर्द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व भावना और बुद्धि का है, ज्ञान और कर्म का है।

शेक्सपीयर ने मूलतः यथार्थ जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है। इस अर्थ में वे भारतीय साहित्यकार वाल्मीकि और तुलसी से उनको भिन्न मानते हैं। वाल्मीकि और तुलसी ने आदर्श पात्रों की सृष्टि कर उन्हें देवत्व से मंडित कर दिया है, पर शेक्सपीयर ने मनुष्य को मानवीय रूप में चित्रित किया है। उन्होंने उसमें मानवीय दुर्बलताएँ-लोभ, मोह, काम और क्रोध-सभी का समावेश किया है। उन्होंने अपने पात्रों का पतन जिन कारणों पर आधारित किया है वे हैं- अतिशय भावुकता एवं अतिशय कर्मण्यता। हैमलैट चिन्तन को प्रधानता देता है जिससे उसका जीवन पीड़ा का श्रेष्ठ उदाहरण बन जाता है। मैकबेथ भावना और चिन्तन को त्याज्य मानकर कर्म को प्रधानता देता है और अपनी इच्छापूर्ति के

---

[1] साहित्यमुखी, पृ. 46

लिए मानवीय आदर्शों से नीचे उतरता है, पर उसका अंत भी दुःखद ही होता है। शेक्सपीयर का आदर्शवाद हैमलेट में व्यक्त हुआ है। दिनकर हैमलेट को शेक्सपीयर का निजी प्रतिनिधित्व मानते हैं-"इसीलिए मेरा ख़्याल है कि शेक्सपीयर अपने और किसी भी पात्र की अपेक्षा हैमलेट के अधिक समीप हैं।"[1] ये दो पात्र शेक्सपीयर की दुनिया के दो छोर हैं। अभिप्राय यह है कि शेक्सपीयर की पात्र-सृष्टि अदभुत है और उनके पात्रों से एक प्रकार का संदेश मिलता है-"फिर भी, हैमलेट की रचना करके शेक्सपीयर ने अपना संदेश दिया है, अद्‌भुत है।"[2] उनके साहित्य में चित्रित मानव पात्रों को वैशिष्टय यह है कि उनकी आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों से संगति है। इस अर्थ में वे अवचेतन या अन्तर्मन के कवि हैं।

शेक्सपीयर ने अपने नाटकों में इतिहास को सुरक्षित रखा है। उन पर अपने पूर्ववर्ती नाटककारों का भी प्रभाव पड़ा है। लेकिन उनका साहित्य विभिन्न कालगत स्तरों वाला है। उनका साहित्य एक ओर उनके पूर्ववर्ती युग का द्योतक है, दूसरी ओर उनके तत्कालीन परिवेश का चित्रण करता है, और तीसरी ओर आधुनिक युग की मानवीय प्रवृत्तियों का- "शेक्सपीयर के नाटक दुर्लभ ज्योतियों की मंजूषा हैं, जिनके भीतर मानवता का इतिहास, काल के अदृश्य धागे पर, हमारी आँखों के आगे नृत्य करता है।"[3]

नाटककारों के रूप में शेक्सपीयर की सफलता का एक बड़ा कारण है। शेक्सपीयर ने एक साथ नाटक के निर्देशक, अभिनेता ओर नाटककार-तीनों रूपों में काम किया है, अतः उनके नाटक सफल हैं। उनके नाटकों में पर्याप्त रोचकता भी है। वे खेल की भाँति मनोरंजक प्रतीत होते हैं और गूढ़ गंभीर दार्शनिकता के भार से बोझिल नहीं है-"उनके नाटक नाटक नहीं, खेल हैं, और खेल होने के कारण ही हमें वे इतने रोचक लगते हैं।

---

1 साहित्यमुखी, पृ. 47
2 साहित्यमुखी, पृ. 46
3 साहित्यमुखी, पृ. 47

उनके नाटक हमारी ज़िन्दगी का ख़ाका स्वप्न के रंगों में खींचते हैं, हमारा ही चेहरा वे हमें मुखौटा लगाकर दिखलाते हैं।"[1]

दिनकर ने शेक्सपीयर की मौलिकता का प्रश्न भी उठाया है। अधिकांश आलोचकों ने शेक्सपीयर को मौलिक साहित्यकार नहीं माना है। इस सम्बन्ध में दिनकर का विचार है कि शेक्सपीयर की मौलिकता संदिग्ध है फिर भी उनके महत्त्व में किसी प्रकार की कमी का प्रश्न नहीं उठता-जब शेक्सपीयर का अध्ययन गहराई से किया जाने लगा, तब यह देखकर एक समय लोग चकित रह गये थे कि विश्व का यह सर्वश्रेष्ठ कलाकार मौलिक नहीं है "……..मेरा ख़्याल है, अगर यह बात सच भी हो, तो इससे शेक्सपीयर की महत्ता में कमी नहीं आती।"[2] इस तथ्य पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि प्रत्येक युग का साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती अथवा सामयिक प्रभाव को ग्रहण करता है। वह बात अन्य अनेक श्रेष्ठ-कोटि के साहित्यकारों में भी देखी जाती है। पूर्णतः मौलिक होने का दावा ही भ्रमपूर्ण है, क्योंकि साहित्य व्यष्टि की ही नहीं समष्टि की भी रचना होता है। अतः प्रभाव के बिना साहित्य का काम चल नहीं सकता-"उधार लिये बिना साहित्य में कोई बड़ा काम न तो पहले हुआ है, न आगे होगा।"[3] किन्तु प्रभावों को पचाकर चलने वाली कथन-प्रणाली में जो अपनी क्षमता दिखाते हैं उन्हें ही श्रेष्ठ साहित्यकार कहा जाता है- "ख़ासकर साहित्य में आग नाम की चीज़ किसी-किसी के ही पास होती है। जिसके पास जागरूक आत्मा है, वही उक्तियों को उनके सही प्रसंग में देख सकता है तथा उनका ऐसा विलक्षण प्रयोग कर सकता है कि वे उसी की हो जायें। शेक्सपीयर ने अपने युग में

---

1 साहित्यमुखी, पृ. 47

2 साहित्यमुखी, पृ. 47-48

3 साहित्यमुखी, पृ. 47

उपलब्ध ज्ञान की सभी राशियों का उपयोग किया, इसीलिए, साहित्य के मंदिर में कीर्ति की जितनी भी घंटियाँ टंगी हैं, शेक्सपीयर का नाम सभी घंटियों पर बज रहा है।"[1]

दिनकर ने शेक्सपीयर के सम्बन्ध में एक और तथ्य का उल्लेख किया है। शेक्सपीयर की साहित्यिक महत्ता के कारणों की तलाश आलोचक करते हैं, किन्तु उनकी सफलता के रहस्य का पता पाना दुःसाह्य कार्य है। आजतक आलोचक इस कार्य में असफल रहे हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि शेक्सपीयर 'जिनीयस' थे। दिनकर का कहना है-'जीनियस जिस सीढ़ी से सफलता के शिखर तक पहुँचते हैं, उसे खींचकर अपने साथ वापस ले जाते हैं।'

5.1.2. एडगर एलेन पो :

दिनकर के अनुसार उन्नीसवीं सदी के अमरीकी कवि एडगर एलेन पो शुद्धतावादी आन्दोलन के प्रवर्तक हैं। यह सही है कि रोमांटिक युग में ही 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का बीजारोपण हो गया था। कला के शुद्ध रूप को रोमांटिक कवि शेली, वायरन आदि स्पष्ट नहीं कर पाये। यह कार्य 'पो' ने किया-"किन्तु, युग के हृदय में छिपी हुई जिस भावना को पूरी अभिव्यक्ति कोई रोमांटिक कवि नहीं दे सका, वह अमेरिका के एक कवि एडगर एलेन पो(मृत्यु 1849 ई.) के मुख में अच्छी भाषा पा गई। इसीलिए, हमारा ख़्याल है कि शुद्धतावादी आन्दोलन का आरंभ एडगर एलन पो से ही माना जाना चाहिए। क्योंकि आगामी काव्य के उन्होंने केवल लक्षण ही नहीं कहे, बल्कि, प्रतीकों के प्रयोग से उन्होंने शुद्ध कविताएँ भी लिखकर एक नई परंपरा को जन्म दे दिया।"[2]

पो प्रतीकवादी कवि था। काव्य में प्रतीकों का प्रयोग करके एक नयी परंपरा को उसने जन्म दिया और उसका प्रभाव वर्तमान शताब्दी के कवियों तक भी है। वह कला में

---

1 साहित्यमुखी, पृ. 47

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 50

जीवन और सत्य को गौण मानता था। उसके अनुसार साहित्य का उद्देश्य अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। कला सौन्दर्य-सृष्टि, आनंद-दान और भावों की जागृति का काम करती है।

अपने युग से आगे होने कारण इस समय 'पो' को मान्यता नहीं मिली, किन्तु, वही चीज़ फ्रांसीसी कवि बोदलेयर और मलार्मे में प्रकट हुई है। इन कवियों ने 'पो' को अपना नेता भी माना और उससे प्रेरणा ग्रहण की। 'पो' से निकली हुई शुद्ध कवित्व की धारणा में 19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के दरम्यान काफ़ी परिवर्तन हुआ है और कला-सम्बन्धी यह धारणा अत्यन्त सूक्ष्म हो गई।

5.1.3. जार्ज रसेल :

एक आलोचक के रूप में दिनकर ने जिन हिन्दीतर कवियों और साहित्यकारों पर विचार किया है, उनमें जार्ज रसेल भी एक हैं। इनके काव्य की विशेषताओं एवं काव्य-सम्बन्धी विचारों को दिनकर ने, पर्याप्त गंभीर अध्ययन और मनन के पश्चात्, प्रस्तुत किया और 'अर्धनारीश्वर' पुस्तक में 'जार्ज रसेल का साहित्य चिन्तक' शीर्षक लेख में रसेल पर दिनकर के विचार विशेष रूप में व्यक्त हुए हैं। उन्होंने रसेल पर भारतीयता के प्रभाव के सम्बन्ध में इस निबंध के अतिरिक्त 'संस्कृति के चार अध्याय' में भी लिखा है।

जार्ज रसेल की विवेचना उन्होंने (क) बुद्धिवादी-रहस्यवादी, (ख) आनंदवादी कलाकार, और (ग) आलोचक कर रूप में की है।

दिनकर ने रसेल के आस्थापरक बुद्धिवादी रहस्यवादी रूप पर विचार करते हुए यह कहा है कि रसेल का रहस्यवाद मात्र सहजानुभूति पर ही आधारित नहीं था। वे ऊँचे दर्ज़े के बुद्धिवादी थे। वे घटनाओं के मूल में पहुँचने की कोशिश सूक्ष्म कल्पना और बुद्धि द्वारा करते थे और इन्हीं साधनों के द्वारा दुर्भेद्य और दुर्गम तक पहुँचने को बेचैन रहते थे- "जार्ज रसेल की कल्पना बुद्धि के साथ लेटकर आराम से पगुराने वाली कल्पना नहीं है,

बल्कि जहाँ बुद्धि थकने लगती है, वहाँ भी उनकी कल्पना साहस के साथ आगे देखने का प्रयत्न करती है।"[1] वस्तुतः, ऐसे दार्शनिकों की दृष्टि में रहस्यवाद की सत्ता उस लोक में है, जहाँ बुद्धि नहीं पहुँच सके और जो दृश्य नहीं है, बल्कि जहाँ कल्पना अदृश्य का संकेत देती है। आज के वैज्ञानिक युग में पश्चिमी जगत् के लोग बुद्धि के अतिरिक्त अदृश्य की सत्ता स्वीकार नहीं करते। पर रसेल बुद्धिवादी होते हुए भी अदृश्य और अपर जगत् के पूर्ण महत्त्व देते हैं-"उनकी श्रद्धा जितनी प्रबल है, उनकी बुद्ध भी उतनी ही प्रखर है तथा वह प्रत्येक दिशा में एक नई जिज्ञासा का भाग जगाये चलती है।"[2] उनके रहस्यवाद में परंपरागत विश्वास भी ध्वनित हुआ है, किन्तु उनके साथ नवीनता का भी समावेश हुआ है। वे भारतीय दर्शन से, विशेषकर 'गीता' से प्रभावित थे और गीता को विश्व का श्रेष्ठ काव्य मानते थे।

रसेल ने कला का आश्रय भौतिक समृद्धि के लिए न लेकर आत्मविकास के लिये लिया था। उनकी साधना आत्मा की पूर्णता की साधना थी। कवि, दार्शनिक, चिन्तक और चित्रकार-सभी रूपों में उन्होंने अपने भीतर अधिक-से-अधिक प्रविष्ट करने की चेष्टा की थी। इस सम्बन्ध में दिनकर की यह पंक्ति उद्धृत की जा सकती है- "रसेल की आत्मा का इतिहास पूर्णता के अधिक-से-अधिक समीप पहुँचने के लिए अटूट साधना में संलग्न सतत् जागरूक आत्मा का ही इतिहास है।"[3]

रसेल ने अपने चिन्तन और व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंशों को साहित्य के रूप में पूरी तरह नहीं संजोया। कारण यह था कि वे प्रचार के विश्वासी न थे। उनके कवि-कर्म के पीछे दो ध्येय थे-कर्म की प्रेरणा और आनंद की प्राप्ति। दिनकर ने उनके इस विश्वास की भी चर्चा की है कि वे यहाँ तक कहते थे कि दुनिया के सम्मुख कलाकार की कृति के आने से उसकी पवित्रता तथा स्वाभाविकता नष्ट होती है। इस धारणा के बावजूद, रसेल

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 128-129

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 132

3 अर्धनारीश्वर, पृ. 130

ने लिखा और उनका साहित्य महान् है-"तब भी जो कुछ साहित्य वे छोड़ गये हैं, वह उनके चिंतनशील व्यक्तित्व से स्वेद के समान निःसृत हुआ-सा लगता है।"[1]

रसेल एक ऐसे रहस्यवादी दार्शनिक-चिन्तक कवि थे, जिनपर भारतीय दर्शन की पूरी छाप थी, किन्तु उनकी अपनी मौलिकता भी बनी हुई थी। दिनकर रसेल की उन कविताओं की भी चर्चा करते हैं, जिनपर भारतीय दर्शन का प्रभाव है। ये कविताएँ हैं, 'Over Soul', 'Krishna', 'The Veils of Maya', 'Om' और 'Indian Song'।

रसेल कला को आनंद की वस्तु मानते थे- "मैं तो अपना दीपक अपने आनंद के लिये जलाता हूँ अगर उससे दूसरों को भी रोशनी मिल जाती है तो अच्छी बात है।"[2] वे कला में उपयोगिता, सोद्देश्यता, उपदेश-जैसी वस्तुओं को आने देने के पक्ष में नहीं थे। इसे दिनकर ने उनकी कला-सम्बन्धी धारणा का निचोड़ कहा है।[3] अतः वे टालस्टॉय से भिन्न मत के समर्थक थे, किन्तु वे क्रोचे आदि कलावादियों की भाँति कला को मात्र अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं मानते थे। हाँ, 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त के प्रति वे किंचित् साहनुभूतिशील थे। वे उच्च कोटि की कला के लिए उच्च कोटि के कवि-व्यक्तित्व की अपेक्षा करते थे, क्योंकि वे मानते थे कि कला की कृतियाँ कलाकार के जीवन की नवीनता और उसकी सुरभि होती है- "वे कला की कृतियों को कलाकार के जीवन का नवनीत तथा उसकी स्वाभाविक सुरभि मानते थे।.....अतएव, उनका विश्वास था कि मन्द और मलिन व्यक्तित्व से सुन्दर कृतियों का जन्म नहीं हो सकता।"[4] इसका कारण यह रहा होगा कि उनका व्यक्तित्व भी महान था। उनमें संकीर्णता की गंध तक नहीं थी। वे मानवता के सार्वभौम व्यक्तित्व के पुजारी थे, अतः युद्ध-सम्बन्धी कविता या राष्ट्रीय कविता को उच्च कोटि का साहित्य नहीं मानते थे। यही कारण था कि उनमें रवीन्द्र और

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 133
2 अर्धनारीश्वर, पृ. 136
3 अर्धनारीश्वर, पृ. 136
4 अर्धनारीश्वर, पृ. 121

गाँधी के प्रति अटूट आस्था थी। कहा जा सकता है कि रसेल कविता को मूलतः आध्यात्मिक विकास का साधन मानते थे। कविता में सत्य, सुन्दर और शिव के अस्तित्व की सार्थकता में उनका विश्वास था- "तब भी कला और काव्य, दोनों को ही वे साध्य नहीं, साधन मानते थे, मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का साधन, उसकी आन्तरिक सम्पन्नता की बृद्धि का साधन तथा उसके सुकोमल व्यक्तित्व से सौरभ की तरह प्रस्फुटित होनेवाली अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का साधन है। वे कला को अत्यन्त सहज, सुकोमल और सूक्ष्म मानते हुए भी उसे केवल सौन्दर्य-सृष्टि का माध्यम नहीं मानते थे। "मैं इस बात का विरोध करता हूँ कि केवल सुन्दरता ही कविता का लक्ष्य और एकमात्र नियम है। सत्य और शिव भी कविता के वैसे ही आवश्यक उपकरण हैं और कवि के मार्ग-दर्शन में उनका भी प्रबल भाग होना चाहिए।""[1] वे कला की सूक्ष्मता में अटूट विश्वास रखते थे। वे कविता को मानवता की अभिव्यक्ति मानते थे, अतः आस्था और विश्वास को कलाकार की पूँजी मानते थे। इसलिए वे कहते थे कि सच्चा कलाकार द्रष्टा और नबी के समान होता है। और सच्ची कविता में अनंतता का वातावरण होता है। कविता में विश्व भर की भावनाओं और विचारों का संकेत निहित रहता है- "उनका विचार था..... कि सच्ची कविता में एक प्रकार की अनंतता का वातावरण रहता है और उसे पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है मानो यह विश्व के किसी भी कोने में, इतिहास के किसी भी युग में, लिखी जा सकती थी।"[2] बुद्धि के द्वारा जो चीज़ें व्यक्त नहीं की जा सकती, कविता उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम होती है।

रसेल कलाकार के मात्र कारीगर होने में विश्वास नहीं करते थे- यहाँ तक कि शैली पक्ष पर अधिक ध्यान देना वे कलाकार का दोष मानते थे। अनुभूति की प्रेषणीयता

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 138

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 123

और उसकी सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति पर उनका ज़ोर था, न कि बाह्य पच्चीकारी और सौन्दर्य पर। वे विषय के साथ रचनाकार की तल्लीनता को महत्त्वपूर्ण मानते थे।

दिनकर रसेल की सीमा पर भी विचार करते हैं। उनके अनुसार रसेल के साहित्यकार और आलोचक रूप में सर्वत्र तारतम्य नहीं है। बहुत से स्थलों पर उनकी आलोचना और साहित्य में साम्य है, किन्तु उनकी कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं, जिनमें पारदर्शिता का अभाव है और ये रचनाएँ दुरूह भी हैं-"रसेल की अपनी कविताएँ इस कसौटी पर कहाँ तक खरी उतरी हैं, यह कहना ज़रा मुश्किल-सा काम है, क्योंकि उनकी अनेक कविताओं की शैली कुछ अधूरी और उनमें आनेवाले चित्र धूमिल एवं अस्पष्ट हैं।"[1] उनकी दूसरी सीमा यह है कि वे जीवन भर जिन अमूर्त भावों की तलाश में अदृश्य और अगोचर में प्रवेश करते रहे, उसकी अंतिम उपलब्धि से संभवतः उन्हें संतोष नहीं मिला होगा और उन्हें इस बात का पश्चाताप रहा होगा। फिर, उनकी अनुभूति के निचोड़ से भी आम लोग परिचित नहीं है क्योंकि इसकी आवश्यकता ही रसेल ने अनुभव नहीं की थी। उल्लेखनीय है कि दिनकर ने रसेल के साहित्यकार रूप के विविध पक्षों पर विचार करते हुए इस बात पर बल दिया है कि "रसेल के सूक्ष्म साहित्यिक विवेचन(शैली और भाव से संबंधित विवेचन) को साहित्य जगत् में पर्याप्त महत्त्व दिया जाए।"[2]

5.1.4. टी.एस. इलियट :

फ्रांस में शुद्ध कविता का जो आन्दोलन हुआ उसका प्रभाव जर्मन और अंग्रेज़ी साहित्य पर भी पड़ा। शुद्ध काव्य की कल्पना को मूर्तरूप देने और उसके दोषों का परिमार्जन करने के लिए साहित्यकारों ने घोर आत्ममंथन किया। इस आत्ममंथन के फलस्वरूप जो दो साहित्यकार पैदा हुए, उनमें एक हैं- टी.एस. इलियट- "रेम्बू और

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 125, 1988 संस्करण

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 136

मलार्मे के बाद फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेज़ी भाषाओं में नवीनता और शुद्धता के जो आन्दोलन चले, कवियों ने शुद्ध काव्य की कल्पना को साकार किया, उसके परिणामस्वरूप, दो कवि ऐसे उत्पन्न हुए, जिनके शिखर संसार के प्रत्येक भाग से दिखाई देते हैं। इनमें से एक हैं जर्मन कवि रिल्के.....और दूसरे हैं अंग्रेज़ी के कवि इलियट, जिनका अवसान अभी पिछले साल हुआ है।"[1] (क) दिनकर के अनुसार इलियट मात्र शुद्ध कवि नहीं हैं। (ख) वे नवीन कवि हैं। (ग) वे जीवन के कवि हैं। (घ) दायित्व-बोध के कवि हैं। उन पर भारतीय प्रभाव है। वे कथ्य की दृष्टि से जीवन-चित्रण के विश्वासी हैं पर शैली उनकी आधुनिक है। इलियट को कोई शुद्धतावादी कवि कहता है तो कोई ऐसा कवि जिसके साथ प्राचीन युग का अंत होता है। दिनकर इन दोनों बातों को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हैं और कुछ सीमा तक इनका खण्डन। इनके अनुसार इलियट उस अर्थ में शुद्धतावादी नहीं हैं, जिस अर्थ में शुद्धतावादी काव्य को लिया जाता। शुद्धतावादी काव्य में जीवन को बिलकुल बहिष्कृत कर दिया गया है, पर इलियट में ऐसा नहीं है।-"हमारा ख़्याल है, इलियट नए कवि हैं, किन्तु, वे उस अर्थ में शुद्ध नहीं है, जिस अर्थ में शुद्धता की कल्पना आन्दोलकारी कर रहे थे।"[2] इनमें कथ्य की दृष्टि से जीवन और विचार तथा मूल्य और आदर्श की स्थापना हुई है। इसमें जीवन की वास्तविकता और कर्म है और है वह गांभीर्य, जो काव्य की महत्ता सब युग में बनाए रखता तथा शाश्वत और चिरंतन होता है। इसीलिए दिनकर कहते हैं- "इलियट पूरे अर्थ में जीवन के कवि हैं। उनके भाव समाज से आते हैं। उनकी दृष्टि समाज के खोखलेपन पर है.....जिनका प्रतीक धर्म है।"[3] इलियट जिस युग में उत्पन्न हुए थे, उस युग में काव्य जन-जीवन से दूर हो गया था। उसकी प्रतीकात्मकता, संकेतात्मकता और दुरूहता ने काव्य और सामान्य लोगों के बीच एक प्रकार की दीवार खड़ी कर दी थी। पर इलियट ऐसे कवि हुए, जिन्होंने काव्य और जीवन के अविच्छिन्न

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 89

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 89

3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 90

सम्बन्ध को पुनः स्थापित किया। उन्होंने काव्य और जनजीवन को जोड़ दिया। इस दृष्टि से दिनकर उन्हें महान् कवि कहते हैं- "काव्य और जनता के बीच जिस युग में इतनी बड़ी खाई बन गयी हो, उस युग में भी जिस कवि का नाम पुस्तकालय से निकलकर सड़क पर पहुँच जाय, उसे महाकवि मानने से इनकार नहीं किया जा सकता। श्रीयुत इलियट अपने युग के महाकवि हैं और उनका प्रभाव संसार की अनेक भाषाओं पर पड़ा है।"[1]

दिनकर इलियट को नवीन कवि मानते हैं। जीवन को स्वीकृत करने अथवा परंपरा के साथ अपने को जोड़ने मात्र से कोई कवि प्राचीन नहीं हो जाता। इलियट ने प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद और चित्रवाद को(जो एक ही प्रकार के साहित्यिक आन्दोलन के भाषागत नाम हैं) पचा लिया था और अपने काव्य के तत्वों और साहित्यिक मूल्यों को स्वतंत्र रूप में निर्मित किया था। अपने युग की सारी विशेषताएँ उनके काव्य में दृष्टिगत होती है।"[2] उनमें सत्य और सौन्दर्य है। उनमें 20वीं शताब्दी का संपूर्ण चित्रण है। इलियट की कविता में भाव, विचार, गांभीर्य और अनुभूति की सच्चाई है- "उनकी सबसे बड़ी विशेषता शब्दों, भावनाओं, विचारों और मनोदशाओं के प्रति उनकी कठोर सच्चाई है।"[3] और है वह शैली, जो कविता को मंत्र के समान बनाती है। भाव और विचार की उच्चता तथा जीवन, समय और सत्य के चित्रण के साथ संदेश-निर्माण और उसके लिए संक्षिप्त शैली का प्रयोग इलियट की विशेषता है, यह संक्षिप्त शैली गंभीर अर्थ को अपने भीतर समाविष्ट किये हुए है। उनके बिम्ब भी विचार को लिये हैं। एक कवि के रूप में उनमें आवेश और संयम, दोनों हैं- "उनकी भावदशा संयत और मुद्रा विचारमग्न थी। उनके बिम्ब, विचार और लय समन्वित थे और उस समन्वय पर एक विचित्र प्रकार का नियन्त्रण था, जिसके कारण

---

1 साहित्यमुखी, पृ. 71

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 91

3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 90

इलियट थोड़ा ही कहकर बहुत अधिक कह जाते थे।"[1] दिनकर ने उनकी काव्य की दुरूहता की भी चर्चा की है- "इलियट ने जितना कहना चाहा था, वस्तुतः उससे बहुत कम रहा है। इस युग के अन्य सफल कवियों में भी 'कहने-से-कम-कहने' की शैली अपने आप में कला बन गई है। इलियट ने ऐसी पंक्तियाँ लिखी हैं, जिनमें से एक-एक पंक्ति एक पूरे काव्य का संक्षिप्त रूप है। एक-एक पंक्ति पूरे काव्य का सूत्र है।"[2]

दिनकर इलियट पर भारतीयता का पूरा प्रभाव मानते हैं। इसी अर्थ में वे यह हैं कि इलियट के विकास में उपनिषद् और बौद्ध-चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव है।

दिनकर ने इलियट के काव्य और आलोचना-सम्बन्धी विचारों की भी विवेचना की है। इलियट की दृष्टि में महान् काव्य शुद्ध काव्य तक ही सीमित नहीं हैं-"जब मैं महान काव्य की बात करता हूँ, तब मेरा अभिप्राय शुद्ध काव्य से नहीं होता। अर्थात् शुद्ध कविता चाहे जितनी शुद्ध हो किन्तु केवल शुद्ध होने से वह महान् नहीं हो जाती। महान् काव्य कोरा शुद्ध काव्य भी हो सकता है तथा वह ऐसा काव्य भी हो सकता है, जिसमें विचार भी हों और समाज के लिए सन्देश भी।"[3] इलियट यह भी कहते थे कि कविता की गंभीरता भावों की गंभीरता में है और उसका सौन्दर्य उसकी शैली में है। भाव और विचार का विभाजन काव्य में संभव नहीं होता, वरन् विचार ही भाव का रूप धारण करते हैं। इलियट कला में व्यक्तित्व के प्रश्न पर भी विचार करते हैं। वे कला को व्यक्तित्व से पलायन की क्रिया कहते हैं। पुनः, वे काव्य-निर्माण में अभ्यास या साधना की प्रतिभा से अधिक महत्त्व देते हैं। दिनकर इलियट के इस दोनों मतों से अपनी असहमति प्रकट करते हैं और इलियट को इस मामले में अतिवादी मानते हैं- "दूसरा अतिवाद यह है कि कवि अवतारी या पैगम्बर कुछ भी नहीं होता, न उसकी प्रेरणा आसमान से आती है। कविता अभ्यास की

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 90

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 140

3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 91

चीज़ है।"[1] कलाकार के कारयित्री व्यक्तित्व में उसके दुःख मिलने वाला व्यक्तित्व नहीं होता, इलियट के इस मत का भी दिनकर विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि उनकी कविताओं में उनके दुःख झेलने वाले व्यक्तित्व की भी झलक मिलती है। आलोचना और कविता पर विचार करते हुए इलियट ने यह भी कहा है कि आलोचना के विकास के साथ कविता का ह्रास होता है। दिनकर इस मत का समर्थन करते हैं। काव्य की दुरूहता पर भी इलियट ने विचार किया है, उसकी चर्चा भी दिनकर ने की है।

इस तरह दिनकर ने इलियट को एक ऐसे कवि के रूप में महत्ता प्रदान की है, जिसमें शुद्ध कवित्व के अनेक आन्दोलनों की विशेषताएँ समाविष्ट थीं, किन्तु जो ऐसे साधक थे जिसने जीवन, विवेक और दृष्टिबोध को भी वांछनीय माना था। वे इलियट की समझ के लिए पाठकों से विभिन्न भाषाओं की काव्य-प्रवृत्तियों, सामाजिक जीवन, नैतिक मूल्य बोध आदि की भी अपेक्षा अनुभव करते हैं।

5.1.5. बर्नार्ड शॉ :

दिनकर बर्नार्ड शॉ को एक ऐसे नाटककार के रूप में देखते हैं जिसमें वर्तमान जीवन की समस्याओं का चित्रण महाकाव्य की भाँति हुए है।"[2]

शॉ के सामाजिक प्रभाव की चर्चा वे करते हैं और कहते हैं कि शॉ का सामाजिक जीवन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना बड़ा साहित्यकार वह था। इतना ही नहीं शॉ के लिए लोग एक समय जान देते थे पर अब ऐसी बात नहीं है। उनके शब्दों में "एक समय शॉ के लिए 'क्रेज़' था, पर अबे वे म्युज़ियम में पढ़ जाते हैं।"[3]

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 189

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 21, 1988 संस्करण

3 दिनकर की डायरी, पृ. 130

5.1.6. डी.एच. लॉरेंस :

दिनकर ने अंग्रेज़ी कवियों में डी.एच. लॉरेंस के सम्बन्ध में कई स्थलों पर लिखा है। उन्होंने लॉरेंस की कई कविताओं का अनुवाद किया है, जिससे यह आभास मिलता है कि लॉरेंस के साहित्य के प्रति उनकी रुचि थी।

दिनकर ने लॉरेंस को प्रेम का कवि माना है जिन्होंने यौन चेतना को धर्म की पवित्रता प्रदान की। पर उनकी प्रेम-सम्बन्धी मान्यताओं से दिनकर सहमत नहीं हैं।

दिनकर लॉरेंस की भाषा के प्रशंसक हैं। उनका कहना है कि लॉरेंस की भाषा बुनियादी अंग्रेज़ी है, जिसमें सरलता, गत्यात्मकता और स्वाभाविकता है। वे लॉरेंस की भाषा को बोलचाल की भाषा मानते हैं किन्तु उसका साहित्यिक प्रयोग उसे अधिक जीवन्त और प्रभावशाली बनाने में समर्थ हुआ है- "……..उनकी भाषा भी मुझे बुनियादी अंग्रेज़ी के समान दिखाई पड़ी- सरल, मुहावरेदार, चलती और पुरज़ोर जिसमें बनावट का नाम भी नहीं है। कविताओं की भाषा गढ़ने के लिए लॉरेंस छेनी और हथौड़ी का प्रयोग नहीं करते थे। जैसे ज़िन्दगी वे उसे मानते थे जो हमारी सभ्यतावाली पोशाक के भीतर बहती है, उसी तरह भाषा उन्हें वह पसन्द थी जो बोल-चाल से उछलकर कलम पर आ बैठती है।"[1]

लॉरेंस कविता में कला को महत्त्व नहीं देते, क्योंकि कला कृत्रिम होती है और कला के अनुबंधों में अभिव्यक्ति साहित्य दीर्घायु नहीं होता।"[2]

लॉरेंस ज़िन्दगी की स्वाभिकता में विश्वास करते हैं, कृत्रिमता में नहीं। वे बुद्धिवादी नहीं है क्योंकि बुद्धि और विज्ञान में जीवन सहजता का परित्याग कर देता है।

कुल मिलाकर, दिनकर उन्हें जीवन और भाषा के स्वाभाविक कलाकार मानते हैं।

---

1 आत्मा की आँखें, पृ. 4, भूमिका से

2 आत्मा की आँखें, पृ. 4, भूमिका

5.2. फ्रेंच साहित्य-

5.2.1. बोदलेयर :

दिनकर ने बोदलेयर को शुद्ध कविता के जन्मदाता, प्रतीकवादी, सहजानुभूति के कवि, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्य और कला के प्रेमी और नैतिकता के विरोधी साहित्यकार के रूप में चित्रित किया है।

शुद्धतावादी आन्दोलन का आरंभ एडगर एलेन 'पो' से माना जाता है। बोदलेयर की कविताओं की प्रेरणा के मूल में 'पो' की ही साहित्यिक धारणा थी, किन्तु शुद्ध कविता के स्वरूप का निखार फ्रांस के बोदलेयर, रेम्बू और मलार्मे में ही हुआ- शुद्ध कविता का असली प्रयोग, और किसी देश में आरंभ न होकर, फ्रांस में आरंभ हुआ और वहीं, तीन महाकवियों(बोदलेयर, रेम्बू, मलार्मे) के हाथों शुद्ध कविता ने ऐसा निखरा हुआ रूप प्राप्त कर लिया कि संसार-भर के आगामी काव्य का 'मॉडल' बन गया।"[1] इन कवियों ने जिस नवीनता की तलाश की, उसी राह पर संपूर्ण यूरोप की कविता चलने लगी। बोदलेयर रोमांसवादी-प्रतीकवादी थे- "उनकी कविताओं में यदि रोमांसवाद का रस है, तो उनके भीतर प्रतीकवादी आन्दोलन का प्रवर्तन भी है।"[2] इस बात का प्रमाण उसकी 'कारेस्पोन्डेन्स' नाम कविता है जो फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन का घोषणापत्र मानी जाती है। प्रतीकवादी होने के कारण वे प्रत्येक वस्तु को किसी न किसी सौन्दर्य का प्रतीक मानते थे।"[3]

बोदलेयर अन्तर्दृष्टि-संपन्न कवि थे और सहजानुभूति के द्वार जिस लोक में विचरण किया जाता है उस लोक की सत्ता में विश्वास ही नहीं करते थे, उन्होंने इस लोक को ही अपना क्रीड़ा स्थल बनाया था। दिनकर कहते हैं कि "बोदलेयर का विश्वास था कि

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 53
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 53
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 57

कलाकार के माध्यम से बुद्धि नहीं, ईश्वरीय शक्ति काम करती है और जिस कवि ने ईश्वरीय शक्ति को जितनी दूर तक ग्रहण किया है, वह उतना ही सामर्थ्यवान है।"[1] अतः बोदलेयर यह भी मानते थे कि कला के माध्यम से अदृश्य जगत् के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है और इसी के कारण कलाओं में एक प्रकार की एकता होती है। इस प्रच्छन्न सौन्दर्य को साशान्य आँखें देख नहीं पातीं, विशिष्ट व्यक्ति ही देख पाता है।"[2]

दिनकर ने बोदलेयर की गणना मनोवैज्ञानिक कवियों में की है। उनका काव्य अन्तर्मूखी है। वे अन्तर्तम की गहराई तक पहुँचे थे। इस सम्बन्ध में दिनकर एक लेखक का मत उद्धृत करते हैं- "……..लेकिन बोदलेयर बहुत आगे तक चले गए। वे उस अतल लोक तक पहुँच गये, जो निर्जन और एकान्त था, जो अनुसंधानित और अन्धकारपूर्ण था तथा जहाँ रुग्ण मस्तिष्क की भयानक कल्पनाएँ विहार करती थीं।"[3] अर्थात् मानव-मन की अतल गहराईयों का अनुसंधान बोदलेयर की कविता में प्राप्य है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि बोदलेयर पर यह प्रभाव फ्रायड या अन्य मनोवैज्ञानिकों का है।

बोदलेयर सौन्दर्य और कला के प्रेमी थे। किन्तु उन्होंने इस सौन्दर्य की तलाश निरन्तर पाप, कदाचार और अश्लीलता में ही की। दिनकर के अनुसार,वे पाप, सडांध और कदाचार के दलदल में से सौन्दर्य की ऐसी सत खींच निकालते हैं, अलौकिक और दिव्य है तथा जो मिटने से से इनकार करती है।[4] यही कारण था कि उन्होंने सामाजिक नैतिक मूल्यों की अवहेलना की है। उनका व्यक्तित्व एक पतनशील मनुष्य का व्यक्तित्व है। किन्तु उनका काव्य महान् है- "……..जो बात समझ में आती है, वह यह है कि बोदलेयर का जीवन घृणित, किन्तु उनका काव्य अपूर्व था।"[5] "उसमें अर्थ, छन्द और परंपरा है।"[6]

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 58
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 58
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 57
4 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 57
5 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 53
6 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 55

5.2.2. मलार्मे :

शुद्ध कविता के इतिहास और उसके सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए दिनकर ने उन साहित्यकारों की विशेषताओं की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जिन्होंने कविता के इस रूप के निर्माण में अपना योग दिया है। ऐसे ही साहित्यकारों में मलार्मे भी एक हैं।

रोमांसवाद की प्रतिक्रिया के रूप में फ्रांस में वस्तुवाद और प्रकृतवाद का जन्म हुआ, लेकिन शीघ्र ही लोगों ने रोमांसवाद की उन विशेषताओं की कमियों को प्रकृतवाद और वस्तुवाद में भी अनुभव किया जिनके कारण काव्य, काव्य बनता है। फलतः कला में रहस्य, सूक्ष्मता, संवेदनशीलता और बारीकी की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। और रोमांसवाद पुनः प्रतीकवाद का रूप धारण कर आया। फ्रांस में प्रतीकवाद के दो नेताओं में एक स्टीफन मलार्मे हैं। मलार्मे ने 'पो' की रचनाओं का अनुवाद किया था। वे कुछ दिनों तक इंगलैंड में रहकर फिर अपने देश लौटे और अंग्रेज़ी पढ़ाने का काम करते रहे। प्रतीकवादी शैली के जनक बोदलेयर माने जाते हैं, पर उसके विकास के पथ पर बढ़ाने वाले साहित्यकारों में मलार्मे भी एक हैं। अतः प्रतीकवादी शैली के परिष्कारक के रूप में ये विख्यात हैं। दिनकर अपनी 'कविता और शुद्ध कविता' में लिखते हैं- ''प्रतीकवाद का सघनतम रूप हम मलार्मे की कविता में देखते हैं और प्रतीकवादियों में वे सबसे अधिक मौलिक कवि माने जाते हैं। किन्तु इस मौलिकता की प्राप्ति के क्रम में वे अपने संतुलन को नहीं कायम रख सके। उनकी कविता सर्वसाधारण की तो क्या उन थोड़े से रसज्ञ पाठकों की भी कविता नहीं है जो अपनी रुचि को शिष्ट, परिमार्जित और बारीक समझते हैं।''

मलार्मे की कविताएँ दुरूह हैं। वे मंत्र शैली में रचना करना चाहते थे वे इसके लिए उपर्युक्त भाषा की तलाश में जीवन भर संघर्ष करते रहे, पर उन्हें श्रम के अनुपात में आधी

सफलता ही मिली। उन्होंने थोड़ी-सी कविताएँ लिखीं, वे फ्रेंच में भी कठिन हैं और उनका अंग्रेज़ी अनुवाद भी कठिन है, पर उन्होंने जितना भी लिखा, उसके भीतर प्रतीकवाद का चरम लक्ष्य पूर्ण रूप से चरितार्थ हुआ है। उन्होंने अपनी अर्धसफलता से ही साहित्य में जो प्रकाश फैलाया, वह पूर्ण सफलता में भी शायद नहीं फैला। वे कलाकार के लिए सौन्दर्य की उपासना और निर्भीकता आवस्यक मानते थे। कलाकार की सफलता और लोक रुचि का महत्त्व उनके लिए नगण्य था। वे एक अर्थ में रहस्यवादी थे। दिनकर कहते हैं- "रहस्य को मलार्मे कवि का यंत्र समझते थे। अर्धज्योतियों, ध्वनियों, प्रसंगों, अनिश्चित संदर्भों, गोधूलि के वातावरण और दूरागत झंकारों को वे कला का अभिन्न अंग मानते थे। उनका विचार था कि साहित्य, संगीत और चित्र सभी कलाओं का तीसरा आयाम ध्वनि है, जो प्रायः अनिश्चित होती है। वे कहते थे कि 'मेरी कविताओं से कुछ लोग नाराज़ होंगे, कुछ उदासीन रहेंगे, मगर कुछ लोग ऐसे भी होंगे जो उन पर विस्मय करेंगे। मैं इन्हीं विस्मित होने वाले पाठकों के लिए लिखता हूँ।'"[1]

मलार्मे की कविताएँ पहेली की तरह हैं। इसका कारण बतलाते हुए दिनकर कहते हैं कि एक ओर वे रोमांसवाद के समीप थे और दूसरी ओर ऐसी नित्य नूतनता, नये क्षितिज और नये माध्यम की तलाश मे थे, जो उनकी मनोदशा को अभिव्यक्ति दे सके। परन्तु उन्हें माध्यम नहीं मिल पाया, फलतः अभिव्यक्ति में अस्पष्टता बनी रही। मलार्मे की वेदना रचनाकार की वेदना है जिसे "एक अलोचक ने अनुर्वरता की वेदना या बाँझपन का दर्द कहा है।"[2]

मलार्मे भावना के उपासक थे-कर्म या ज्ञान के नहीं। वे उन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल थे जो अभी तक अभिव्यक्ति नहीं पा सकी हैं। वे अकथ्य को कथ्य बनाने की कोशिश में थे। वे कविताओं में सुस्पष्टता को महत्त्व न देकर उस सूक्ष्म भंगिमाओं के चित्रण को महत्त्व देते थे जो प्रेम के साथ अदृश्य रूप से लिपटी रहती हैं।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 64

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 64

प्रेमी-प्रेमिका के विरह-मिलन के चित्रण का उनके लिए कोई अर्थ नहीं था। निराकार संपूर्णता के लिए वे भाषा की तलाश में थे जिसे वे उस उक्ति में व्यक्त करते हैं- "मैं केवल एब्सोल्यूट पर धावा करने में दक्ष हूँ। मुझमें और कोई क्षमता नहीं है।"[1]

मलार्मे बोदलेयर और रेम्बू की अर्ध-प्रकाश और धूमिलता को कला के लिए अनिवार्य अंग मानते थे और हृदय पक्ष को भी महत्त्व देते थे। दिनकर ने मलार्मे के महत्त्व पर दृष्टिपात करते हुए लिखा है- "कला में कलात्मकता को निखारने के प्रयास में प्रतीकवाद ने वस्तु जगत् से नाता तोड़ लिया। एक वस्तुवादी युग में मलार्मे ने कविता का रुख़ एक ऐसे जगत् की ओर फेर दिया जो अपने आप में वास्तविक होते हुए भी सामान्य वास्तविकता से दूर था।"[2]

5.2.3. आर्थर रेम्बू :

'पो' में जिस अन्तर्मुखी और शुद्धतावादी काव्य-प्रवृत्ति का आभास मिला था वही बोदलेयर तथा मलार्मे के काव्य से विकसित होते हुए रेम्बू में चरम विकास पर पहुँचा।"[3]

रेम्बू ने 15 से 20 वर्ष की अवस्था तक मात्र पाँच वर्षों तक साहित्य रचा और वे विश्व साहित्य में अमर हो गये। आर्थर रेम्बू में एक श्रेष्ठ साहित्यकार और आलोचक के रूप में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं- (क) सर्वथा अछूती भूमि पर काम, (ख) नवीनता का प्रवर्तन, (ग) क्रांतिकारिकता और परंपरा का विरोध (घ) अवचेतन की अभिव्यक्ति एवं सहजानुभूति का महत्त्व एवं (ङ) नैतिकता और कर्म का विरोध।

रेम्बू के काव्य में नवीनता के दर्शन होते हैं। उन्होंने अपने काव्य-निर्माण के लिए जिस भूमि पर संचरण किया है, उस भूमि तक उनके पूर्ववर्ती साहित्यकारों की कल्पना

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 65
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 66
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 66

नहीं पहुँच सकी थी, वहाँ उनके पाँव नहीं पड़े थे।"[1] उनके काव्य में युग चेतना की झलक दिखलाई पड़ती है, पर उन पर वैचारिकता का कोई प्रभाव नहीं है। उन्होंने कला की उपासना, कला के रूप में की। दिनकर ने रेम्बू के काव्य में प्रतीकवाद, अभिव्यंजना और चित्रवाद-सभी प्रकार के कलात्मक आंदोलनों के वैशिष्ट्य का समावेश पाया है, पर इतने से ही रेम्बू की विशेषताएँ शेष नहीं होती। इनमें कविता, कला और नीतिशास्त्र-सम्बन्धी सभी आन्दोलनों की जड़ें विद्यमान थीं।[2]

रेम्बू एक क्रांतिकारी व्यक्तित्व वाले कलाकार थे। उनके काव्य में परंपरागत काव्य और साहित्य की मान्यता का विरोध और खण्डन हुआ है। इसी के कारण वे एक श्रेष्ठ साहित्यकार की श्रेणी में आते हैं। दिनकर के शब्दों में, "रेम्बू की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि परंपरा के टूटने की आवाज़ उन्हें सबसे पहले सुनायी पड़ी थी और आगामी पीढ़ियों को इसकी सूचना उन्होंने इस आत्म-विश्वास से प्रदान की, मानो, वे 18-20 साल के लड़के नहीं, कला के अवतारी पुरुष रहे हों।"[3] दिनकर रेम्बू को अवचेतन का कलाकार कहते हैं। उनमें मानव-मन की अतल गहरईयों में प्रवेश करने की अदभुत शक्ति थी। उन्होंने अवचेतन के अमूर्त भावों को मूर्त किया है। वस्तुतः वे मनुष्य के भीतर अवस्थित उस लोक को अभिव्यक्ति देने आए थे जो अगम और अज्ञानता है। इसी अर्थ में दिनकर ने उन्हें सुररियलिज्म का कवि भी माना है-"किन्तु विस्मय की बात यह है कि वे सुररियलिज्म के भी प्रवर्तक माने जाते हैं, क्योंकि वे चेतन के कवि नहीं थे।"[4] साहित्य को उन्होंने भाव-जगत् की वस्तु सिद्ध किया है और अरूप को महत्त्व दिया है। उन्होंने साहित्य में बुद्धि के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने सहजानुभूति को ही काव्य के लिए अपेक्षित माना है। उन्होंने कर्म और नैतिकता का महत्त्व साहित्य में नहीं माना है।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 67
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 67
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 71
4 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 67

उनमें सभ्यता, धर्म, कानून, और नियम-सभी का विरोध सुनाई पड़ता है। रेम्बू की बिम्ब-योजना पर विचार करते हुए दिनकर ने कहा है कि असंबद्धता के बावजूद उनके बिम्बों में मनोवैज्ञानिक भूमि पर एकता है। कवि की कविता और काव्य की भाषा, बिम्ब आदि पर रेम्बू ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, उनसे उनके विस्तृत ज्ञान का पता चलता है, वे कविता को आन्तरिक लोक की वस्तु मानते हैं, जिसको विवेचित करने की सामर्थ्य शब्दों में नहीं होती। उन्होंने काव्य की गहराई और शब्द की सीमा पर विचार किया है। वे बिम्ब को भूचाल की भाँति शक्तिशाली मानते हैं। वे कविता का सम्बन्ध दृश्यजगत् से नहीं मानते हैं, वरन् अदृश्य जगत् से मानते हैं। वे इसके लिए संकेत और प्रतीक की आवश्यकता पर बल देते हैं। अर्थ और विचार का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है।

इस तरह शुद्ध कविता के क्षेत्र में उनकी देन महान है। वे एक महान प्रतिभा संपन्न कवि हैं- "संसार की विभिन्न भाषाओं में उन पर 500 ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं तथा उनके प्रशंसक और आलोचक एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि रेम्बू अद्‌भुत प्रतिभाशाली कवि थे।"[1] जिनकी मुट्ठी भर कविताएँ आग की चिनगारियों की भाँति जगह-जगह ज्वाला प्रकट करने में समर्थ हैं।

5.2.4. ज्यां पाल सार्त्र :

दिनकर ने ज्यां पाल सार्त्र को निःसंगता का कवि, ईमानदार चिन्तक और आलोचक कहा है। साहित्य के क्षेत्र में 'शुद्धतावादी' और 'कला कला के लिए' वाले सिद्धांत का जन्म हुआ जिनमें से पहला सिद्धान्त आनन्द को महत्त्व देता था। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के आते ही ऐसा अनुभव होने लगा कि साहित्य में बौद्धिक चिन्तन और अन्तर्दृष्टि का समावेश अत्यधिक हो गया है मूल्यों में साहित्यकार की कोई आस्था नहीं

---

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 67

रही है। इसका कारण था समाज की बढ़ती हुई विश्रृंखलता। इसने साहित्यकार के भीतर अकेलेपन को जन्म दिया। ऐसे साहित्यकारों में ईश्वर और धर्म के प्रति आस्था का भाव नहीं मिलता, वे सभ्यता के सभी मूल्यों को शंका की दृष्टि से देखते हैं। सार्त्र की प्रारंभिक रचनाओं में यही निःसंगता, अकेलेपन का दर्द, क्षोभ और निराशा की भावना दिखलाई पड़ती है- "अकेलेपन की इस व्यथा का चित्रण आन्द्रे जींद से प्रारंभ हुआ था और पिरेनडेलो, जूलियन ग्रीन, मालरो, अलबेयर कामू और ज्याँ पाल सार्त्र में वह अधिकाधिक विकास पाता रहा।"[1]

सार्त्र की अनेक पुस्तके हैं- 'नौसिया', 'दी पूलाइज़', 'दवाल', 'सिचुएसन्स, 'दी एज ऑफ रीज़न' आदि। इन पुस्तकों में उनके पात्रों द्वारा जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनमें उपर्युक्त भावों की प्रमुखता है। इन पात्रों की बेचैनी, विषण्णता, असहायता और अप्रसन्नता उन्हें अपने आप को अजनबी और निर्वासित बनाये हुए है। इस स्थिति पर दिनकर की टिप्पणी है- "एक अन्य दृष्टि से देखने पर यह भासित होता है कि यह स्थिति कर्म के त्याग से उत्पन्न हुई है, समाज से अपने को तटस्थ बनाने के कृत्रिम प्रयास से उत्पन्न हुई है। यह स्थिति सामाजिक और वैयक्तिक चेतनाओं के बीच खुदी हुई खाई का परिणाम है।"[2]

लेकिन दिनकर कहते हैं कि सार्त्र की उत्तरवर्ती रचनाओं में सामाजिकता से संपृक्तता का भाव मिलने लगा है। यह स्थिति उनमें युद्ध के बाद उत्पन्न हुई है। वे जीवन से तटस्थ रहने की चेष्टा के उपरान्त इस निष्कर्ष पर आते हैं कि चिन्तक सामाजिक प्रतिबद्धता से अलग नहीं रह सकता- "सार्त्र का आरंभिक चिन्तन प्रतिबद्धता के विरुद्ध पड़ा था, किन्तु अब वे इस निष्कर्ष पर आ गये हैं कि प्रतिबद्धता ही वह चीज़ है, जो

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 202

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 208

चिंतक को वास्तविकता के साथ जोड़कर देखती है।"[1] फलतः सार्त्र ने युग की अनुभूतियों और जीवन के चित्रण को परवर्ती साहित्य में स्थान दिया है।

दिनकर सार्त्र को ईमानदार चिन्तक मानते हैं। एक चिन्तक के रूप में वे क्रांतीकारी हैं। उन्होंने समय की समस्याओं और सभ्यता की विकृतियों पर विचार किया है। एक आलोचक के रूप में उन्होंने कला में प्रचार को स्थान नहीं दिया है। क्योंकि इससे कला दूषित होती है।

5.2.5. अलबेयर कामू :

अलबेयर कामू को भी दिनकर ने सार्त्र की तरह ही निःसंग कलाकार माना है किन्तु इसके साथ उन्होंने कामू को एक ऐसे चिन्तक के रूप में भी देखा है जो युग की समस्या पर गहरी दृष्टि डालता है। इस श्रेणी के चिन्तक कवियों को दिनकर पसन्द नहीं करते, किन्तु उनमें कामू उन्हें सबसे कम नापसन्द हैं।"[2]

कामू की रचनाओं की वैयक्तिक मुद्रा विक्षिप्तता की होती है। उनमें कथानक गौण होता है और शैली प्रधान होती है। उनमें शब्दों के द्वारा जो वातावरण तैयार होता है- उनमें गहनता और उलझाव होता है, किन्तु कथानक में प्रधानता शब्दों को बिठाने की अदा को दी जाती है। अभिप्राय यह है कि उनमें शैली पक्ष प्रबल है और भाव अथवा कथावस्तु उलझी हुई। दिनकर यह अनुभव करते हैं कि सामाजिक प्रतिबद्धता, मूल्य और आस्था के बिना कोई साहित्यकार अपना महत्त्व नही कायम कर सकता चाहे वह कितनी ही नवीन शैली की तलाश क्यों न करें।

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 210

2 दिनकर की डायरी, पृ. 242

5.3. पोलिश साहित्य-

5.3.1. अदम मित्सकेविच :

दिनकर के अनुसार अदम मित्सकेविच राष्ट्रीय, रोमांटिक, रहस्यवादी और मानवीय एकता के कवि थे। पोलैंड यूरोप का एक छोटा सा देश है, जिसका इतिहास संघर्षों, बलिदानों और वीरता का इतिहास है। इसी वीर भूमि पर अदम मित्सकेविच का जन्म सन् 1798 में हुआ था। उनका युग यूरोप के इतिहास में भावात्मक, वैचारिक और राजनीतिक उथल-पुथल का युग था, वे पोलैंड में ऐसे समय में आये थे, जब वहाँ की स्वतंत्रता ओर एकता खत्म हो चुकी थी और वह स्वेच्छादारी राजाओं के दमन का शिकार हो रहा था। विपत्तियों के भयानक जाल में आबद्ध यह देश कराह रहा था, तभी जैसे ईश्वर ने देवदूत के रूप में इस कवि को पोलैंड की भूमि पर उतारा। उन्होंने अपने राष्ट्रीय काव्य 'पन्तदोश' के द्वारा तो स्वदेश को जीवन देने का प्रयास किया और स्वयं राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेकर उसके राजनीतिक नेता बन गये।

दिनकर के अनुसार मित्सकेविच प्रारंभ में रोमांटिक कवि थे। पोलिश भाषा में रोमांटिक आन्दोलन का सूत्रपात उन्हीं के समय में हुआ था। जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड के समान नई रोमांसवादी भावना यहाँ भी व्यापक हुई थी- "पोलिश भाषा में इस रोमांटिक का आरंभ मित्सकेविच ने किया और उन्हीं की रचनाओं में इसका संतुलित परिपाक भी मिलता है, मानों कोई मुग्धा एक ही रात में बुद्धिमति प्रौढ़ा नारी बन गई हो।"[1] मित्सकेविच ने चौदह वर्षों तक काव्य रचना करने के बाद कल्पना की भूमि से उतर कर सत्य की भूमि पर पाँव रखा और देश-सेवा-यज्ञ में अपनी आहुति दी। सारा जीवन निर्वासित रहकर उन्होंने राष्ट्रदेवता की जो अराधना की उसने उन्हें पोलैंड की जनता की दृष्टि में बहुत ऊँचा उठा दिया।

---

[1] वट-पीपल, पृ. 60

मित्सकेविच पोलैंड के राष्ट्रकवि के रूप में पूजित हैं, क्योंकि पोलैंड के संघर्षपूर्ण जीवन की गाथा उनके काव्य में मुखर हुई है। पोलैंड की राष्ट्रीय पीड़ा ही उनकी कविता की प्रेरणा बनी है। उन्होंने अपने देशवासियों के भीतर उत्साह और विद्रोह का मंत्र कविता के माध्यम से फूँका और जागरण का शंखनाद किया है। वे राष्ट्रकवि इस अर्थ में है कि उन्होंने 'पन्तदोश' नामक महाकाव्य में पोलिश जाति(स्लाव) की सभी विशेषताओं को मूर्त कर दिया है। इस महाकाव्य में इस जाती की बड़ी-बड़ी घटनाओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों का संधान है। मित्सकेविच को अपनी जाति के भीतर की महत्ता, अनुभूतियों और उमंगों का ज्ञान था जिन्हें उन्होंने अपने महाकाव्य में प्रकट किया है। इतना ही नहीं, इस पुस्तक में उन्होंने इस जाति के आदर्श, विचार, बाहुबल और भावनाओं की गूँज भर दी है। इसमें कल्पना है, तो कर्मण्यता की प्रेरणा भी है। इसमें अतीत और भविष्य को प्रभावित करनेवाले तत्त्व हैं।

'पन्तदोश' पुस्तक 1832 में पेरिस में लिखी गई और 1834 में प्रकाशित हुई। तब से इसकी ख्याति आकाश चूमने लगी। 'पन्तदोश' स्लाव-भाषा के सर्वश्रेष्ठ काव्य के रूप में समादृत है।"[1] स्लाव जाति उसे अपना सर्वश्रेष्ठ जातीय काव्य मानती है।

मित्सकेविच ने सपनों की रंगीन दुनिया में भ्रमण करने के बाद दर्शन के क्षेत्र में पदार्पण किया था और रहस्यवाद की ओर भी उनका झुकाव हुआ था। पर यह स्थायी नहीं हो सका। उनकी स्थायी भावना राष्ट्र की आकुलता को वाणी देने की भावना थी ओर अपनी इसी चेतनता से उन्होंने अपनी संपूर्ण जाति को प्रभावित किया। इनकी कविता की वेधकता उनकी अनुभूति की तीव्रता है।

इनकी दूसरी पुस्तक 'फोरफादर्स इव' है जो एक काव्यनाटक है। दिनकर लिखते हैं-"अर्थ नहीं समझने पर भी अनुमान होता रहा कि मित्सकेविच महाकवि रहे होंगे।"[2]

---

1 वट-पीपल, पृ. 60

2 देश-विदेश, पृ. 62

मित्सकेविच काव्यनिर्माता, राष्ट्रनिर्माता और क्रांतिकारी थे, किन्तु इससे बड़ी चीज़ जो उनमें थी वह थी विश्व-बन्धुत्व की भावना। इस सम्बन्ध में दिनकर लिखते हैं कि- "मित्सकेविच केवल एक राष्ट्र के कवि नहीं थे। राष्ट्रीय रेखाओं के आर-पार, मनुष्य-मनुष्य में मौलिकता का जो तार है, मित्सकेविच उससे भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने लिखा है- "जो व्यक्ति किसी एक राष्ट्र के हित की बात करता है वह स्वतंत्रता का शत्रु है। समस्त यूरोप को छोड़कर किसी एक देश की बात सोचना, असल में, उस देश की भी उन्नति के खिलाफ़ सोचना है.....सबका सुख प्रत्येक व्यक्ति का जीवनोद्देश्य होना चाहिये।""[1]

5.4. जर्मन साहित्य-

5.4.1. गेटे :

गेटे को दिनकर ने रोमांटिक कवियों की श्रेणी में रखा है। यह बात दूसरी है कि उसकी शैली को जर्मनी के लोग क्लासिक मानते हैं। उन्होंने उनके 'वर्दर' नामक उपन्यास का उल्लेख किया है जिसने उसे लोकप्रियता प्रदान की। उसके काव्य की विशेषता यह है कि उसमें सत्य और शिव का ही महत्त्व है।

दिनकर पोलैंड का एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जो गेटे के महत्त्व पर प्रकाश डालता है-"भगवान ने जो सबसे महान, सबसे उत्तम और सबसे शानदार मनुष्य बनाया वह गेटे है।"[2]

---

1 वट-पीपल, पृ. 62

2 दिनकर की डायरी

5.5. रूसी साहित्य-

5.5.1. पुश्किन

दिनकर ने रूसी साहित्यकार पुश्किन की कई विशेषताओं की चर्चा की है। अपनी डायरी में उन्होंने पुश्किन को उन्नीसवीं शताब्दी के एक महान् कवि के रूप में उल्लेखित किया है। उनकी विशेषता यह है कि रूस के सबसे बड़े कवि[1], राष्ट्रीय कवि[2], मानवता के कवि"[3], और विश्व-साहित्य के महान् अध्येता हैं-"पुश्किन को विश्व-साहित्य का बड़ा ही विस्तृत ज्ञान था। शेक्सपीयर से लेकर वायरन तक सभी अंग्रेज़ी कवियों को उन्होंने ध्यानपूर्वक पढ़ा था। फ्रेंच साहित्य का भी उन्हें अद्‌भुत ज्ञान था।"[4]

पुश्किन ने 'यूजिन ओनेगिन' नामक पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक पाँच हज़ार पंक्तियों की है जिसमें रोमांस है और है रूस के तत्त्कालीन जीवन का संपूर्ण चित्रण। इस पुस्तक में रूसी लोगों का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य, आध्यात्मिक चेतना, जीवन और संसार को देखने की दृष्टि को अभिव्यक्ति मिलती है और इसके द्वारा पुश्किन ने रूसी भाषा को भी साहित्यिक गौरव प्रदान किया है। इन्हीं कारणों से दिनकर उन्हें रूसी साहित्य के पिता के रूप में देखते हैं- "वे रूसी साहित्य के पिता हैं और रूस के साहित्य-मंदिर की नींव के पत्थर हैं।"[5]

रूस के जातीय जीवन का जैसा चित्रण इस काव्य में मिलता है, वैसा रूस के समस्त साहित्य में भी नहीं मिलता। इसी दृष्टि से वे रूस के राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी तुलना दिनकर वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी दास और टैगोर से करते हैं-"हमारे असली राष्ट्रकवि वाल्मीकि हैं, कालिदास हैं, तुलसीदास हैं, रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं, क्योंकि भारत

---

1 दिनकर की डायरी, पृ. 210
2 दिनकर की डायरी, पृ. 210
3 दिनकर की डायरी, पृ. 210
4 दिनकर की डायरी, पृ. 211
5 दिनकर की डायरी, पृ. 211

धर्म को इन्होंने सबसे अधिक अभिव्यक्ति दी है। जिस अर्थ में वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और टैगोर भारत के राष्ट्रकवि हैं, उसी अर्थ में पुश्किन रूस के राष्ट्रकवि हैं।"[1]

यह सही है कि 'यूजिन ओनेगिन' पर वायरन की शैली का प्रभाव है, किन्तु विषय और दृष्टि को देखते हुए यह पुस्तक बिल्कुल मौलिक है। जो लोग इस पर वायरन के भावनात्मक प्रभाव की चर्चा करते हैं, उनसे दिनकर सहमत नहीं हैं, क्योंकि वायरन की रचना में यूरोप का जीवन चित्रित है, और पुश्किन की रचना में रूस का। इस पुस्तक में मानव की दुर्बलताएँ और विशेषताएँ, दोनों चित्रित हुई हैं और इसी के कारण पुश्किन सार्वभौम संवेदना और सामान्य मानवता के कवि माने जाते हैं, जैसा कि सामान्य तौर पर देखा जाता है।

पुश्किन ने रूसी भाषा को साहित्यिक रूप देने और रूसी जीवन का चित्रण करने में जो सफलता प्राप्त की है, उसके कारण देश काल के बदलते हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी पुश्किन की लोकप्रियता बनी हुई है। इस सम्बन्ध में दिनकर का कथन है-"पुश्किन के साहित्य में जिस समाज का चित्र है, उस समाज से रूस बहुत आगे निकल आया है, लेकिन, तब भी रूस में पुश्किन की कविता रूसी जनता को प्रिय है।"[2]

5.5.2. टाल्सटॉय

दिनकर ने रूस के श्रेष्ठ चिन्तक-साहित्यकार महात्मा टाल्सटॉय पर निम्नलिखित रूपों में विचार किया है-(क) शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अद्भुत शक्ति-संपन्न व्यक्ति के रूप में, (ख) महान् साहित्यकार के रूप में (ग) महान् आदर्शवादी और यथार्थवादी चिन्तक के रूप में तथा (घ) आध्यात्मिकता से युक्त महामानव के रूप में।

---

1 दिनकर की डायरी, पृ. 210

2 दिनकर की डायरी, पृ. 211

दिनकर मानते हैं कि टाल्स्टॉय की शारीरिक और मानसिक शक्ति-संपन्नता ही उन्हें महान् साहित्यकार बना सकी थी। वे कहते हैं टाल्सटॉय अजस्रशक्ति के स्रोत थे-"टालस्टॉय उतनी अधिक और अच्छी चीज़ें इसीलिए लिख सके थे कि उनका शरीर बलवान था। शरीर से दैत्य और मन से देवता होना अगर आदर्श मनुष्य का लक्षण है तो उस मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण थे।"[1]

उन्होंने साहित्यकार के रूप में लगभग पचास-पचपन वर्षों तक साधना की और ऐसी रचनाएँ कीं, जिनके कारण वे विश्व के श्रेष्ठ साहित्यकारों की अग्रिम पंक्ति में बैठने के योग्य हुए। उनके उपन्यासों और उनकी कहानियों का अनन्य महत्त्व है-"उन्नीसवीं सदी के आरंभ से आज तक दुनिया में जो भी बड़े उपन्यास-लेखक, विचार और निबंधकार हुए हैं, उनके बीच टालस्टॉय का स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता है। 'युद्ध और शांति अथवा वार एंड पीस' नामक उनका उपन्यास कदाचित संसार का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसी प्रकार उनका 'अन्नाकरेनिना' नामक उपन्यास भी संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से है और उनकी कहानियाँ भी बिलकुल बेजोड़ हैं।"[2] आलोचक के रूप में टाल्सटॉय ने कला और जीवन का अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होंने अपने आदर्शों और नैतिक मूल्यों के अनुकूल ही कला में नैतिकता के महत्त्व को स्वीकृति दी और कला की नीतिवादी व्याख्या प्रस्तुत की। साहित्य मनुष्य के चरित्र और मूल्य का सुधारक है और उसमें पुण्य का संचार करता है-"जिस साहित्य से मनुष्य का पुण्य नहीं बढ़ता, न उसके चरित्र मान्यताओं में सुधार होता है, वह साहित्य किसी काम का नहीं।"[3] चिन्तक के रूप में वे साम्यवादी भी माने जाते हैं और आदर्शवादी भी। उन्होंने कर्म को चिन्तन से अधिक महत्त्व दिया। गाँधीवादी सिद्धान्तों जैसा विश्वास टाल्सटॉय में भी मिलता है। उन्होंने अपने जीवन

---

1 दिनकर की डायरी, पृ. 11

2 साहित्यमुखी, पृ. 108

3 साहित्यमुखी, पृ. 109

के उत्तरार्ध को मानवीय आदर्शों की तलाश में लगा दिया। इसी आदर्श का एक रूप उनका त्यागमय जीवन भी था जिसके कारण अपनी संपन्नता को उन्होंने विपन्नता में बदल दिया। उनका आदर्श मानव समाज को सुख और समृद्धि से भरने वाला है तथा संसार से विषमता और अभाव को मिटानेवाला है।

कुल मिलाकर दिनकर ने टाल्सटॉय को एक दार्शनिक, साम्यवादी और आध्यात्मिक चेतना से युक्त महान साहित्यकार माना है।

5.5.2. पास्तरनेक

दिनकर ने पास्तरनेक के सम्बन्ध में 'कविता और शुद्ध कविता' और 'दिनकर की डायरी' में कुछ पंक्तियाँ लिखीं हैं। किन्तु 'कोयला और कवित्व' शीर्षक पुस्तक की एक स्वतंत्र कविता में उन्होंने पास्तरनेक की विशिष्टताओं का उल्लेख किया है।

दिनकर कहते हैं कि पास्तरनेक रूस के अके स्वतंत्रचेता आधुनिक कवि हैं। शासन की अर्गला होने पर भी उनकी वाणी साहित्य की विशिष्ट निधि है। वे देश और काल की सीमा से परे शाश्वत मानवता के प्रेमी के रूप में विश्व साहित्य में याद किये जाएँगे। उन्होंने मानव आत्मा की पुकार को ही निर्भीक वाणी दी है। उन्होंने अतीत, वर्त्तमान और भविष्य की कड़ियों को जोड़ने का काम किया है। उनके व्यक्तित्व में कलाकार का समर्पण है। दिनकर का विश्वास है कि भौतिकता क तमाम उपलब्धियाँ विनष्ट होती हैं पर आत्मा के शिल्पी कलाकार की आवाज़ दिशाओं में एवं खंडहरों के भीतर गूँजती है तथा लोगों को निर्माण का संबल देती है।

साहित्यिक वाद के प्रसंग में पास्तरनेक एडगर एलेन पो के अनुयायी हैं। वे 'पो' की भाति प्रतीकवादियों की श्रेणी में गिने जाते हैं पर 'पो' से अधिक ऊँचाई पर पहुँचे हुए कवि हैं।

5.5.3. मायाकोव्स्की

भविष्यवाद के नाम से रूसी भाषा में नवीनता का जो तीसरा आन्दोलन चला, उसमें मायाकोव्स्की का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। वे कविता को समाज की सेवा का माध्यम मानते थे और क्रांतिकारी प्रकृति के थे। वे शैली के गुणों को महत्त्व देते थे और इस अर्थ में वे जर्मनी के अभिव्यंजनावाद या अंग्रेज़ी के चित्रवाद के निकट थे। उनकी बिम्ब योजना इससे प्रभावित थी। उनकी शैली और भाव, दोनों संबद्ध थे और उन्हें एक के बिना दूसरा पूर्ण नहीं प्रतीत होता था।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कवि-आलोचक दिनकर बहुपठित थे और इसका प्रमाण उनके आलोचना-साहित्य में मौजूद है।

अध्याय-छह

दिनकर का इतिहास-बोध, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तन

6.1. सांस्कृतिक इतिहास की अवधारणा :

शोध-प्रबंध के इस अध्याय का सम्बन्ध दिनकर जी के सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्तन से है। स्पष्ट है कि हम यहाँ संस्कृति एवं इतिहास को एक विशेष अर्थ के रूप में ग्रहण करेंगे। ऐसा इतिहास जिसे रीढ़ के रूप में सांस्कृतिक विकास को दिखाने के लिये किया गया हो। अतः यह सर्वथा उचित होगा कि हम संस्कृति और इतिहास दोनों शब्दों की पहले सम्यक् विवेचना कर लें। और फिर उसकी अवधारणा की ओर आयें।

6.1.1. संस्कृति

"संस्कृति का अध्ययन मनुष्य के लौकिक तथा अलौकिक जीवन का अध्ययन होता है। संस्कृति एक तरह से मनुष्य जीवन के मनोविज्ञान को व्यक्त करने का एक सशक्त साधन है। संस्कृति शब्द की व्यापकता में मनुष्य के सारे व्यवहार समाये हुए हैं। जिनके अध्ययन से मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ तथा बदलते हुए विश्वासों का पता चलता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृति मनुष्य जीवन में अदृश्य रूप में समायी हुई है। डॉ. मदन गोपाल संस्कृति के प्रति कहते हैं- "मानव जीवन की संपूर्ण गतिविधियों का संचालन अंतवृर्त्तियों की जिस समष्टि द्वारा होता है, तथा जिसके अपनाने से वह सच्चे अर्थों में मनुष्य बनने की दिशा में अग्रसर होता है उसे संस्कृति कहते हैं।""[1]

"आज जब शस्त्रों की झंझनाहट में जीवन का संगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया में विकास का पथ खोता जा रहा है, तब संस्कृति की चर्चा व्यंग्य जैसी लगने लगे तो आश्चर्य नहीं। परन्तु जीवन के साधारण नियम में विश्वास रखने वाला यह जानता है कि सघन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नहीं रखता, वज्रपात का कठोर से कठोर शब्द भी स्थायी हो जाने की शक्ति नहीं रखता। जब मनुष्य का आत्मघाती आवेश शान्त हो जावेगा, तब जीवन के विकास के लिए सृजनशील तत्त्वों की खोज में, सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

---

[1] बंजारा लोक साहित्य और समाज, पृ. 69

संस्कृति की विविध परिभाषाएँ संभव हो सकी हैं, क्योंकि यह विकास का एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए, दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जाने के लिये जैसे उसके रूप, रंग, आकार बोलचाल, विचार, आचरण आदि से परिचित हो जाना आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को मूलतः समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आंतरिक संस्कार का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणी तत्त्व को खोजता है। प्राणी तत्त्व में मनस्तत्त्व को खोजता और मनस्तत्त्व में तर्क तथा नीति को खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि में सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन की निरन्तरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाए हुए है।

साधारणतः एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूप-रेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उनकी विशेष आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है; आन्तरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-चेतना की परीक्षा करें, तो दूर-दूर बसे मानव-समूहों में आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा। जीवन के विकास सम्बन्धी प्रश्नों के सुलझाने की विधि में अन्तर है; परन्तु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अन्तःचेतना में अन्तर नहीं।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं और उनके नाश के निकट जा रही है, तब संस्कृति को विकास क्रम क्यों माना जावे।

उत्तर सहज है- निरन्तर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओं से घेरकर उसका बहना रोक दिया गया, तब उसे हम चाहे पोखर कहें चाहे झील, किन्तु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा।

संस्कृति के सम्बन्ध में यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि वह ऐसी नदी है जिसकी गति अनन्त है। वह विशेष देश, काल, जलवायु में विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरन्तर है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ चिरंतन हैं; पर मनुष्य अजर-अमर नहीं। एक पीढ़ी जब अतीत के कुहरे में छिप जाती है, तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिये आलोक-पथ में आती है। यह नवीन पीढ़ी मानव-सामान्य अन्तश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्त्तियों की विशेषताओं की उत्तराधिकारी भी; परन्तु इन सबका उपयोग उसे बदलती हुई परिस्थितियों में भी करना पड़ता है। अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गन्तव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चिन्त शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी यात्रा ही समाप्त हो जाती है। महान और विकसित संस्कृतियाँ इसलिए नहीं नष्ट हो गई कि उसमें स्वाभवतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् अशरीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार नहीं दे सका। प्रकृति के अणु-अणु के सम्बन्ध में मितव्ययी मनुष्य ने अन्य मनुष्यों के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं।"[1]

किसी भी देश की संस्कृति की पहचान उसके निवासियों के खान-पान रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेशभूषा, गीत-संगीत, कला-साहित्य, नैतिक मूल्यों और दार्शनिक

[1] भारतीय संस्कृति के स्वर, पृ. 19-20

अवधारणाओं में निवास करती है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, उसी का अनुगमन साधारण व्यक्ति करता है। श्रेष्ठ पुरुष कर्म का जो उदाहरण सम्मुख प्रस्तुत करता है, जनसाधारण उसी लीक पर चलता है। अतएव व्यक्ति का श्रेष्ठ आचरण ही उसकी संस्कृति का परिचायक होता है। इसी प्रकार देश का समष्टिपरक आचरण उपर्युक्त तत्त्वों के अगणित व्यवहारों और प्रवृत्तियों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसी अभिव्यक्तीकरण को संस्कृति कहा गया है।

संस्कृति अत्यन्त व्यापक शब्द है। इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अधिकारी विद्वानों ने पाठ्यक्रम में बँधकर, अथवा स्वतंत्र रूप से इस पर अपनी लेखनी चलायी है।

"'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा की 'संस्कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छी स्थिति', 'सुधरी हुई स्थिति' आदि का बोधक है। यह अर्थ तो व्याकरण की दृष्टि से हुआ। किन्तु इसका भावार्थ अधिक विशद व विस्तृत है। 'संस्कृति' से मानव-समाज की उस स्थिति का बोध होता है, जिससे, उसे 'सुधरा हुआ', 'ऊँचा', 'सभ्य' आदि विशेषणों से आभूषित किया जा सकता है। देश-विदेश के आचार-विचार भिन्न रहने से सुधार-सम्बन्धी भावना भी भिन्न रहती है। इसलिए अलग-अलग देशों की संस्कृति में भिन्नता पाई जाती है। यदि इस पर अच्छी तरह विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि इस भिन्नता के अन्तर्गत एकता अवश्य है इसलिए भिन्नता ने केवल बाह्य है न कि आन्तरिक। संस्कृति के मूल तत्त्व तो सब देशों में एक-से रहते हैं; देश-काल के अनुसार बाह्य स्वरूप में अन्तर होना स्वाभाविक है।"[1]

"संस्कृति का अर्थ है, परिष्कार। हर देश की संस्कृति पृथक होती है। अपनी समुन्नत और समृद्ध संस्कृति के बल पर ही कोई भी देश समृद्ध बन सकता है।

---

[1] भारतीय संस्कृति, पृ. 16

सांस्कृतिक समृद्धि भौतिक उपलब्धियों और भोगविलास के पैमाने से नहीं, बल्कि ज्ञान-विज्ञान और नैतिक ऊँचाइयों से आँकी-मापी जाती है।"[1]

"संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। 'धर्म' के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है।"[2]

अगर यह अनुभव किया जाए कि संस्कृति में सामर्थ्य है कि वह संसार के तंत्र को बेहतर बना सकता है, यह स्पष्ट हो जाएगा कि अभी भी बहुत कुछ संस्कृति के बारे में जानना ज़रूरी है। न केवल संस्कृति की प्रकृति, उसकी परिधि और विषय-वस्तु का विस्तारण आवश्यक बन पड़ेगा, वरन् उसकी सामान्य जानकारी तक भी पहुँचना होगा जो कि जितनी भ्रामक है, उतना आह्वान भी करती है।

"This is an extremely difficult task in view of the enormous amount of confusion and controversy over the term 'culture'. Is culture the arts? Is it publishing, radio, television and film?. Is it the legacy from the past or leisure time activity? Is it shared values, symbols and beliefs, a state of mind, a way of life, or a means of interaction with the natural environment? Is it the organizational forms and structures of different species? Or is it all of these things? Little wonder that culture is the cause of so much confusion, controversy, suspicion and misunderstanding. It can be stretched in many directions and used to justify all sorts of diverse and often devious practices, and there is virtually no agreement among individuals and institutions throughout the world today on how culture should be conceived and defined."[3]

यह उचित होगा कि संस्कृति अथवा संस्कृतियों को वर्तमान विश्व तंत्र की दयनीय स्थिति से निपटने के लिए केन्द्रीय विषय बनायें ताकि हम सुखद भविष्य की कल्पना कर सकें, इससे महत्त्वपूर्ण यह कि संस्कृति जैसे पेचीदे शब्द की कोई सुगठित अवधारणा या

---

1 संस्कृति की मंदाकिनी, पृ. 10

2 अशोक के फूल, पृ. 64

3 Culture Beacon of the Future, pg. 13

परिभाषा विकसित की जा सके। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम पहले संस्कृति को महज़ अवधारणा के रूप में ही लें, न कि किसी और ढंग से।

एक तरफ इसका मतलब होगा कि हम उन भिन्न अवधारणाओं की अच्छी समझ या बोध रखें जो ऐतिहासिक साहित्य में विद्यमान हैं तथा जिनका इस्तेमाल आज पूरे विश्व में हो रहा है। दूसरी तरफ इस बात का भी ध्यान में रखना होगा कि हम संस्कृति को उस रूप में भी ग्रहण करें जिसका सम्बन्ध वास्तविक(यथार्थपरक) परिवर्तनों से हैं, तथा मानव-समाज भविष्य में किस ओर उन्मुख है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें ऐतिहासिक अनुभव, समकालीन यथार्थ, भाषिक प्रयोग, वर्तमान प्रवृत्तियों, और भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संस्कृति की परिभाषा अथवा अवधारणा तैयार करनी होगी।

जब संस्कृति की अनेकों अवधारणाएँ और परिभाषाएँ हैं, तो कौन सा सटीक है तथा किसका चुनाव किया जाए, यह प्रश्न हमारे सामने खड़ा हो जाता है? इस समस्या को सुलझाने के कई तरीके हो सकते हैं, परन्तु कन्धे से कन्धा मिलाकर हमारे सामने मुख्यतः चार दृष्टिकोण उभर कर आते हैं। संस्थागत दृष्टिकोण, व्यवहारिक दृष्टिकोण, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण तथा अवधारणात्मक दृष्टिकोण।

चारों दृष्टिकोणों में से संस्थागत दृष्टिकोण सबसे तर्कसंगत है। इसके तहत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि किस तरह सरकारें, कॉर्पोरेट, प्रतिष्ठान एवं शैक्षणिक संस्थाएँ संस्कृति को ग्रहण करती है अथवा समझती है। परन्तु इसकी अपनी खामी है। इनका अध्ययन निश्चय ही संस्कृति को लेकर विशद होता है, परन्तु इनका मूल ध्येय स्व-केन्द्रित होता है, वे संस्कृति की समझ केवल इसलिए रखना चाहते हैं ताकि अपने प्रचालन, प्रबंधन, नियंत्रण को सुदृढ़ कर सकें। हमारे देश का इतिहास इस बात का जीवन्त उदाहरण है। ब्रिटिश साम्राज्य के अधिकारियों ने हमारी संस्कृति का अध्ययन अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए किया। अपने पैर पसारने के लिए किया।

व्यवहारिक दृष्टिकोण, लोगों द्वारा आम तथा निजी जीवन में संस्कृति शब्द का किस प्रकार प्रयोग होता है, इस पर रोशनी फेंकता है। यह आमतौर पर एक-दूसरे के

बीच हो रहे संवादों, प्रवचनों, व्याख्यानों तथा किताबों, पत्रिकाओं तथा अन्य दस्तावेजों का अध्ययन कर किया जाता है। थोड़ा ध्यान देने पर भी यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि व्यवहारिक रूप से संस्कृति शब्द को ग्रहण करना कितना दुस्साध्य है, क्योंकि व्यवहारिक दृष्टिकोण बेहद लचीला और व्यापक होता है।

इस दृष्टिकोण में दिक्कत वहाँ पेश होती है जब संवादों से हटकर किताबों, पत्रिकाओं और लेखों पर ध्यान केन्द्रण किया जाता है। ऐसे में संस्कृति शब्द का प्रयोग वहाँ भी होने लगता है जहाँ वह मानव-समाज के परे है, क्योंकि यह दृष्टिकोण मानता है कि संस्कृति केवल मानव-जाति का ना होकर प्रकृति के सारे घटकों में व्याप्त है, जो इसे पूर्णता प्रदान करती है। इस कारण संस्कृति को समझने में यह दृष्टिकोण कम से कम सहायता प्रदान करती है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण यहाँ हमारी मदद करता है, यह संस्थानों, व्याख्यानों और साहित्य में संस्कृति के इस्तेमाल पर ध्यान केन्द्रित नहीं करता वरन् उसे भावात्मक विचार या आद्य रूप में ग्रहण करता है। यह हमारे ज्ञान के विस्तारण और गहनता की ओर महत्त्वपूर्ण कदम बढ़ाने में हमारी मदद करता है, क्योंकि पहले भी कहा जा चूका है की संस्कृति को सर्वप्रथम उसके अवधारणात्मक रूप में ग्रहण करना है।

किन्तु जैसे ही हम सैद्धान्तिक दृष्टिकोण का प्रयोग संस्कृति को परिभाषित करने के लिए करते हैं, वैसे ही यह तय हो जाता है कि संस्कृति को नाना प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। इसे व्यापक अथवा संकीर्ण, असंयत अथवा संयत, परोक्ष अथवा अपरोक्ष, आध्यात्मिक, विचार, उत्त्पाद, प्रक्रिया, तंत्र, संरचना, जीव-जन्तु, मानव-सृजित वस्तुएँ, मिथ और सभ्यता किसी भी रूप में समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसे कई गुणों और चरित्रगत विशेषताओं का जामा पहनाया जा सकता है- सकारात्मक या नकारात्मक, प्रकार्यात्मक या अप्रकार्यात्मक, यथार्थपरक या विचारपरक आदि। यह दृष्टिकोण संस्कृति को जहाँ एक ओर घनत्व, गहनता और लचीलापन प्रदान करती है वहीं दूसरी इसके सही एवं गलत इस्तेमाल को लेकर भी इसे संदेहास्पद बना देती है। अनेक

सैद्धान्तिकों द्वारा भिन्न अवधारणाओं और समझ के कारण इस दृष्टिकोण को कमज़ोरियों का शिकार होना पड़ता है, क्योंकि यह एक हौच-पौच की स्थिति उत्पन्न करता है।

इस समस्या का निराकरण अवधारणात्मक दृष्टिकोण द्वारा किया जा सकता जिसका प्रयोग दशकों पहले अलफ्रेड़ क्रोएवर और क्लाईड कल्कहोन ने किया था। संस्कृति की तमाम परिभाषाओं उनके मूल सत्व के आधार पर वर्गीकरण कर दिया जाए जिनका सदियों से मौखिक अथवा ऐतिहासिक साहित्य में प्रयोग हुआ है, तब हम संस्कृति के नानाविध परिभाषाओं के भटकाव से बच सकते हैं और मूल रूप से 'संस्कृति को नौ अवधारणाओं' तक सीमित कर सकते हैं।

ये नौ अवधारणाएँ हैं- दार्शनिक, कलात्मक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, पारिस्थितिक, नृशास्त्रीय, तथा जीव-वैज्ञानिक। पर ऐतिहासिक साहित्य में केवल इन्हीं अवधारणाओं का प्रयोग नहीं हुआ है तथा आज पूरे विश्व में इन्हीं का प्रयोग हो रहा है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि संस्कृति की भिन्न परिभाषाओं को इन नौ अवधारणाओं के तहत वर्गीकृत किया जा सकता है।

यह तय है कि प्रत्येक अवधारणा हमें संस्कृति की प्रकृति, विषय-वस्तु, जटिलता उसके आयाम आदि की पूर्ण समझ में योगदान देती है, इसलिए यह सटीक होगा की हम एक के बाद एक इन सभी अवधारणाओं का अध्ययन करें। यह और सुगम हो सकता है जब हम इन अवधारणाओं को ऐतिहासिक क्रम में देखें, अर्थात् ये अवधारणाएँ ऐतिहासिक परिदृश्य में कब आए। वैसे तो इतिहास में इन अवधारणाओं का फ़लक अत्यन्त ही विस्तृत है, संस्कृति का इतिहास में अवधारणा के रूप में विकास कम से कम दो हज़ार साल तक फैला हुआ है, परन्तु कुछ-एक परिभाषाओं द्वारा हम इन्हें समझने की कोशिश कर सकते हैं, यह हमें कुछ नतीजों पर आने में भी मदद कर सकते हैं कि वे कौन सी तात्कालिक प्रवृत्तियाँ थीं जिन्होंने संस्कृति को परिभाषित करने में तथा भविष्योन्मुखी अवधारणाओं के लिए मार्ग प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किये।

संस्कृति के नौ अवधारणाओं में सबसे प्राचीन दर्शन से सम्बन्ध रखता है, जिसमें संस्कृति को मस्तिष्क के विकास से जोड़ा गया है। इसका सम्बन्ध खेती के साथ था, जिसको हमारे समक्ष सिसेरो ने रखा था, उनका संकेत व्यक्ति के बौद्धिक विकास से था जो ज्ञान, विवेक और परिपक्व समझ को प्राप्त करने से हो सकता है।

दार्शनिक अवधारणा की तरह संस्कृति की कलात्मक अवधारणा भी सदियों पुरानी है। इन अवधारणाओं को मध्ययुग और रिनेसां में खोजा जा सकता है। संस्कृति का उन दिनों जहाँ घनिष्ठ सम्बन्ध विद्याओं खासकर महाकाव्य, गीति-काव्य, संगीत, दुखान्त, नृत्य, तथा व्यंग्य से था, वहीं आज इसमें अभिनय(संगीत, नाटक, ऑपेरा, नृत्य, मूक अभिनय, कठपुतली नाच), साहित्य(काव्य, साहित्य, सृजनात्मक-लेखन), दृश्य(चित्रकारी, मूर्तिकला) यहाँ तक कि पर्यावरण(वास्तुशास्त्र, नगर-योजना, महानगरीय अभिकल्पना, प्राकृतिक दृश्य(लैंडस्केपिंग)) और भौतिक(बुनाई, कुम्हारी, तामचीनी, नक्काशी इत्यादी) आदि कलाएँ भी समाहित हो चुकी हैं।

लगभग सभी देशों नें संस्कृति को परिभाषित करते समय कला को एक अविभाज्य अंश के रूप में स्वीकार किया है, इसका कारण यह कि कला सदैव संस्कृति के सत्त्व को हमारे समक्ष उपस्थित करती है।

जिस तरह दार्शनिक और कलात्मक अवधारणायें पुरानी हैं उसी तरह शैक्षणिक भी। मूल रूप में इस अवधारणा के तहत संस्कृति का सम्बन्ध रोशनी से है। वह रोशनी जो एक व्यक्ति में है अथवा पूरे समाज में। इसका पूर्ण अर्थ यह कि मस्तिष्क और आत्मा को ज्ञान और विवेक के अथाह कोष के द्वारा दिप्यमान(प्रज्वलित) करना।

इस तरह की शिक्षा महज़ औपचारिक शिक्षा तक ही सीमित नहीं है वरन् उसका सम्बन्ध तमाम व्यवहारिक तथा अव्यवहारिक ज्ञान से हैं जो मनुष्य जीवन पर्यन्त परोक्ष या परोक्ष रूप से ग्रहण करते रहता है। इसमें सैद्धांतिक और तात्त्विक दोनों प्रकार की शिक्षा शामिल है।

इस तथ्य के बावजूद की संस्कृति की दार्शनिक, कलात्मक और शैक्षणिक अवधारणायें प्राचीन, मध्ययुग और आधुनिक काल के आरंभ में स्थापित हो चुके थे, तब भी संस्कृति के प्रति गहन रुचि केवल उन्नीसवीं सदी में आकर दिखाई पड़ी। यह एक रोचक तथ्य है कि उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते दार्शनिक, कलात्मक और शैक्षणिक अवधारणाओं को समाहित कर केवल एक 'संस्कृति की मनौवैज्ञानिक अवधारणा' के रूप में स्थापित कर दिया गया। अब संस्कृति का अर्थ केवल मस्तिष्क के विकास तक ही सीमित नहीं था वरन् मनुष्य का पूर्ण विकास उसका केन्द्र बन गया। उन्नीसवीं सदी में एक मैथ्यु अर्नाल्ड नामक एक अंग्रेज विद्वान इस आन्दोलन के अग्रगण्य रहे, उनका दृष्टिकोण हमें 1869 में उनकी पुस्तक 'Culture or Anarchy' में मिलता है- "a pursuit of total perfection by means of getting to know, on all the matters which most concern us, the best which has been thought and said in the world…culture has one great passion, the passion for sweetness and light….He who works for sweetness works in the end for light also; he who works for light works in the end for sweetness also."[1]

मैथ्यु अर्नाल्ड के लिए संस्कृति, अथवा कला और शिक्षा द्वारा पूर्णता प्राप्त करना एक बहुत ही व्यक्तिगत राय थी। यह बुद्धि, शरीर और आत्मा की आंतरिक स्थिति थी न कि यांत्रिक और भौतिक सभ्यता की बाह्य स्थिति। वे 'संस्कृतनिष्ठ व्यक्ति' उसे मानते थे जो अपने बंधुओं और आने वाले पीढ़ियों के लिये ज्ञान, विवेक और कला को ग्रहण करने का एक सुगम मार्ग प्रशस्त कर सके। अर्नाल्ड के अनुसार संस्कृत होना केवल ग्रहण करना नहीं था वरन् यह भी अनिवार्य था कि अर्जित गुणों को संप्रेषित भी किया जाए। संस्कृति की उनकी समझ मूल्यों से जुड़ीं थी। यह उनके सिसेरो से अन्तर को प्रकट करता है, सिसरो ने जहाँ हमारे सामने दार्शनिक अवधारणा रखते हैं, वहीं अर्नाल्ड ने मनौवैज्ञानिक धारणा को हमारे सामने रखा-

---

[1] Matthew Arnold, Culture and Anarchy(Cambridge, Cambridge University Press, 1960), pp. 6, 69

"The great men of culture are those who led a passion for diffusing, for making prevail, for carrying form one end of society to the other, the best knowledge, the best of ideas of their time; who have laboured to divest knowledge of all that was harsh, uncouth, difficult, abstract, professional, exclusive; to humanize it, to make it efficient outside the clique of the cultivated and learned, yet still remaining the best knowledge and though of the time, and a true source, therefore, of sweetness and light."[1]

ठीक उसी समय जब अर्नाल्ड संस्कृति को एक मनौवैज्ञानिक अवधारणा के रूप में स्थापित कर रहे थे, उनके समकालिक जैसे कि जर्मनी के जोहान क्रिस्टोफ और डॉ. गुस्ताव क्लेम संस्कृति को ऐतिहासिक अवधारणाओं के आधार पर वस्तुवादी रूप देने में लगे हुए थे। दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठता रखते हैं क्योंकि दोनों अपनी अवधारणाओं में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को शामिल किये हुए हैं, परन्तु एक जहाँ उसे व्यक्तिगत नज़रिये से देखता है, वहीं दूसरा उसे भौतिकवादी यथार्थ से जोड़ के देखने का हिमायती है। साफ़तौर पर दोनों अवधारणाएँ निम्नलिखित परिभाषा में विद्यमान हैं-

"culture in general as a descriptive concept means the accumulated treasury of human creation: books, paintings, buildings, and the like; the knowledge of ways of adjusting to out surrounding, both human and physical; language, customs, and systems of etiquette, ethics, religion, and morals that have been built up though the ages."[2]

जहाँ एक ओर संस्कृति की ऐतिहासिक, कलात्मक, शैक्षणिक, और मनोवैज्ञानिक अवधारणाएँ उन्नीसवीं सदी में प्रभावित रहें वहीं सदी के अन्त में संस्कृति के संकीर्ण और परम्परावादी अवधारणाओं की जगह व्यापक अवधारणायें उभर कर आने लगे। विद्वान अब उसे परम्परावादी दृष्टिकोणों के साथ व्यापक परिभाषाओं में भी इच्छा व्यक्त करने लगे।

---

1 Ibid, p. 70 (Arnold's Italics)

2 Kroeber and Kluckhohn, Culture, p.83

इसकी पहल रेमण्ड विलियम्स ने अपनी पुस्तक Culture and Society 1780-1950 में की-

"Before this period, it(culture) had meant, primarily , the "tending of natural growth", and then, by analogy, an process of human training. But this latter use, which had usually been a culture of something, was changed, in the eighteenth and early nineteenth century, to culture as such, a thing in itself. It cam to mean, first, "a general state or habit of the mind", having close relations with the idea of human perfection. Second, it cam to mean "the general state of intellectual development, in a society as a whole." Third, it came to mean "the generally body of arts." Fourth, later in the century, it came to mean "a whole way of life, material, intellectual and spiritual."[1]

संस्कृति के अति व्यापक अवधारणाओं पर जिसका सबसे शक्तिशाली प्रभाव पड़ा था वह था नृशास्त्रीय अवधारणा का। इसने तात्कालिक सोच पर अपनी गहन छाप छोड़ी। जिसे मूल रूप में 1971 में संसार के पहले नृशास्त्रियों में से एक सर ऐडवर्ड बर्नेट टेलर ने प्रस्तुत किया-

"Culture or Civilization, taken in its ethnographic sense, is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom, and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society."[2]

जब से संस्कृति के नृशास्त्रीय अवधारणा को विचारार्थ प्रस्तुत किया गया, खासकर की टेलर की अवधारणा का विद्वानों और सामान्य सोच पर गहन प्रभाव पड़ा। कारण कि पूर्व की सभी अवधारणायें और तात्कालिक सभी आंशिक परिभाषाएँ इसमें समाहित हो गयीं। वस्तुतः टेलर के समय के बेनेडिक्ट, बोआस, मिड, लिन्टन, लोवई, मेलिनोस्की, क्रोएबर तथा अन्य सभी विद्वानों ने संस्कृति को 'एक जटिल पूर्णता' के रूप में ही देखा।

---

1 Raymond Williams, Culture and Society 1780-1950(London:Penguin, 1966), p. 16

2 Edward Taylor, The Origins of Culture(New York: Harper and Row, 1958), p. 1.

'एक समाज की सभी क्रियाओं का संपूंजन', 'सभी व्यवहार जो एक व्यक्ति समाज के एक सदस्य के रूप में अर्जित करता है', 'भौतिक एवं अभौतिक गुणों का जोड़', 'एक समुदाय की अभिव्यक्ति' आदि अनेक तरीकों से पूर्णता की जटिल प्रक्रिया को समझने की कोशिश की गई।

जब नृशास्त्री संस्कृति की 'एक जटिल प्रक्रिया' की अवधारणा के चारों ओर अपनी परिभाषाओं के जाल बुनने में मशगुल थे, उसी समय समाजशास्त्री भी संस्कृति के 'मूल्यों, प्रतीकों, विश्वासों, व्याहवहारिक गुणों की हिस्सेदारी' के विचार के आधार पर अवधारणाओं के जाल बुनने में लगे हुए थे। समय के साथ-साथ इन सारी अवधारणाओं का एक संयुक्त रूप संस्कृति की समाजशास्त्रीय अवधारणा के रूप में उभर कर आया-

"Culture, a word of varied meanings, is here used in the more inclusive sociological sense, that is, to designate the artifacts, goods, technical processes, ideas, habits and values which are the social heritage of a people. This, culture includes all learned behaviour, intellectual knowledge, social organization and language and language, systems of value-economic, moral or spiritual. Fundamental to a particular culture are its law, economic structure, magic, religion, art, knowledge and education."[1]

संस्कृति की समाजशास्त्रीय अवधारणा में बहुत सारे ऐसे गुण हैं, जिन पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। मूल्यों, मूल्य तंत्र, प्रतिमानों और अन्तर्वस्तु पर आधारित विचार एक संस्कृति अथवा अनेक संस्कृतियों को समझने में मददगार साबित होते हैं, तथा इसका भी ज्ञान हो जाता है कि संसार में हर एक संस्कृति दूसरे से भिन्न होती है क्योंकि संस्कृति का अनुभव संसार के भिन्न भागों पर उसके आकलन और प्रबंधन पर होता है जो कि अधिमानों और संभावनाओं पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए युरोपीय संस्कृति

[1] Braisted, Cultural Cooperation, p.6

जहाँ बौद्धिक प्रतिमानों और विषय-वस्तुओं पर आधारित है वहीं भारतीय संस्कृति भावनात्मक प्रतिमानों और विषय-वस्तुओं पर संगठित हैं।

जाति, प्रजातीय पृष्ठभूमि, वर्ग, लिंग, पहचान आदि संस्कृति के समाजशास्त्रीय के अभिन्न अंग हैं। इस कारण यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इन क्षेत्रों में समाजशास्त्रियों द्वारा किये गए खोज और उनकी अन्तर्दृष्टि का अध्ययन गंभीरता से किया जाए क्योंकि जाति, प्रजातीय पृष्ठभूमि, वर्ग, लिंग, पहचान आदि आधुनिक संसार में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ठीक यही बात भाषा और संचार पर भी लागू होते हैं। कोई नकार नहीं सकता कि आधुनिक दुनिया में लोगों और समाजों को जोड़ने में भाषा और संचार बहुत बड़ी भूमिका अदा करती है। प्रकाशन, रेडियो, टेलिविजन, फ़िल्म, वीडियो, साउन्ड रिकार्डिंग और कम्प्यूटर आदि संचार की क्रिया को सुगम बनाते हैं। यह महज़ इत्तेफ़ाक नहीं है कि पुस्तके, रिकार्ड, टेप, वीडियो, फ़िल्म, संवाद और संप्रेषण आदि आधुनिक संचार के प्राण हैं, क्योंकि बहुत ही व्यापक प्रभाव एक देश अथवा अनेक देशों पर पड़ता है। उनके विचार, प्रतिमानों, विश्वासों को बदलने में संचार माध्यम सक्षम है। इसलिए आज हर तरफ यह होड़ लगी हुई है कि कौन संचार के माध्यमों को नियंत्रित करे। गलत हाथों में जाने पर यह एक देश के विकट समस्याओं का कारण बना सकता है, उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, पहचान, प्रभुसत्ता, उत्तरजीविता सभी पर प्रश्न-चिन्ह लग सकता है।

संस्कृति को समझने के लिए हम नृशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय सोच की पैरवी बहुत महत्त्वपूर्ण रूप में की जा सकती है, परन्तु इनकी भी एक सीमा है। दोनों अवधारणाओं के केन्द्र में महज़ मानव जाति ही है। हाल के वर्षों में संस्कृति को समझने के लिए जिस व्यापकता की ओर देखा गया है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अब रुचि इस ओर भी दिखाई जा रही है की प्रकृति के सारे आयामों का भी अध्ययन किया जाए और संस्कृति की पारिस्थितिक अवधारणा इसी की देन है। पर्यावरण सम्बन्धी आन्दोलन इसके मूल में है। मनुष्य किस तरह प्रकृति का ही अभिन्न अंग है, और कैसे

संसार के सारे जीव एक दूसरे से अन्तर्संबंधित हैं, इस बात पर यह अवधारणा रोशनी डालती है। तकनीक, जिसे मानव-जाति की महानतम उपलब्धि माना जाता है भी इस तथ्य को बरगला नहीं सकती है, कि मानव आज भी प्रकृति से परम्परावादी रूप में आज भी जुड़ा हुआ है। यह अवधारणा संस्कृति की परिभाषाओं को और भी गहनता और व्यापकता प्रदान करती है। संस्कृति केवल मानव-जाति की दाय नहीं है, वरन मानव केवल प्रकृति का अनुकरण कर के ही अपना विकास करता है। इनमें अन्य जीव भी शामिल हो जाते हैं। पहले पहल इस अवधारणा को स्वीकार करने में विद्वानों को हिचकिचाहट हुई परन्तु शनैः शनैः लोग बढ़ते प्राकृतिक असंतुलन के खतरे से वाकिफ़ हो चुके हैं, और अब यह अवधारणा महत्ता प्राप्त कर रही है, हालाँकि अभी भी इसकी सम्यक् परिभाषा तैयार करने की आवश्यकता है, परन्तु वैज्ञानिकों ने इस अवधारणा के आधार पर यह ज़रूर स्वीकार किया है कि संस्कृति केवल उत्पाद नहीं है, वरन् यह एक प्रक्रिया है, जो सतत् गतिमान रहती है। यह एक विकासात्मक और जैविक प्रक्रिया है जो समय के साथ-साथ नयी स्थितियों और बदले गए हालातों में निरन्तर विकास करती रहती है। ओर्टेगा वाई गैसट के इस वक्तव्य से संस्कृति की जीव-वैज्ञानिक अवधारणा को समझा सा सकता है-

"We can now give the word, culture, its exact significance. There are vital functions, which obey objective laws, though they are, inasmuch as they are vital, subjective facts, within the organism; they exist, too, on condition of complying with the dictates of a regime independent of life itself. These are culture. The term should not, therefore, be allowed to retain any vagueness of content. Culture consists of certain biological activities, neither more nor less biological than digestion or locomotion…Culture is merely a special direction which we give to the cultivation of our animal potencies."[1]

[1] Kroeber and Kluckhohn, Culture, p. 57

संस्कृति की जीव-वैज्ञानिक अवधारणा हमें एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अवसर प्रदान करती है, वह है संस्कृति को विकासात्मक रूप में देखना। ऐसे में हम जितनी गंभीरता से अन्य जीव-जन्तुओं की संरचना, उनकी जीवन-शैली, उनके गुणों, उनके अन्तर्संबंधों का अध्ययन करेंगे उतना हम पाएँगे कि यह हमारे लिए यह लाभदायक हैं, हम अनचाहे घटनाओं, बदले हालातों का सामना करने में सक्षम हो पाएँगे। हममें स्थिति अनुसार अपने आपको परिवर्तित करने की प्रेरणा मिलेगी।

हम देख सकते हैं कि, किस तरह संस्कृति की इन नौ अवधारणाओं को इनके साहित्यिक विकास के साथ देखते हुए कहा सा सकता है कि संस्कृति महज़ अब संकीर्ण 'हाई क्लास' वस्तु न होकर एक बहुत व्यापक फ़लक को अपने में समाये हुए है। जो समय के साथ लगातार बदलती ही जा रही है। नृशास्त्रीय और समाजशास्त्रीय सोच ने जहाँ पहले संस्कृति की अवधारणा को बदला वहीं आज, जीव-वैज्ञानिक पक्ष भी संस्कृति को परिभाषित करने में अपनी छाप छोड़ रही है। वरन् यह कहना और सटीक होगा कि इन नौ अवधारणाओं को जोड़ कर ही हमें संस्कृति को समझने की कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि कोई भी अवधारणा दूसरी अवधारणा से स्वतंत्र नहीं है, सभी का संपूंजन ही हमें संस्कृति को समझने में मदद करते हैं-

"Culture ought to be considered today the whole collection of distinctive traits, spiritual and material, intellectual and affective, which characterize a society or social group. It comprises, besides arts and letters, modes of life, human rights, value systems, traditions and beliefs."[1]

अन्त में हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि उपर्युक्त सारी अवधारणाएँ पाश्चात्य बौद्धिक जगत की देन हैं, और संस्कृति को अन्य देशों में किस तरह परिभाषित किया जाता है, यह भी बहुत मायने रखता है। साथ ही साथ यह कि संस्कृति को अनुभवों के आधार पर परिभाषित करना अलग बात है, वहीं उनका व्यवहार किस प्रकार होता है,

[1] Unesco, Mexico City Declaration on Cultural Policies(Paris: Unesco 1982.

यह अलग है। इन सब को ध्यान में रखना और भी ज़रूरी बन पड़ता है क्योंकि संस्कृति आज मानवीय-व्यवहार की निर्णायक-शक्ति बन चुकी है।

6.1.2. इतिहास

मानव की गौरव गाथा इतिहास से जुड़ी हुई है। इतिहास के बिना मानव-गाथा का प्रत्येक वर्णन अधूरा है। "इतिहास क्या है? बहुत कठिन प्रश्न है। इतिहास तब से प्रारंभ होता है जब से मनुष्य समय-क्रम को प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में समझना विशिष्ट घटनाओं की एक श्रृंखला के रूप में समझने लगा, जिनसे मनुष्य चैतन्य रूप से संबद्ध है तथा उन्हें वह प्रभावित कर सकता है। इतिहास मनुष्य का अपने विवेक के प्रयोग द्वारा अपने परिवेश को समझने तथा उसका परिष्कार करने के दिशा में एक दीर्घकालिक संघर्ष है।"[1]

"इतिहास जीवन की धारावाहिकता में गतिशील मानव द्वारा अपने अतीत को देखना है अथवा वह अतीत है-जो बीत चुका है, जिसे देखा जा रहा है, या जिसे देखा जा सकता है। मानव-जीवन असीम काल-खण्डों में प्रवाहमान है; जिसमें अजस्रता रही है। जीवन की इस अजस्रता में, जीवन की प्रवाहमान स्थिति को रोककर, अतीत पर दृष्टिपात करना इतिहास नहीं अपितु उस प्रवाह में अपनी यात्रा की ओर लौट कर देखना इतिहास है; जिसमें तथ्य और घटनाओं का अथाह सागर है। इतिहास शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ है- इति-ह-आस-, अर्थात् यह वस्तुतः ऐसा था। इतिहास के इस व्युत्पत्ति मूलक अर्थ से स्पष्ट होता है कि कुछ अतीत में घट चुका है अथवा रहता है, वह प्रत्येक युग में इतिहास के रूप में प्रस्तुत होता है। इसके साथ ही, यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ है कि अतीत की घटनाएँ एवं तथ्य अपनी वास्तविकता को धारण किए हुए भी सुप्तावस्था में नहीं रहते।

---

[1] हिन्दी साहित्येतिहास पाश्चात्य स्रोतों का अध्ययन, पृ. 9

वस्तुतः जीवन का अतीत उस दृष्टि की अपेक्षा रखता है, जो उसकी वास्तविकता को मानव जीवन के सामने प्रस्तुत कर सके।"[1]

"इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति जर्मन शब्द 'गेरिचचटे' से मानी जाती है, जिसका अर्थ है विगत घटनाओं का विशेष एवं बोधगम्य विवरण।"[2]

"ग्रीक भाषा में 'हिस्तरी' शब्द का प्रयोग इतिहास के लिए होता था, जिसका शाब्दिक अर्थ बुनना था अर्थात् ज्ञात घटनाओं को व्यवस्थित ढंग से बुनकर ऐसा चित्र उपस्थित करने की कोशिश की जाती थी, जो सार्थक और सुसंबद्ध हो।"[3]

घटनाओं के घटित होने की प्रक्रिया अथवा क्रम के लिए ही अधिकांशतः इतिहास शब्द का व्यवहार होता है। इतिहास शब्द का परम्परा के लिए भी होता है। गवेषणा के लिए भी इतिहास का उपयोग किया जाता है। इतिहास का सीधा सम्बन्ध मानव जीवन की क्रियाओं से है। मानव की ये क्रियाएँ जीवंत संकलन का संचयन है। इतिहास उन सभी परम्पराओं और विवरणों का अनुसंधान करता है जिनसे वर्तमान की व्याख्या की जा सके। "इतिहास परिवर्तन है, यह परिवर्तनशील है, प्रवाही एवं गतिशील है।"[4]

इतिहास सम्बन्धी भारतीय मत पर नजर डालें तो पाएँगे कि भारतीय दर्शन में 'इतिहास' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है। शतपथब्राह्मण, जैमिनीय वृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपिनषद में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन भारतीय इतिहासकारों ने घटनाओं एवं क्रियाओं की व्यवस्था, भौतिक उपलब्धियों एवं व्यक्तिगत साफल्य की दृष्टि से कम करके समष्टि हित की दृष्टि से की है। इस प्रकार प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएँ चारित्रिक मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त होकर पौराणिक रूप में परिणत हो गईं, तथा परवर्ती इतिहासकारों की

---

1 हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया, पृ. 9

2 आर.के. मजूमदार एवं श्रीवास्तव, एन० हिस्टोरियोग्राफी, पृ. 3

3 हिन्दी विश्वकोश, खण्ड-1, पृ. 523

4 ई.एच. कार, इतिहास क्या है, अनु०-अशोक चक्रधर(दिल्ली, मैकमिलन कंपनी, 1976), पृ. 70

रचनाएँ शुद्ध इतिहास की अपेक्षा काव्यात्मक इतिहास या ऐतिहासिक काव्य के रूप में विकसित हुईं। वस्तुतः भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्यशोधन तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु वह 'शिव' और 'सुंदर' के के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा जो उसका व्यावहारिक दृष्टि से गुण तथा सैद्धान्तिक दृष्टि से दोष ही प्रकट करता है।

आधुनिक काल में इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टि से परिभाषित करने का कार्य किया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोश' में इतिहास शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया गया है-''इतिहास शब्द का प्रयोग विशेषतः दो अर्थों में होता है। एक है प्राचीन अथवा विगत काल की घटनाएँ और दूसरा है उन घटनाओं के विषय में धारणा।''[1]

'''हिन्दी शब्दसागर' में इतिहास को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है- इतिहास में किसी विषय से संबंधित तथ्यों का आदिकाल से वर्तमान समय तक क्रमबद्ध वर्णन होता है। जैसे, किसी शास्त्र, काल व संस्कृति का इतिहास।''[2]

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने इतिहास को परिभाषित करते हुए कहा है कि- ''इतिहास का मुख्य लक्ष्य किसी देश के वासियों को युगों-युगों से प्रेरित एवं संगठित करने वाले और उनके जीवन की विभिन्न गतिविधियों को व्यक्त करने वाले मूल्यों की खोज एवं उद्‌घाटन कार्य होना चाहिए।''[3]

प्रो. डी.डी कौशाम्बी ने इतिहास के सम्बन्ध में कहा है, 'उत्पादन के संसाधनों एवं सम्बन्धों में उत्तरोत्तर परिवर्तनों का तिथिक्रमानुसार प्रस्तुतिकरण ही इतिहास है।'[4]

डॉ. एल.पी.शर्मा ने इतिहास को परिभाषित करते हुए कहा है कि- ''वास्तव में इतिहास मनुष्य के संगठित सामाजिक समूहों का, चाहे वह कितने भी प्रगतिशील या

---

1 हिन्दी विश्वकोश, ना.प्र.सभा, काशी, प्रथम खंड, पृ० 523

2 हिन्दी शब्द सागर, प्रथम भाग, मू.स. श्यामसुन्दर दास, पृ.510

3 कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, 'द वैदिक ऐज' की भूमिका, पृ. 6

4 प्रो. डी.डी.कौशाम्बी, कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन, पृ. 10

पिछड़े हुए हों, उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन है।"[1]

उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ केवल एक कोण को छूती हैं, एकांगी हैं, पर इन परिभाषाओं के आधार पर इतिहास की विभिन्न विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है-

१) इतिहास विभिन्न युगों में मनुष्यों को संगठित एवं प्रेरित करने वाले मूल्यों को उद्घाटित करता है।

२) इतिहास उत्त्पादनों के संसाधनों एवं सम्बन्धों के परिवर्तनों की तिथिक्रमानुसार प्रस्तुत करता है।

३) इतिहास मनुष्य के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी पहलुओं का अध्ययन करता है।

४) इतिहास विगत काल की घटनाओं और उनके विषय में धारणा को स्पष्ट करता है।

५) इतिहास में विगत काल की प्रसिद्ध घटनाओं और उनसे संबद्ध पुरुषों का कालक्रम से वर्णन होता है।

इतिहास पर चिन्तन प्रस्तुत करने में प्रमुख किन्तु सूक्ष्म भाग पाश्चात्य विद्वानों का ही रहा, और उन्हीं के योगदान से प्रत्येक देश में इतिहास के प्रति सजग दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत किया गया।

इतिहास शब्द का जनक पाश्चात्य विद्वान हेरोडोटस माना जाता है, जिसने पहली बार 'हिस्ट्री' शब्द का प्रयोग किया। ग्रीक भाषा का 'हिस्तोरे' शब्द इतिहासकार के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो वाद-विवाद का निर्णय करने में समर्थ होता था अर्थात् वह विषय का

---

[1] डॉ. एल.पी.शर्मा, इतिहास और राजनीतिशास्त्र के निबंध, पृ. 2-3

अच्छा ज्ञाता होता था। हेरोडोटस ने 'हिस्ट्री' शब्द का को गवेषणा या अनुसंधान के सातत्य से प्रतिपादित किया था।

पाश्चात्य इतिहासकारों के अनुसार इतिहास मानव से संबंधित होने के कारण मानवीय विधा या मानविकी है, विश्व इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य चेतना का विकास है, जो द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित है। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार 'वाद' थेसिस एवं 'प्रतिवाद' एंटीथेसिस के द्वन्द्व से 'समवाद' सिन्थेसिस का विकास होता है। अतः इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर होनी चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धान्त की स्थापना द्वारा इतिहास को एक नूतन दृष्टि, शक्ति व गति प्रदान की। परवर्ती युग में विभिन्न चिन्तकों ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में विभिन्न विकासवादी सिद्धान्तों की स्थापना करते हुए प्रमाणित किया कि सृष्टि का कोई भी अंश या तत्त्व एक घटित या स्थित न होकर क्रमशः विकसित है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास का अर्थ घटना समूह का संकलन मात्र न होकर विकास क्रम का विवेचन है। कार्ल मार्क्स, एंजिल्स, मारगन, हक्सले प्रभृति ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हुए उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने इतिहास को परिभाषित करने का भी काम किया है। कुछ परिभाषाएँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं-

बी. क्रोचे ने इतिहास को परिभाषित करते हुए इतिहास का सम्बन्ध मानवजीवन की गतिशीलता से स्थापित किया है तथा समग्र इतिहास समसामयिक इतिहास है, कहा है। "समग्र इतिहास समसामयिक इतिहास है। इतिहास का सम्बन्ध मानवजीवन की गतिशीलता से है, अतः इसका सम्बन्ध घट रही है वस्तु से है न कि घटित वस्तु से।"[1]

[1] बी. क्रोचे, हिस्ट्री इज द स्टोरी ऑफ लिबर्टी, (स्लोविया स्प्रिंग का अंग्रेजी अनुवाद)

प्रो. गालब्रेथ ने इतिहास को भूतकाल की जानकारी कहा है। "मेरा अनुमान है कि इतिहास वह काल है, जहाँ तक उसे हम जानते हैं।"[1]

कालिंगवुड ने इतिहास के सम्बन्ध में लिखा है कि "मेरे विचार में इतिहास एक प्रकार की गवेषणा अथवा जाँच-पड़ताल है।"[2]

ई०एच०कार का मानना है कि इतिहास का सम्बन्ध मानव के देशकाल में परिवर्तनशील जीवन से ही नहीं, अपितु इतिहासकार की तत्सम्बन्धी व्याख्या से भी है। उनका कहना है, "इतिहास क्या है? इस प्रश्न का मेरा सर्वप्रथम उत्तर है कि यह इतिहासकार तथा उसके तथ्यों के मध्य होने वाली अन्योन्य क्रिया की सतत प्रक्रिया है एवं वर्तमान तथा अतीत का एक अविछिन्न संवाद है।"[3]

जेम्स हारवे राविंसन ने मानव जीवन के भूतकाल की विस्तृत जानकारी को इतिहास माना है। "अपने वस्तुगत अर्थ में इतिहास उस सब की जानकारी है, जो मनुष्य द्वारा निर्मित या फलित, चिंतित, आकांक्षित एवं अनुभूत है।"[4]

रेमंड ऐरन ने कहा है-"इतिहास अपने संकुचित रूप में मानव के भूतकाल का विज्ञान है, अपने व्यापक रूप में यह धरती, आकाश, नक्षत्रों, जीवों तथा सभ्यता के विकास का अध्ययन है, ठोस रूप में इतिहास का तात्पर्य निश्चित तथ्य से है तथा अपने औपचारिक रूप में यह उस तथ्य का ज्ञान है।"[5]

थोड़ा गौर करें तो पाएँगे की उद्धृत सारी परिभाषाएँ पूर्ण नहीं हैं, किन्तु इन सभी परिभाषाओं में इतिहास के स्वरूप को किसी न किसी अंश में इंगित किया गया है। इन

---

1 प्रो.गालब्रेथ, व्हाई वी रीड हिस्ट्री, 1949, पृ०131

2 आर.जी. कालिंगवुड, दी आइडिया ऑफ हिस्ट्री, लन्दन, 1946, पृ०9

3 ई.एच. कार, व्हाट इज हिस्ट्री, 1946, पृ. 30

4 एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, जिल्द-2, पृ०594

5 रेमण्ड ऐरन, इंट्रोडक्शन टू दी फिलासफी ऑफ हिस्ट्री(बोस्टन :1962), पृ. 15

परिभाषाओं के आधार पर इतिहास का स्वरूप निम्नलिखित तथ्यों पर आधृत माना जा सकता है-

१) इतिहास में मानव के भूतकाल का तर्कपूर्ण ढंग से विवेचन होता है।

२) इतिहास निश्चित तथ्यों पर आधारित होता है।

३) इतिहास तथ्यों की गवेषणा अथवा जाँच पड़ताल है।

४) इतिहास के अंतर्गत वह सारी जानकारी आती है, जो मनुष्य द्वारा निर्मित या फलित, चिंतित, आकांक्षित एवं अनुभूत है।

५) इतिहास देश-काल में परिवर्तनशील जीवन की व्याख्या है।

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गईं उपर्युक्त दी गई परिभाषाओं के आधार पर हम इतिहास की एक सम्यक् परिभाषा निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं-

किसी कालखंड विशेष से घटित घटनाओं का कार्य-कारण सम्बन्ध से क्रमिक विवेचन-विश्लेषण ही इतिहास है। यह एक गतिमान प्रक्रिया है, जो सतत् चलती रहती है।

इस संक्षिप्त व्याख्या से स्पष्ट है कि "इतिहास में काफ़ी लचीलापन होता है। वह कोई ठोस व्यवस्था मात्र ही नहीं अपितु अपनी वास्तविकता में परिवर्तनीय तथा सतत गतिशील है।"[1]

वर्तमान शताब्दी में इतिहास-लेखन के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इतिहासकारों ने नगर राज्य या राष्ट्र के राजनीतिक इतिहास के स्थान पर उनके सांस्कृतिक पक्ष पर ध्यान दिया है और दे रहे हैं। इनके विचारों का केन्द्र या दूसरे शब्दों में इतिहास के अध्ययन का विषय, अब राष्ट्र जाति अथवा कोई सामाजिक संस्था न होकर पूरी सभ्यता है, जिसके अन्तर्गत तत्सम्बन्धी सामाजिक, आर्थिक, और धार्मिक पक्ष सम्मिलित हैं। इतिहास शब्द का प्रयोग अब विशेष रूप से अनुशासन से बंधा है।

---

[1] हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया, पृ. 3-4

"आधुनिक युग जिस रूप में वैज्ञानिक रहा है उसी रूप में आत्मचेता दृष्टि का विकास हुआ। इसीलिए आधुनिक युग विशेष रूप ऐतिहासिकवादी रहा है, और इसने ही इतिहास के प्रति ठोस दृष्टि दी है, जो युग की दृष्टि दी है, जो युग की दृष्टि या इतिहासकार की दृष्टि है। ई०एच०कार के शब्दों में, "आधुनिक युग अन्य सभी युगों से ऐतिहासिकवादी है। आधुनिक मनुष्य अभूतपूर्व रूप से आत्मचेतन है और इसीलिए इतिहास चेतन है वह अपने पीछे की हल्की रोशनी में इस आशा झाँकता है कि उसकी मद्धिम किरणें उसके गन्तव्य के बारे में उसकी आकांक्षाओं और उद्वेगों से जो पीछे टूट गया है, उसमें उसकी अन्तर्दृष्टि और गहरे पैठती है। इतिहास की इस अनन्त श्रृंखला में अतीत, वर्तमान और भविष्य जुड़े हुए हैं।"[1] इस कथन से स्पष्ट है कि इतिहास की सच्ची परख की असली समस्या, उसके दृष्टि की समस्या है, और यह तभी संभव है, जब युग-बोध में वैज्ञानिकता का प्रवेश हो। इस दृष्टि के बावजूद, यह भी स्पष्ट होता है कि इतिहास आदि से वर्तमान और भविष्य में प्रक्षेपित होता हुआ अनन्त प्रवाह है।"[2]

"अपने ऐतिहासिक संदर्भों में इतिहास एक प्रक्रिया है, जिसकी गति द्विदेशिक होती है। इसको एक ऐसे समीकरण द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें अतीत जिस दर से वर्तमान को दिशा और रूप देता है, उस दर से स्वयं प्रभावित होता है, और मोड़ भी लेता रहता है।

अतीत←→वर्तमान→भविष्य

यह अतीत, वर्तमान और भविष्य की प्रक्रिया निरन्तर गतिशील होती रहती है। इस प्रक्रिया में अतीत, अतीत ही रहता है, किन्तु वर्तमान और भविष्य क्रमशः अतीत की स्थिति को ग्रहण करते हैं और योगपदीय रूप में इतिहास की विषय-वस्तु बनते रहते हैं।"[3]

---

1 ई.एच कार, इतिहास क्या है, अनु०-अशोक चक्रधर(दिल्ली, मैकमिलन कंपनी, 1976), पृ. 191

2 हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया, पृ. 9

3 हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया, पृ. 4

6.1.3. सांस्कृतिक इतिहास की अवधारणा :

"Our own past is moving away from us at frightening speed, and if we want to keep open the lines of communication which permit us to understand the greatest creation of mankind we must study and teach the history of culture more deeply and more intensely than was necessary a generation ago….If cultural history did not exist, it would have to be invented now." [1]

सांस्कृतिक इतिहास की अवधारणा का सम्बन्ध शैक्षणिक अनुशासन तथा विषय-वस्तु अथवा सामग्री दोनों से जोड़ा जाता है।

सांस्कृतिक इतिहास, कम-से-कम जब एक अनुशासन के रूप में 1970 से परिभाषित किया गया, तो उसमें ज्यादातर नृतत्वशास्त्र एवं इतिहास के सम्मिलित अधिगम का प्रयोग किया गया, जिसने ऐतिहासिक महत्ता रखने वाली प्रसिद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं और सांस्कृतिक व्याख्याओं का अध्ययन किया। यह लोगों के अतीत ज्ञान, रीतियों और कलाओं के आख्यानात्मक विवरणों का अध्ययन करती है। इसकी विषय-सामग्री के दायरे वे सभी घटनाएँ आती हैं जिनका सम्बन्ध संस्कृति से है तथा जो अतीत से वर्तमान तक श्रृंखलाबद्ध रूप में घटित हुई हैं तथा जिनका प्रभाव भविष्य पर भी हो सकता है।

इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में विवेचन का श्रेय स्पैंगलर को दिया जाता है, जिसने सर्वप्रथम इतिहास को संस्कृतिमूलक माना था तथा अपनी पुस्तक 'दी डिक्लाइन ऑफ दी वेस्ट' में इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। स्पैंगलर के अनुसार "विश्व का इतिहास रेखीय आकार में कल्पनीय न होकर महान संस्कृतियों का खेल है।"[2] स्पैंगलर की यह संस्कृति उत्कृष्ट जीवन तत्त्वमूलक है। उसके अनुसार इतिहास के अध्ययन का क्षेत्र राष्ट्र या जाति न होकर संस्कृति होनी चाहिए(संस्कृति, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक,

---

1 E.H.Gombrich, Ideals and Idols(Oxford:Phaidon, 1979), p.56.

2 गुरूदेव सिंह, 'स्पेंगलर : इतिहास स्वरूप एवं सिद्धांत', सं. गोविन्द चन्द्र पाण्डे(जयपुरः राजस्थान हिन्दी अकादमी, 1973), पृ. 240

तत्त्सम्बन्धी पक्ष)। वास्तव में विश्व इतिहास संस्कृतियों की जीवनी है, इसलिए सभी का मौलिक विषय संस्कृति है।

"धर्म, समाज, भाषा, सभ्यता नैरन्तर्य में परिवर्द्धित, रूपान्तरित और विकसित होने वाली प्रक्रिया है। अगर कोई समाज इस प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करता तो या तो वह जड़ समाज होगा या हठधर्मी समाज। जड़ता और हठधर्मिता दोनों ही किसी भी समाज के गतिरोधक होते हैं और ठहरे हुए समाज की विकृतियों से हम परिचित हैं। संस्कृति इन्हीं विकृतियों का सिन्थेसिस है। हालाँकि इतने सरल और स्पष्ट तरीके से संस्कृति के स्वरूप का निर्धारण खतरे से खाली नहीं। संस्कृति को परिभाषित करना जितना कठिन है उसकी सर्वमान्य अर्थ-रचना(मिनिंग स्ट्रक्चर) उससे भी जटिल।"[1]

वे लोग जो विश्वास करते हैं कि अतीत में विस्मयमाकारी शक्ति है, अतीत रूचिपूर्ण है। वे इतिहास की ओर सकारात्मक रवैये से देखते हैं। किसी भी अनुशासन की अपेक्षा इतिहास ही ऐसा विषय है जिसकी तरफ मनुष्य अपने महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के समाधान खोजने की कोशिश करता है। उनका जो विकास हुआ है, वह किस तरह हुआ है? वे आज कहाँ खड़े होते हैं? उनका भविष्य क्या होगा? वे इसके आगे अब किस ओर अपना रुख़ इख़्तियार करेंगे? इन सबसे ज्यादा मानव-जाति, इतिहास की ओर जीवन के असंतुलन, अनिश्चितता और विपत्तियों का समाना करने के लिए मुड़ता है। दूसरे शब्दों में अगर कहें तो मानव-जाति इतिहास के जाल में क़ैद है, जिसकी गिरफ्त वह स्वेच्छया से जाना चाहता है।

इतिहास की महत्ता इतनी ज्यादा है तो इसका सदैव ध्यान रखना होगा कि तथ्य के रूप में और उसकी व्याख्या के बीच के फ़र्क को समझा जाए। इतिहास तथ्य के रूप में उन सभी घटनाओं और गतिविधियों का संपुंजन है जो अतीत में घट चुकी हैं। वहीं, दूसरी ओर, इतिहास का व्याख्यायित रूप है। जो कि लिखित और मौखिक दोनों हैं, तथा वे

---

[1] वागर्थ, फरवरी 2010, पृ. 51

तभी शुरु हो गईं जब मनुष्य ने ऐतिहासिक घटनाओं और गतिविधियों को सीमाबद्ध और अर्थ देने के लिए अपना हस्तक्षेप शुरू किया। ऐसे में एक जटिल समस्या उठ खड़ी होती है। यह बहुत हितकारी होता अगर इतिहास का लेखा-जोखा बिना किसी आस्था और बिना एकांगी हुए लिखा जाता। परन्तु ऐसा होता नहीं, न हो सकता है। क्योंकि मनुष्य स्वयं का अतिक्रमण कभी नहीं कर सकता। हाँ, हम आशा या माँग ज़रूर कर सकते हैं कि एक निष्पक्ष इतिहास प्राप्त हो। जो कि दूर की बात है। इतिहास की व्याख्या में अक्सर वर्तमान और भविष्य में मानवीय-व्यावहारों को नियंत्रित करने के उद्देश्य से, सत्य को विकृत किया गया है। इसलिए यह ज़रूरी बन पड़ता है कि हम जान लें की वे कौन सी व्याख्याएँ हैं जो कि मुख्य रूप से इतिहास को परिभाषित करती रहीं हैं।

इस बिन्दु को व्याख्यायित करने के लिए हमें इतिहास की अर्थ-शास्त्रीय व्याख्या को मद्देनज़र रखना होगा, जाहिर है कि यह संसार में आज के समय की सबसे प्रभावी शक्ति है।

इस सदी में अगर देखें तो पाएँगे कि जिस व्याख्या ने मानवीय-व्यवहारों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावित किया है तो वह इतिहास की अर्थ-शास्त्र पर आधारित व्याख्या है। आधुनिक युग में इतिहास की अर्थ-शास्त्रीय व्याख्या का व्यापक प्रभाव विश्व भर के लोगों और संस्थानों पर पड़ा है।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आसार नज़र आ रहे थे कि इतिहास की अर्थ-शास्त्रीय व्याख्या की जाएगी। औद्योगिक क्रान्ति विश्व को आर्थिक-स्वतंत्रता प्रदान की थी। विज्ञान की बढ़ोतरी ने तो लगभग दर्शन, अध्यात्म पर धावा बोल दिया। इन्हें मानवीय विकास की प्रक्रिया में प्रधान न मानकर गौण करार दिया। इन हालातों में मार्क्स और मार्क्सवादियों को इतिहास की अर्थ के आधार पर व्याख्या देने में देर नहीं लगी-

"In the social production which men carry on they enter into definite relations that are idespensible and independent of their will; these relations of production correspond to a definite stage of development of their material powers of production. The totality of these relations of production constitutes the economic structure of society-the real foundation, on

which legal and political structures arise and to which definite real foundation, on which lagal and political structures arise and to which definite forms of social consciousness correspond. The mode of production of material life determines the general character of the social, political and spiritual processes of life."[1]

अन्तिम सदी के पचास सालों में, विश्व के पर्दे पर, इस व्याख्या ने केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया है। हालाँकि इस व्याख्या का अतिसरलीकरण हुआ है ताकि यह एक लोकप्रिय आकर्षण बनाए रख सके। फिर भी इस पर इसके प्रवर्तकों की एक अमिट छाप है, जो कि मानव-जीवन का विभाजन आर्थिक आधार और अनार्थिक अधिरचना के आधार पर करती है। इस कारण ऐतिहासिक बदलाव के मूल मे भी आर्थिक-गतिविधियों को मान लिया जाता है। यह दावा किया जाने लगता है कि आर्थिक कारणों को ही सब कुछ मान लिया जाये क्योंकि सबके मूल में यही कारण हैं जो सक्रिय रूप में काम करती हैं। सारे अनार्थिक गतिविधियाँ जैसे कला, विज्ञान, धर्म, शिक्षा आदि गौण वस्तुएँ हैं, महज़ झालर हैं। प्रधान है अर्थ और उसके द्वारा संरचित समाज। अन्य गतिविधियाँ इसी आर्थिक आधार पर खड़ी हैं। पहले मूल ज़रूरतों की पूर्ति हो जायें तब अन्य क्रिया-कलापों को प्रश्रय दिया जा सकता है। खतरे की बात यह है कि ऐसी व्याख्या माँग करती है कि अगर समुचित आर्थिक विकास न हो तो, अनार्थिक वस्तुओं में आवश्यक कटौती की जानी चाहिए।

इस बात की खोजबीन करना मुश्किल नहीं है कि आज लगभग प्रत्येक देश में इस विकास की प्रक्रिया का अनुगमन किया जाता है, और यह अपने अन्दर अन्य गतिविधियों को गलाकर उन्हे अपना ही अंग बना लेती है। वे महज़ दास बन के रह जाते हैं-

"The economic ideology, the dominant intellectual framework in the world today, has reduced practically every human value to the categories of economic: production and consumption, basic needs and satisfiers, human rights, scarcity, nature, energy, systems, Cartesian time and space, the assumption that all things are measurable and comparable."[2]

---

1 P. Gardiner(ed), Thories of History(Glencoe: Free Press, 1959), p.131.

2 Susan Hunt, 'The Alternative Economics Movement', Interculture. 22(1)(Montreal: Mohchanin Cross-Cultural Centre, 1989), p.3.

परंतु विश्व में आज जो घटनाएँ हो रही हैं, हुई हैं, उनसे साफ़ ज़ाहिर होता है कि इस व्याख्या के अर्थ बेमाने हैं। पर्यावरण का संकट, उसकी चिन्तनीय स्थिति, अनवीकरणीय संसाधनों का तेज़ी से खत्म होना, जनसंख्या-वृद्धि, जीवन में घोर वैयक्तिकता और अमानवीयता का आगमन, रीति-रिवाज़ों में घोर बदलाव और आर्थिक-नमूने के वायदे कि वह भौतिक भव्यता और फुर्सत का समय देने में सफल होगी आदि कारण इस बात का निष्कर्ष देती हैं कि इतिहास की अर्थ-शास्त्रीय व्याख्या की पकड़ श्नैः श्नैः ढीली पड़ती जा रही है।

एक पल के लिये अगर मान भी लिया जाए कि समाजों और संस्कृतियों का विकास आर्थिक आधार पर ही होता है, फिर भी इस बात के सबूत हम कहाँ से खोजें? शायद कोई भी समाज इसकी गवाही नहीं देता। कलात्मक, शैक्षिक, सामाजिक, आध्यात्मिक गतिविधियाँ भी अपना विकास आर्थिक विकास के साथ कंधे से कंधा मिलाकर करती हैं। सभी का विकास सह-अस्तित्व में होता है, न कि क्रमानुसार रूप में। हाँ विकास की स्थिति हर एक देश में भिन्न होगी, क्योंकि यह उनकी ज़रूरतों और मूल्यों पर आधारित होगी।

हम देख सकते हैं की इतिहास की व्याख्या केवल अर्थ के आधार पर नहीं की जा सकती। यह एक विकृत स्थिति पैदा करती है। एकांगीपन एक दोष है, ऐतिहासिक विकास को इस आधार पर देखना गैर-वाजिब है। व्यापकता में देखें तो पाएँगे कि अर्थ और उसके आधार पर इतिहास की व्याख्याएँ एक पक्षीय हैं। अर्थ भी अन्ततः समाज का ही एक अंग है। समाज में अन्य गैर-उत्पादीय गतिविधियाँ भी सन्निहित हैं। एक लीक पर सभी चीज़ों को रख राय दे देना अतिसरलीकरण है, जो निश्चय ही हानिकारक है। यह व्याख्या भविष्य में मानवीय-ध्वंस का कारण होगी।

ऐसी स्थिति हमें, अन्य व्याख्याओं की ओर रूख करने का मौका देती हैं। संपूर्णता को लेकर चलने वाली व्याख्या जो हमारे सामने उभर कर आती है वह इतिहास की

सांस्कृतिक व्याख्या है। ज़ाहिर है ऐसी व्याख्या के पास भविष्य के लिए भी कुछ सकारात्मक ही होगा।

जब इतिहास की ओर तटस्थ दृष्टिकोण से हम देखने का प्रयास करतें हैं वहाँ इतिहास की सांस्कृतिक व्याख्या की ज़रूरत पड़ती है। सांस्कृतिक-इतिहास का जन्म होता है। यह व्याख्या ऐतिहासिक विकास को महज़ द्वन्द्वात्मक भौतिकता पर तय नहीं करती वरन उसके सम्पूर्णता को समाहित किये हुए रहती है। इस व्याख्या के तहत मानव की तमाम गतिविधियों का आकलन होता है। सारे विश्व को किस तरह एक संस्कृति ग्रहण करती है, अपना संगठन करती है, अपनी गतिविधियों का व्यवहार करती है, कैसे अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाती है, तथा अपना स्थान विश्व में निर्धारित करती है, इन सब बातों की, संपूर्णता में, सांस्कृतिक इतिहास में जाँच-पड़ताल की जाती है। ऐसे में इतिहास का आकलन एक गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप में किया जाता जिनमें भिन्न संस्कृतियों की अवनति और उन्नति दोनों का आकलन किया जाता है।

इतिहास का अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है कि मानवीय ज़रूरतों की पूर्ति मार्क्स और एंगेल्स जैसे विद्वानों द्वारा सुझाए गए क्रमानुसार नहीं होती, वरन् वे बहुआयामी, साथ-साथ चलनेवाली और एक दूसरे पर निर्भर होती हैं।

जब इतिहास की व्याख्या संस्कृति के आधार पर की जाती है तो उसकी संपूर्णता का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि वह इतिहास को उस समय हुए मुख्य प्रवृत्तियों, उद्देश्यों, प्रतिमानों और ताकतों के आधार पर आकलित करती है। इस तरह यह बात जँचती है कि हम मध्यकालीन *धार्मिक* संस्कृति, रिनेसाँ *सौन्दर्यवादी* संस्कृति यहाँ तक कि आधुनिक *अर्थ-शास्त्रीय* संस्कृति कहते हैं। सभी संस्कृति हैं, उनके उद्देश्य, उनके प्रतिमान महज़ अलग हैं। इस तरह परिभाषित करने पर इतिहास की सांस्कृतिक व्याख्या हमारे सामने एक प्रभावी खाँचा तैयार करती है।

इस व्याख्या की एक और महत्ता यह भी है कि यहा इतिहास के महासागर में गोते लगाने की पूरी आज़ादी देती है। एक देश अपनी संस्कृति, अपनी मान्यताओं के अनुसार

उसमें से कुछ भी ले सकता है। यही कारण है कि संसार भर में ज़रूरतों, मूल्यों, मूल्य-तंत्रों, संरचनाओं के आधार पर भिन्न संस्कृतियाँ हैं। यह प्रक्रिया इस ओर भी संकेत करती है कि इतिहास स्वतंत्र इच्छाओं, आकांक्षाओं की निर्मती है, न कि कोई निश्चयीकरण है। यह एक लचीली प्रक्रिया जो समयानुसार अपना रंग-रूप बदलती रहती है।

यह बहुत भारी गलती होगी कि हम सांस्कृतिक-इतिहास की व्याख्या के दौरान संस्कृतियों के पतन की समस्या की बात दरकिनार कर दें। मिश्र, यूनान, रोम, भारत, अफ्रिका आदि राष्ट्रों के गौरवशाली संस्कृति का पतन हुआ और फिर वे विकसित हुए। दुर्भाग्यवश इसके बारे में कम ही जाना गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि संस्कृति मानव के सर्वांगीण पहलुओं को धारण किये हुए रहती है। मानव की तरह संस्कृति भी जीवन-मरण के चक्र से अपने आपको नहीं बचा सकती है। अपनी चरम विकास की अवस्था में एक संस्कृति ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेती है, जिसके बाद एक मंदी की स्थिति पैदा होती है, और उसका विकासशील पक्ष अवरुद्ध हो जाता है। वह अशक्त हो जाती है और उसमें अपने से मज़बूत संस्कृतियों से अपनी रक्षा करने की हिम्मत खत्म हो जाती है।

बावजूद इसके सांस्कृतिक इतिहास की ज़रूरत पर दो राय नहीं हो सकती, क्योंकि इसकी जड़े वास्तविकताओं में धँसी हैं। यह व्याख्या ऐतिहासिक बदलाव को एक-दूसरे से जुड़े मूल्यों को केन्द्र में रख कर देखती है, संस्कृति और संस्कृतियों को संपूर्णता में देखती है, उसकी नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्षों को शिद्दत और ईमानदारी से पेश करने की मंशा रखती है।

"In the great movement of time which we call human history, we must ask ourselves the question, 'Where are we, and where is our road leading to? In the hope that through an understanding of the growths and declines, of the successes and the failures of cultures, we will acquire some clues that will lead us to the right decisions in our time."[1]

[1] S.Takdir Alisjahbana, Socio-Cultural Creativity in the Converging and Restructing Process of the New Emerging World(Pulot Gadung, Jakarta: Penerbit Dian Rakyat, 1983), pp-12-13.

कोई एक चीज़ जो भविष्य में की जानी चाहिए, वह हैं संस्कृति की महत्ता को स्थापित करना, जिस तरह पर्यावरण-सम्बन्धी, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और तकनीकी बदलाव विश्व भर में हुए हैं, उनको देख संस्कृतियों को भारी परिवर्तन के लिए खुद को तैयार करना होगा। संस्कृतियों को प्रेरणा का स्रोत बनना पड़ेगा, भविष्य का पथ दिखाने की योग्यता पैदा करनी होगी, एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु भाव से देखना होगा। क्योंकि संस्कृति में ही वे शक्तियाँ हैं, जिनका अगर सही-सही विकास हो तो सभी ज़रूरतों को पूरा करने की सक्षमता रखती है। कोई ज़माना था जब लोग इतिहास अपनी संस्कृति की पहचान के लिए देखते थे, आज वह इतिहास सुनहले भविष्य की आशा से देखता है।

ऊपर जो संस्कृति तथा सांस्कृतिक-इतिहास के बारे में लिखा गया मूलतः नृतत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण से लिखा गया है। ऐसा इसलिए कि इस बात की महत्ता का अहसास हो कि, आज की भीषण स्थिति में संस्कृति को आधार में रख इतिहास का पुनर्निरीक्षण करना एक मात्र विकल्प बच गया है। भविष्य को क्षत-विक्षत होने से बचाने का यही एक रास्ता हमारे पास है। इतिहास महज़ अतीत की घटनाओं का लेखा-जोखा नहीं है। न ही इतिहास की व्याख्या को केवल द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर किया जाना सटीक है। इतिहास सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि का विकास भी है। इतिहास न केवल संस्कृति की उपलब्धि की ओर विकास है, बल्कि वह एक सांस्कृतिक-प्रक्रिया है; मानव की सर्जनात्मकता एवं मानव-चेतना के परिष्कार का विकास है। मानव-जीवन अजस्र प्रवाह, उसकी कल्पना और अनुभूति का गुणात्मक विकास है। इतिहास की घटित घटनायें जीवन्त अवस्था में वर्तमान की घटनाएँ ही हैं, जो परम्परा रूप में जीवन का गुणात्मक विकास करती चलती है। अतीत के तथ्य इतिहासकार की दृष्टि से गुज़र कर वर्तमान को परिष्कृत करते रहते हैं और उनकी स्थिति भविष्य की संभावनाओं के साथ गतिशील रहती है। इतिहास की तरह साहित्य भी एक विद्या है। "साहित्य मानव जीवन का अनुभव जगत् है। रचनाकार अपनी समग्र जीवनानुभूति को, प्रत्यय और अवधारणा के साथ अनुभव के स्तर जिसे ग्रहण करता है, उसी को अभिव्यक्त करता है। रचनाकार एक प्रतिभाशील

व्यक्ति होने के बावज़ूद वह स्वयं इतिहास का उत्पाद भी होता है। अतः साहित्य में समसामयिक परिप्रेक्ष्य का प्रश्न भी जुड़ा होता है। इस प्रकार साहित्य में जीवन अपने अनुभव की समग्रता में परिलक्षित होता है यही कारण है कि साहित्य एक संश्लिष्ट रचना है। संश्लिष्ट इसलिए कि साहित्य जीवन की समग्र अनुभूतियों की रचना है।"[1] मानव-जीवन की रचना होने के कारण इसमें मूल्य भी समाहित होते हैं। इसमें परम्परा को समाहित करके वर्तमान जीवन को परिष्कृत करने की अपार शक्ति होती है तथा साहित्य के माध्यम से ही समाज के मूल्यों की स्थापना होती है और कभी-कभी प्राचीन मूल्य तोड़े भी जाते हैं। समाज में विभिन्न मूल्यों का संश्लिष्ट संवहन साहित्य के माध्यम से होता आ रहा है। साहित्य में समस्त सांस्कृतिक मूल्य समाहित होकर संश्लिष्ट रूप में हमारे सामने आते हैं। "वस्तुतः रचनाकार मानव-व्यवहार की जटिलता, जो विभिन्न स्वभावों, मनोभावों, विश्वासों तथा आदर्शों की जटिलता है, को उद्घाटित ही नहीं करता, अपितु अनुभव के साथ इन्हें रचता भी चलता है। मनुष्य की चेतनाएँ विविध रूप में हैं। अतः उनकी परख रचनाकार बाह्याभ्यंतर दोनों ओर से करता है और उन्हें मानव-जीवन के सामने रचना के धरातल पर प्रस्तुत करता है जो परम्परा के रूप में और मूल्यों के साथ क्रमिक-विकास की धारा में जुड़ता है। रचनाकार मूल्यों को पकड़ता है, उन्हें मानव-जीवन के वर्तमान से जोड़ता है और उनमें अपेक्षाओं को भी भरता चलता है, जिनकी समाज की गति और उत्कर्ष एवं परिष्कार हेतु आवश्यकता होती है।"[2] "साहित्य किसी क्षण की उपलब्धि नहीं अपितु वह एक दीर्घ साधना की उपलब्धि है। इस उपलब्धि में संपूर्ण जीवन के उपकरण समाहित हैं। अतः साहित्य अपने अन्दर युग-युग का इतिहास समेटे हुए है, उसमें मानव-जीवन की समस्त उपलब्धियों का संगम है और संभावनायें भी। साहित्य अपने सर्जनात्मक सातत्य में सांस्कृतिक मूल्यों का विकास और संश्लेषण भी है। साहित्य में

---

1 हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया : डॉ. हरिशचन्द्र शर्मा,पृ. 44

2 हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया : डॉ. हरिशचन्द्र शर्मा, पृ. 50

चेतना के स्तर पर समस्त युग समाहित होता है तो साहित्य युग-निरपेक्ष मूल्यों का संवहन भी करता चलता है, इस संदर्भ में कि साहित्य का विस्तार मानव-मन के साथ गतिशील होता है। साहित्य समाज से संबद्ध है.....। अतः इतिहास की भाँति साहित्य भी गतिशील और लोचदार संस्था है।"[1]

दिनकर की गद्य रचना और उनके काव्य पर दृष्टि डालने पर एक बात स्पष्ट होती है, कि इतिहास और संस्कृति के प्रति उनका झुकाव रहा है। दिनकर नृतत्वशास्त्री नहीं हैं, वे एक साहित्यकार हैं। परन्तु सामान्यतः जिन बातों का उल्लेख किया गया है, वे सभी दिनकर जी की व्यापक सांस्कृतिक बोध से घालमेल रखती हैं। सभ्यता और संस्कृति के अन्तर को बताते हुए वे अपनी संस्कृति की समझ को उजागर करते हैं- "".....मगर संस्कृति इन सबसे अधिक कहीं बारीक चीज़ है, वह मोटर नहीं, मोटर बनाने की कला है, मकान नहीं, मकान बनाने की रुचि है। अच्छे भोजन का सामान हम सभ्यता के ज़रिये पैदा करते हैं, लेकिन जिस ढंग से हम भोजन तैयार करते हैं और जिस कला से हम उसे खाते हैं वह हमारी संस्कृति कहलाती है, हर सभ्य आदमी संस्कृत भी होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अच्छी-से-अच्छी पोशाक पहननेवाला आदमी भी तबियत से नंगा हो सकता है, और नंगा होना संस्कृति के खिलाफ़ बात है, संस्कृति धन नहीं गुण है। संस्कृति ठाट-बाट नहीं, विनय और विनम्रता है।.....लेकिन संस्कृति इतने मोटे तौर से दिखलायी नहीं देती; वह बहुत सूक्ष्म और महीन चीज़ है और वह हमारी हर पसंद, हर आदत में छीपी रहती है।.....हथियार गढ़ना सभ्यता का काम है, लेकिन उस हथियार से किसी को मारना ठीक है या नहीं, यह बतलाना संस्कृति का काम है।"[2] अपनी गहन अध्ययन प्रक्रिया में उन्हें इस बात का अहसास हो गया था कि भारत की गौरवशाली सांस्कृतिक विरासत का धीरे-धीरे क्षय होता जा रहा है। "पाश्चात्य विचारों में भारत का

---

1 हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया : डॉ. हरिशचन्द्र शर्मा, पृ. 50

2 भारत की सांस्कृतिक कहानी, पृ. 2-3

जो विश्वास जगा था, अब तो वह भी हिल रहा है। नतीजा यह है कि हमारे पास तो पुराने आदर्श हैं, न नवीन; और हम बिना यह जाने हुए बहते जा रहे हैं कि हम किधर को यह कहाँ जा रहे हैं। नयी पीढ़ी के पास न तो कोई मानदण्ड है, न कोई दूसरी ऐसी चीज़, जिससे वह अपने चिन्तन या कर्म को नियन्त्रित कर सके ।"[1] व्यापक स्तर पर इस बात की जाँच-पड़ताल ज़रूरी है। "यह खतरे की स्थिति है। अगर इसका अवरोध और सुधार नहीं हुआ तो इससे भयानक परिणाम निकल सकते हैं। हम आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संक्रान्ति की अवस्था से गुज़र रहे हैं। संभव है, यह उसी स्थिति का अनिवार्य परिणाम हो। लेकिन आणविक युग में किसी को अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौके नहीं दिये जायेंगे। और इस युग में मौका चूकने का अर्थ सर्वनाश भी हो सकता है।"[2] पाँच साल की अथक परिश्रम के बाद जो कृति उभर कर आई उसे आज सभी 'संस्कृति के चार अध्याय' के नाम से जानते हैं। केवल इस पुस्तक में ही नहीं वरन उनका सांस्कृतिक-चिन्तन हमें 'भारतीय एकता', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'भारत की सांस्कृतिक कहानी', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता', 'भारत की सांस्कृतिक कहानी', और 'धर्म नैतिकता और विज्ञान' आदि पुस्तकों में भी यत्र-तत्र देखने को मिलता है। इन सभी पुस्तकों घुमा-फिराकर उन्होंने संस्कृति की महत्ता को लेकर ही बार-बार अपने विचार प्रकट किये हैं। परन्तु ऐसा करने की वजह थी। वे संस्कृति की अवधारणा को स्पष्ट कर देना चाहते थे। उन्होंने इस विषय का सरलीकरण किया ताकि अधिक से अधिक लोग अपनी संस्कृति को लेकर गौरवान्वित हों। 'संस्कृति के चार अध्याय' में भी उन्होंने इसी बात पर ज़ोर दिया है- "यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ट चुक कर तैयार की गयी है, किन्तु, इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिए नहीं लिखा है। असल में, यह उनके काम की चीज़ है, जो खोजपूर्ण ग्रन्थों का समाना नहीं करना चाहते, जो भारतीय

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ. 11

2 संस्कृति के चार अध्याय, तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ. 11

संस्कृति को समझना तो चाहते हैं, किन्तु जिनके पास सैकड़ों ग्रन्थों के व्यूह में जाने का अवकाश नहीं है तथा जो अनुसन्धान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं। संक्षेप में, इसके मुख्य पाठक जनसाधारण होंगे ऐसी मेरी कामना है।"[1] साफ़ झलकता है कि उन्होंने जो परिश्रम इस पुस्तक को लिखने में किया वह उन लोगों के लिए था, जिनकी आस्था अपनी संस्कृति के प्रति डाँवाँडोल है।

दिनकर ने अपनी इस रचना को साहित्य-कृति माना है। "इस पुस्तक को मैं इतिहास नहीं, साहित्य का ग्रन्थ कहता हूँ।"[2] "……..यह महल साहित्य और दर्शन का है। इतिहास की हैसियत हाँ किरायेदार की है। किरायेदार का आदर तो मैं करता हूँ, किन्तु महल पर उसे कब्ज़ा देने की बात मैं नहीं सोच सकता। मैं कोई पेशेवर इतिहासकार नहीं हूँ। इतिहास की और शौक से गया हूँ और शौक से ही मैं उसकी सामाग्रियों का उपयोग भी करता हूँ।"[3] परन्तु इसे नकारा नहीं जा सकता कि- "इस रचना में भारतीय संस्कृति के उत्थान के इतिहास को दिनकर ने साहित्य की भाषा में ढाला है। साहित्य और इतिहास का सम्बन्ध घनिष्ठ होता है। कहते हैं साहित्यकार का रास्ता इतिहास की गलियों से गुज़रता है। इतिहास सम्बन्धी रचना करने वाला साहित्य का इतिहास से मुहँ नहीं मोड़ता। दिनकर की यह रचना भारतीय संस्कृति के इतिहास की रचना है। अतः इस रचना में इतिहास का दर्शन होता है और इसे ऐतिहासिक साहित्य भी कहा जा सकता है।"[4] अतः हम कह सकते हैं कि यह पुस्तक सांस्कृतिक-इतिहास का जीवन्त दस्तावेज़ है जो दिनकर की भारतीय-संस्कृति और राष्ट्रवादिता के प्रति अपनी गहन आस्था को प्रकट करते हैं। "वे संस्कृति के राष्ट्रवादी इतिहासकार हैं। जिस राष्ट्रवादी इतिहास-दर्शन का प्रवर्तन रमेशचंद्र दत्त, आर.सी.मजूमदार तथा सर यदुनाथ

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ. 14

2 संस्कृति के चार अध्याय, तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ. 14

3 संस्कृति के चार अध्याय, तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ. 10

4 संस्कृति के चार अध्याय में भारतीय संस्कृति, देवीदास इंगळे, अनभै, दिनकर विशेष, अंक-19, जुलाई-सितम्बर-2008, पृ. 79

सरकार जैसे इतिहासकारों ने इतिहास के क्षेत्र में किया है, उसी इतिहास-दर्शन का विनियोग दिनकर ने संस्कृति के क्षेत्र में किया।"[1]

दिनकर जी की सांस्कृतिक-इतिहास की विवेचना वृहद रूप में आगे चलकर की जाएगी।

6.2. भारतीय संस्कृति की विशेषता :

इस अध्याय के अन्तर्गत सांस्कृतिक-इतिहास की व्याख्या के दौरान संस्कृति पर विचार करते हुए, हम इस बात से भिज्ञ हो जाते हैं कि 'संस्कृति' शब्द अपने आप में कितनी पेचिदगी लिए हुए है। कारण भी साफ़ है, कोई इसे एक जैविक-प्रक्रिया की तरह देखता है तो कोई इसे मनुष्य निर्मित संसाधनों से जोड़ परिभाषित करने की कोशिश करता है। मज़ेदार बात यह है कि दोनों में से किसी भी तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। परन्तु इस ओर भी ध्यान दिलाने की कोशिश की गई है कि अगर भविष्य की बात की जा रही हो तो हमें सतर्कता से काम लेना होगा। तथा कोई ऐसा अनूठा सामंजस्य ईजाद करना होगा जिससे हम आगे की पीढ़ी के लिए कुछ बचाए रख सकें।

इस पर अगर भारतीय-संस्कृति की अवधारणा की बात उठती है तो वह और भी दुष्कर प्रतीत होता है। ठीक-ठीक भारतीय-संस्कृति को व्याख्यायित कर देना एक दुर्लभ कार्य है। इसे ही नेहरू एक व्यक्ति की शक्ति और सीमा की परे की बात कहते हैं। यह अव्याख्येय बाध्यता ही भारतीय-संस्कृति की विशेषता है।

भारतीय-संस्कृति को अगर थोड़ा भी समझने का दंभ अगर हम करें तो उसकी शुरुआत हमें गुरु देव रवीन्द्रनाथ जी की कविता से करनी होगी-

हे मोर चित्त, पुन्य तीर्थे, जागो रे धीरे,
एई भारतेर, महामानवेर, सागर तीरे।

---

[1] भारतीय संस्कृति का इतिहासकार, भारतीय साहित्य के निर्माताः रामधारी सिंह दिनकर, विजेन्द्र नारायण सिंह, पृ. 84

केह नाहिं जाने, कार आह्वाने, कत मानुषेर धारा
दुर्वार स्रोते एलो, कोथा हते, समुद्रे हलो हारा।
हेथाय आर्य, हेताय अनार्य, द्राविड़-चीन
शक-हूण-दल, पाठान, मोगल, एक देहे हलो लीन।
एधारा बाहि, जयगान गाहि, उन्माद कलरवे।
भेदि मरु -पथ, गिरि-पर्वत, जारा असंख्यो सबे।
ताहे मोर मा-सबाई विराजे, केहो नहे-नहे दूर
अमार शिराते, स्पंदे ध्वनित, ताहि विचित्र सूर।

कविता का आशय है- "भारत देश महामानवता का महासागर है। ओ मेरे हृदय। इस पवित्र तीर्थ में श्रद्धा से अपनी आंखें खोलो। किसी को भी ज्ञात नहीं कि किसके आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएँ दुर्वार वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आईं और इस महासमुद्र में मिलकर खो गईं। यहाँ आर्य है, यहाँ अनार्य हैं, यहाँ द्रविड़ और चिनी वंश के भी लोग हैं। शक, हूण, पठान और मुग़ल-न जाने कितनी जातियों के लोग इस देश में आए और सब-के-सब एक ही शरीर में समाकर एकाकार हो गए। समय-समय पर जो लोग रक्त की धारा बहाते हुए एवम उन्माद और उत्साह में विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तान को पार करके एवं पर्वतों को लाँघकर इस देश में आए थे, उनमें से किसी को भी अब अलग अस्तित्व नहीं है। वे सब-के-सब मेरे भीतर विराजमान हैं। मुझसे कोई भी दूर नहीं है। मेरे रक्त में सबका रक्त है और मेरे स्वर में सबका स्वर ध्वनित हो रहा है।"[1]

भारतीय संस्कृति को हमें इस तरह देखने होगा कि-"एक के बाद एक बहुत-सी नस्लें अपनी सभ्यताएँ लेकर आयीं और आकर बस गयीं। प्रारंभ में तो पुरातन निवासियों और नए आगंतुकों में क़ाफ़ी संघर्ष हुए, जो वर्षों तक चलते रहे; लेकिन फिर लड़ाई-झगड़ों के बाद यहाँ की जलवायु के प्रभाव से मेल-जोल और शांति का दौर क़ायम हुआ। आपस में बैर मिटे, मेल-मिलाप की राहें निकाली, सहयोग और समझौते ने कदम जमाया। हर

[1] आजकल, विश्वंभर नाथ पांडे, भारतीय संस्कृति की समग्ररूपता, फरवरी 2010, पृ. 8

बार जब भी ऐसे अवसर आए और प्रेम और एकता की नींव पड़ी तो उस नींव के ऊपर एक नई सभ्यता का नया महल खड़ा हुआ, जिसमें नए और पुराने के संगम से राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक भव्यता की एक अनूठी शान पैदा हुई।"[1] भारतीय संस्कृति इसी ऐक्य का प्रतिनिधित्व करती है, और उसकी समग्रता में ही भारतीय-संस्कृति का अध्ययन और विश्लेषण ज़रूरी बन पड़ता है।

"भारतवर्ष अति प्राचीन देश है। अपनी भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक इकाई के रूप में उसकी गणना समस्त मानवीय उपलब्धियों के अध्ययन में प्रमुख स्थान है। उसकी संस्कृति में राष्ट्रीय जीवन का उत्थान-पतन तो स्वाभतः है ही, उसके नानात्व या विविध स्वरूप में आद्योपान्त एक समन्वयवादी चेतना व्याप्त है।.....प्राचीनता के विचार से भारतीय संस्कृति विश्व की आदि-सभ्यताओं में से एक है। सिन्धु-घाटी के क्षेत्र में जिस संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं वे कालक्रम में नील नदी के किनारे विकसित मिस्र संस्कृति एवं तिग्रा-उफ्रातु नदियों के काँठे में फूली-फली मैसोपोटामी सभ्यता के समकक्ष है। वैदिक साहित्य की प्राचीनता भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा का प्रमाण हैं जिसके अनेक तत्त्व आज भी जीवित हैं। इस सनातन अस्तित्व की दृष्टि से भारतीय संस्कृति अनोखी है। उसकी अद्‌भुत जीवनी शक्ति की तुलना में संसार की कोई सभ्यता नहीं ठहरती। मिश्री, सुमेरी, ईरानी, यूनानी, रोमन किसी भी सभ्यता के इतिहास का युग ६००-७०० वर्षों से अधिक का नहीं। भारतीय संस्कृति का अनुपम प्रसार काल की दृष्टि से ४-५ हज़ार वर्षों के बीच अटूट मिलता है। वह बीते इतिहास या पुरातत्त्व का निर्जीव अवशेष नहीं है, बल्कि आज भी जीवन-युक्त है।"[2]

भारतीय-संस्कृति का अक्षुण्ण रहना कई कारणों से हुआ, उनमें भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक समृद्धि, आध्यात्मिकता, धार्मिक एकता और सहिष्णुता, ग्रहणशीलता आदि

---

1 आजकल, विश्वंभर नाथ पांडे, भारतीय संस्कृति की समग्ररूपता, फरवरी 2010, पृ. 8

2 भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा, पृ. 6-7

अनेकानेक कारण हैं जिसने भारतीय-संस्कृति को सदियों से जिलाए रखा। इन सबसे ऊपर जो बात उभर कर आती है ओर जो भारतीय-संस्कृति की अपनी बपौती है वह है मानव-मंगल की कामना। भारतीय संस्कृति ने "एकता में अनेकता और अनेकता में एकता स्थापित करके ऐसी मानव मंगल को परिमण्डित किया है। भारतीय संस्कृति के शाश्वत तत्त्व हैं सत्य, शिव और सुन्दर। इन शाश्वत तत्त्वों में मानव-चेतना को संस्कृत और परिष्कृत किया। दर्शन में उसके सत्य रूप का, नीति(अनुशासन) में उसके शिव स्वरूप का और कला में सुन-दर स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ है। इन तीनों मूलतत्त्वों का समाहार ही संस्कृति है, जिसके द्वारा मानवता का हित और कल्याण होता आया है।.....अधिकतर विद्वानों ने एकमत से इस बात को स्वीकार किया है कि भारत ही एकमात्र ऐसा देश है, जिसके मौलिक मानदण्ड विश्व की विभिन्न जातियों तथा राष्ट्रों के सांस्कृतिक उत्कर्ष के सहायक एवं प्रेरणा-स्रोत बने। भारत के ये मौलिक मानदण्ड पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति निष्ठा, जीवन की क्षणभंगुरता के प्रति विश्वास, कर्म तथा पुनर्जन्म की अनिवार्यता, मानवमात्र के प्रति बन्धुत्व और प्राणिमात्र के प्रति दया और करुणा का भाव और एक ऐसी व्यापक सत्ता के प्रति अटूट विश्वास, जो आनन्दमय सौन्दर्य-संपन्न और अमरत्व आदि उपाधियों से विभूषित है था मानव मात्र को जीवित रहने के लिए प्रेरित करती है। भारतीय संस्कृति के इन मौलिक मानदण्डों ने अतीत के अनेक उत्थान-पतनों के समय दासता और दुःख की घनीभूत पीड़ा में उसे सांत्वना प्रदान की और उसे ध्वस्त होने से बचाया।

इस दृष्टि से भारत का ऐतिहासिक अतीत विश्व के सभी देशों के ऐतिहासिक अतीत से सर्वथा भिन्न रहा है। इस्लामी, ईसाई, यहूदी और अरबी संस्कृति में सामाजिक जीवन के विकास की जो मान्यताएँ रही हैं, भारत के सांस्कृतिक विकास की स्थितियों से उनकी भिन्नता स्पष्ट है। इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन विभिन्न राष्ट्रों की सभ्यताओं को विधर्मी बाहरी आक्रमणकारियों ने पराभूत कर दिया; किन्तु ठीक इन्हीं परिस्थितियों में भारत ने अपनी संस्कृति को नष्ट होने से ही नहीं बचाया, अपितु अपने

विकास की परम्परा श्रृंखला को भी अक्षुण्ण बनाए रखा। समय-समय पर बाहर से आयीं जातियों के सार वैर-विरोध, समस्त कटुताएँ-विषमताएँ अपने स्नेहांचल में समेट कर भारतीय संस्कृति ने सबको अपना बना लिया। अपनी इसी रूप में भारतीय संस्कृति विश्वजनीन एवं सार्वभौमिक है।"[1]

"अब जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह यूँ तो मानव-इतिहास की सबसे प्राचीन और सर्वाधिक टिकाऊ साबित हुई संस्कृति है।"[2] इसके मूल में 'हृदयेनापराजितः' का भाव है, जो सदैव बनी रही। अकारण नहीं है कि इक़बाल ने अपने शुरू के दिनों में ही 'तरान-ए-हिन्द' में इस बात को स्वीकार कर लिया- यूनान, मिश्र रोमां सब मिट गए जहाँ से/अब तक मगर है बाकी नामो-निशां हमारा/कुछ बात है कि हस्ती/मिटती नहीं हमारी/सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा।

भारतीय संस्कृति की अक्षुण्णता के दो मूल कारण धर्म और दर्शन भी हैं। जिनकी ओर पाश्चात्य जगत मुँह बाए अपनी समस्याओं के हल को ढूँढने का प्रयास करता है। "भारतीय वाङ्मय में धर्म शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। अंग्रेजी का 'रिलीजन' शब्द उसका पूर्णतः पर्याय नहीं बन सकता।"[3] हमारे यहाँ धर्म को शुद्ध आचरण से जोड़ा गया है। "वास्तव में धर्म संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त न होकर कर्त्तव्य, शुद्धाचरण, संयम नियम आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है तब उसमें संस्कृति के अनेक उपादान समाहित रहते हैं, किन्तु जब धर्म, मज़हब के संकीर्ण दायरे में रूढ़िवादिता और धर्मान्धता का वाचक बनता है तब उसका संस्कृति से कोई सरोकार नहीं रहता।"[4] "भारतीय संस्कृति के उदय और अस्तित्व के मूल में धर्म सदाशय रूप में निहित है। भारतीय संस्कृति में विश्वजनीन मानवीय आदर्शों का समावेश धर्म के संपर्क से ही हुआ।

---

1 भारतीय संस्कृति और कला, पृ. 77-78

2 रमेशचन्द्र शाह, सांस्कृतिक चेतना और भारतीय साहित्य, अक्षरा, सितम्बर-अक्तूबर पृ. 10

3 वीरेंद्र श्रीवास्तव, सब धर्मों का सर्वस्व, हमारा सांस्कृतिक परिवेश, पृ. 50

4 संस्कृति एवं सदाचार के सोपान, पृ. 21

समय-समय पर उसके अस्तित्व के लिए जब-जब खतरे तथा संकट उपस्थित हुए तब-तब धर्म ने ही उसकी रक्षा की। पुरातन आर्य-आर्येतर युग से लेकर आज तक के लगभग पाँच हज़ार वर्षों के इतिहास में संस्कृति की अक्षुण्णता और उसका निरन्तर विकास धार्मिक समन्वय के कारण ही संभव हो सका।"[1] इसी तरह व्यापक दर्शन का प्राचुर्य भी भारतीय संस्कृति की निधि है। "आचारों और विचारों का समन्वय ही संस्कृति है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति की समग्रता की खोज करने के लिए उसके विचार-साहित्य का अनुशीलन करना आवश्यक है। दर्शन इस विचार-साहित्य का आगार है। भारतीय संस्कृति की गहनता, गंभीरता, विशालता, स्थिरता और प्राचीनता आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विश्लेषण दर्शन-साहित्य में निहित है। दर्शन इस देश की मौलिक अजस्त्र चिन्ताधारा का उत्स है। यहाँ की संस्कृति उन्हीं पर आधारित है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक साधना का जो प्रभाव लक्षित होता है, उसका आधार भी यही तत्त्व-चिन्तन है। षड् आस्तिक दर्शनों और लोकायतिक(चार्वाक) तथा जैन-बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों की समन्वित विचारधारा का निस्पन्द ही भारतीय संस्कृति है। इसी कारण उसको समग्रता प्राप्त हुई है।"[2]

उपरोक्त सभी बातें भारतीय-संस्कृति की तस्वीर हमारे सामने खींचती है। भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक समृद्धि, आध्यात्मिकता, धार्मिक एकता और सहिष्णुता, ग्रहणशीलता, दर्शन आदि अनेकानेक कारण इसकी अमरता के परिचायक रहे हैं। परन्तु भूमंडलीकरण, आर्थिक उदारीकरण, बाज़ारवाद, चंचल पूँजीवाद, उत्तर आधुनिकता आदि की आँधी में सिर्फ हमारी ही नहीं, विश्व की समस्त संस्कृति-संपन्न देशों की संस्कृति की जड़ें हिलने लगी हैं। भारतीय-संस्कृति को संप्रदायवाद, उग्रवाद, आतंकवाद, भाषावाद जैसे हथौडे से खंडित करने की कोशिश की जा रही है। इसी कारण "भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, क्योंकि वह अतीत की वैभव-गाथा ही नहीं वर्तमान की करुणा

---

1 भारतीय संस्कृति और कला, पृ. 84

2 भारतीय संस्कृति और कला, पृ. 84

गाथा भी है।"[1] "भारतीय होने के नाते हम एक अत्यन्त महान सांस्कृतिक परम्परा के अधिकारी हैं।हमारी संस्कृति जिन शाश्वत आध्यात्मिक नैतिक मूल्यों की प्रेरक रही है, उसकी मिसाल अन्य देशों में मिलना असंभव है। परन्तु अपनी इस सांस्कृतिक धरोहर की प्रतिरक्षा करने में हम किस सीमा तक सफल हुए हैं?..... वर्तमान स्थिति में निश्चित रूप से हमारी संस्कृति के लिए संकट की अवस्था उत्पन्न हो गई है। भारत दर्शन के क्षेत्र में, अध्यात्म के क्षेत्र में कुछ शताब्दियों पहले जो उपलब्ध कर चुका है, उसका मूल्य आँक कर पाश्चात्य जगत् के मनीषी तो भार की ओर भाग रहे हैं, परन्तु भौतिक उत्कर्ष की चकाचौंध में भार निरन्तर पश्चिम की ओर दौड़ रहा है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद के वर्ष हमें सांस्कृतिक दृष्टि से जिस घोर भौतिकवाद की दिशा में ले जा रहे हैं, उसे देखते हुए जान पड़ता है कि भारतीय चरित्र, दृष्टिकोण एवं मान्यताओं में ही आमूल परिवर्तन हो गया है। अध्यात्म में विश्वास रखने वाले अदृष्टवादी, सहज विश्वासी आम भारतीय अब निपट स्वार्थी, महत्त्वाकांक्षी एवं घोर भौतिकवादी(materialist) बन गया है। इस परिवर्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में चरित्र का पतन हुआ है, नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ है, एवं आचरण सम्बन्धी हमारी पीढ़ियों से चली आने वाली मान्यताएँ छिन्न-भिन्न हो गई हैं। इस शोचनीय स्थिति में भारतीय संस्कृति के शाश्वत् आदर्शों एवं परम्पराओं की रक्षा किस प्रकार हो-यह एक अहम प्रश्न है?"[2]

इस अहम प्रश्न पर दिनकर ने काफ़ी तन्मयता से सोचा-विचारा और अपनी विचार हमारे सामने 'संस्कृति के चार अध्याय' के रूप में रखे। यूँ तो यह पशोपेश हर उस व्यक्ति की है, जिसने भारतीय-समाज की बदलती स्थिति को देखा, और इस बदलाव की प्रक्रिया में हो रहे सांस्कृतिक-क्षय का भी अनुभव किया तथा अभी भी कर रहे हैं। दिनकर ने इसी प्रश्न का समाधान 'संस्कृति के चार अध्याय' में प्राप्त करने का यथेष्ट प्रयत्न

---

1 भारतीय संस्कृति और कला, पृ. 21

2 भारतीय धर्म और संस्कृति, सीता श्रीवास्तव, पृ. 2

किया और एक हद तक संभव भी हुए। वैसे तो उनकी संस्कृति सम्बन्धी मान्यताएँ भारत की सांस्कृतिक कहानी, हमारी सांस्कृतिक एकता, भारतीय एकता तथा रेती के फूल(संस्कृति के रूप?, भारत एक है, भगवान बुद्ध) वट-पीपल (चार सांस्कृतिक क्रांतियाँ, संस्कृति और सभ्यता), वेणुवन(संस्कृति संगम, बौद्ध धर्म की विश्वव्यापकता) में प्राप्त होती हैं। और इनका मूल ध्येय वास्तव में इस विषय को और संप्रेषणीय बनाने हेतु की गईं, ताकि यह जन-मानस का एक अंग बन जाएँ। पर वास्तव में ये सभी बातें उन्होंने संस्कृति के चार अध्याय में ही कहीं हैं। अतएव अगर हम उनकी इस कृति का ही सम्यक् आकलन कर लें तो पाएंगे कि दिनकर ने घोर परिश्रम के बल पर एक ऐसी सामासिक-संस्कृति की अवधारणा तैयार कि जिससे भारतीय-संस्कृति अक्षुण्णता की स्थिति को बरक़रार रखे, लोक-कल्याण हो, और भविष्य का दिशा-निर्देशन भी हो सके।

सच तो यही है कि रक्त, भाषा और संस्कृति-सभी दृष्टियों से भारत की जनता अनेक मिश्रणों से युक्त है और भारत की संस्कृति अनेक मिश्रणों के कारण मिश्र संस्कृति है। दिनकर इसे ही सामासिक संस्कृति कहते हैं। भारतीय-संस्कृति की समझ को और साफ़ करने के लिए जो ग्रंथ हमारी सहायता सबसे अधिक मदद करती है, वह अनुपम अनुसंधानपरक पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय है। "आधुनिक भारतीय नवजागरण का प्रकाश अनेक-अर्थच्छायाओं के साथ इसमें अंतर्वयक्त है। इसके लेखन की प्रेरणा लगभग अरविंद की पुस्तक भारतीय संस्कृति के आधार जैसी है। एक ख़ास अर्थ मे जवाहरलाल नेहरू की डिस्कवरी ऑफ इंडिया की तरह यह पुस्तक भारत के अतीत और वर्तमान की संवेदनात्मक चेतना का साक्षात्कार है। इसमें भारतीय चिंतन परम्पराओं को इतिहास दृष्टि की विवेक-व्यस्क संपन्नता से अभिव्यक्त और भाषित किया गया है।"[1] यह कृति अपने-आप में एक ऐसा अनूठा दस्तावेज़ है जिसने साहित्य जगत में दिनकर की छाप छोड़ दी। काफ़ी अनुसंधान और शोध के बाद तैयार की गई इस पुस्तक में अंग्रेजी और हिन्दी के

[1] आजकल, कृष्ण दत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिन्तन, जनवरी 2010, पृ. 23

नामचीन इतिहासकारों और साहित्यकारों के भारतीय-संस्कृति-सम्बन्धी विचारों को शिरकत मिली है। इनका प्रयोग दिनकर ने अपनी सांस्कृतिक विवेक के अनुसार चार अध्यायों में किया है। यहाँ इस अप्रतिम ग्रंथ को सार रूप में विवेचित किया गया है ताकि हमारी सांस्कृतिक समझ में और इज़ाफा हो।

"'संस्कृति के चार अध्याय' शीर्षक से ही स्पष्ट होता है कि रचना चार अध्यायों में विभाजित है। अनादि काल से चलती आ रही और समय-समय पर विकसित एवं परिवर्तित-परिवर्धित होती रही, भारतीय-संस्कृति कैसे-कैसे मोड़ लेती रही है और आज वह किस रूप में है, इसका लेखा-जोखा दिनकर की इस रचना से प्राप्त होता है। दिनकर की दृष्टि से भारतीय संस्कृति के विकास के चार पड़ाव हैं। पड़ाव दर पड़ाव यह संस्कृति विकसित होती रही है। दिनकर ने भारतीय-संस्कृति को सामासिक-संस्कृति माना है, इसमें जो भी आया खप गया है और भारतीय-संस्कृति हर किसी को अपने में समोती गई। जैसे पर्वत से निकली हुई गंगा, सागर तक के प्रवास में हर नदी-नाले को समा लेती है उसी तरह भारतीय-संस्कृति भी है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की 'एई महामानवेर सागर-तीरे' कविता का सर्वप्रथम संदर्भ देते हुए दिनकर ने भारतीय-संस्कृति को मधुकण की उपमान दी है। उसे अनेक रंगों का मेल भी कहा है। उसी समन्वयवादिता की प्रशंसा की है और उसे महामानवता का पारावार कहा है।

'संस्कृति के चार अध्याय' का प्रथम अध्याय 'भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव' है। 79 पृष्ठों के इस इतिहास में दिनकर ने हिन्दू संस्कृति कैसे निर्मित हुई, उसके निर्माण में एवं आविर्भाव में कौन-कौन सी बातें अंगीभूत रही हैं? आर्यों का आगमन कब हुआ? आर्यों के आने के पूर्व यहाँ कि स्थिति कैसी थी? यहाँ के मूल निवासी कौन थे? आर्यों के आने पर उनका उनके साथ मिलाप किस तरह होता रहा? उनके देवी-देवता कैसे थे? आदि की चर्चा की है। दिनकरजी ने इस बात को स्पष्ट किया है कि, हिन्दू संस्कृति यहाँ की मूल संस्कृति है परंतु हिन्दू यह विशिष्ट जाति या

धर्म(वाचक) शब्द नहीं है। हिन्दू का अर्थ है जो-जो भारत वर्ष में आये और यहाँ के जनजीवन के साथ जुड़ गये और यहाँ के निवासी बन गये उन सभी के आचरण और सभ्यता के साथ उनकी जो संस्कृति बनती गई वही हिन्दू संस्कृति है। उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि मानव जाति अनेक वर्षों से रहती आयी है। यहाँ की मानवजाति का इतिहास भी पुरातन है। नीग्रो-जाति के लोगों को उन्होंने के यहाँ के मूल निवासी के रूप में मानते हैं। आर्यों के आने के साथ-साथ ऑस्ट्रिक, यूनानी, यूची, शक, आभिर, हूण मंगोल और तुर्क ११ जाति या वंशों के लोग इस देश में आकर यहाँ के समाज में मिले और उस समाज के साथ खपकर एक रूप हो गये। इसी समाज को हिन्दू संस्कृति कहा जाने लगा। दिनकर का यह भी कहना है कि हिन्दू संस्कृति किसी एक जाति की देन नहीं, बल्कि इन सभी जातियों की संस्कृति के मिश्रण का परिणाम है। भारत में आने पर इन सभी जातियों ने अपने-अपने अस्तित्व को अपने आचार-विचारों को महासागर रूपी इस परिवार में मिला दिया। ये सभी इस प्रकार एकत्रित हुए हैं जैसे अलग-अलग फूलों का मकरंद शहद के रूप में एक होता है। मधुमक्खी जैसे फूलों के मकरंद को शहद के रूप में एक रूप करती है वैसे आर्यों ने इन सभी जातियों को हिन्दू संस्कृति पर अधिक प्रभाव आर्यों का रहा है। फिर भी संस्कृति में प्रचलित देवी, देवता, रूढ़ि, परम्परा, आचार-विचार, आचरण, सभ्यता इन सभी में आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के सम्मेलन का दर्शन होता है दिनकर ने इस संदर्भ में भी कहा है कि-आर्यों और द्रविड़ों का सांस्कृतिक-मिश्रण इतनी सघनता से हुआ है कि उसके विलगाव का प्रयत्न कठिन है।

दिनकर हिन्दुस्तान की इस संस्कृति को समन्वयवादी संस्कृति मानते हैं। इस संस्कृति ने अपने दरवाज़े बराबर खुले रखे हैं, जिसके सांस्कृतिक दरवाज़े बराबर खुले रहते हैं, उसके सरोवर का जल कभी नहीं सूखता। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता है और नये-नये कमल के फूल खिलते हैं। समन्वय तभी होता है जब अहिंसा का मार्ग अपनाया जाता है। तलवार से मनुष्य को पराजित किया जा सकता उसके हृदय को जीता नहीं जा सकता। यहाँ की संस्कृति ने आनेवालों के हृदयों को जीता है इसलिए यह

संस्कृति अधिक से अधिक संस्कृतियों के रंगों का मेल बन गयी है। दिनकर का यह भी कहना है कि विश्वशांति और विश्वमानवतावाद का संदेश अगर कहीं से दिया जा सकता है तो वह भारत की भूमि से और यहाँ की संस्कृति से ही दिया जा सकता है। कारण विश्व मानवतावाद का एवं विश्व कुटुम्ब का दर्शन यहाँ की संस्कृति में होता है। दुनिया में गोरे, गेंहुए, को और पीले कुल चार रंगों के लोग हैं। भारत में चारों रंगों का मिश्रण दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति की यही महानता है, जिसे दिनकरजी ने स्पष्ट किया है।

"यह प्रश्न आज भी सही उत्तर नहीं पा सका है कि मनुष्य सबसे पहले सीरिया में पैदा हुआ या अफ्रिका में ; उत्तरी ध्रुव के पास या पश्चिम एशिया में। कुछ विद्वान मानते हैं कि सबसे पहले मनुष्य चीन में पैदा हुआ। कुछ विद्वान मानते हैं कि सबसे पहले मनुष्य भारत में दक्षिण भारत में जन्मा होगा। दिनकर का ध्यान राधाकुमुद मुखर्जी के इस विचार से सहमत है कि सबसे पहले मनुष्य पंजाब और शिवालिक की ऊँची भूमि पर विकसित हुआ और यहीं हिमालय की तराई में सभ्यता विकसित हुई। कारण, सिंधु के पठार में प्राचीन सभ्यता-संस्कृति के अवशेष पाए जाते हैं। दिनकर के दृष्टि में डार्विन का वह सिद्धान्त भी अछूता नहीं है कि आदमी कैसे बंदर से बढ़कर आदमी हुआ। तमाम सिद्धान्तों-मतों के बीच यह सिद्धान्त भी उभरता है कि आर्य भारत के मूल निवासी नहीं थे-वे बाहर से आए थे। अन्य देशों से आकर आर्यों ने यहाँ के लोगों के साथ मिश्र समाज संस्कृति की रचना की, यही आज की भारतीय जनता है, दिनकर का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि "भारत की मिट्टी पर, अनंत काल से कितनी विभिन्न जातियों, कितने प्रकार के लोगों का समागम होता रहा है।

यह क़िस्सा भी काफ़ी मज़ेदार है। "अगर ईसाइयों और मुसलमानों को छोड़ दें, तब भी इस देश में एक के बाद के कमा से कम, ग्यारह जातियों का आगमन और समागम का प्रमाण मिलता है, जिन्होंने इस देश को ही अपना देश मान लिया और

जिनका एक-एक सदस्य यहाँ के संस्कृति और समाज में भली-भाँति खच-पच कर आर्य अथवा हिन्दू हो गया। नीग्रो, ऑस्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगोल और मुस्लिम आक्रमण से पूर्व तुर्क- इन सभी जातियों के लोग कई झुंडों में इस देश में आए और हिन्दू समाज में दाख़िल होकर सबके सब उसके अंग हो गए। असल में, हम जिसे हिन्दू-संस्कृति कहते हैं, वह किसी एक जाति की देन नहीं बल्कि इस सभी जातियों की संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम है।"[1] जलवायु, आर्थिक पद्धति, सामाजिक ढाँचे के भीतर जीते रहने के कारण भारतीय समाज के सभी लोगों में 'अद्‌भुत एकता' आ गई है। इसलिए नस्लवाद की चर्चा बेकार हैं। एंथ्रोपोलोजी के विद्वान कहते रहे कि गोरे रंग के लोग आर्य वंश के हैं-तीन नस्लों के साथ-कॉकेशियन, मंगोलियन और इथोपियन। इथोपियन लोगों का रंग काला है। इस तरह गोरे, पीले, काले तीन रंग के लोग हैं। इनमें रक्त का मिश्रण हुआ। एक चौथा प्रकार भी था। जंगलों में रहने वाले काले, नाट कद के लोग। ये ही लोग उन आदिवासियों की संताने हैं जो के बाद आर्य जाति के लोग। फिर आए मंगोल जाति के लोग जो असम, यूयन, नेपाल, उत्तर प्रदेश, बंगाल और कश्मीर के किनारे बस गए। ये लोग चीन और तिब्बत से आए हैं। इस तरह चार जातियों से भारतीय जनता बनी है। आदिवासी, द्रविड़, आर्य और मंगोल।"[2]

"दिनकर जी के विचारों पर जवाहरलाल नेहरू के विचारों का रंग भी कम नहीं था जो आर्यों का आदि देश भारत नहीं मानते थे। मूल विचार यह कि जब तक आर्यों के आदि देश का प्रश्न हल नहीं हो जाता-तमाम तरह की भ्रांतियाँ मौजूद रहेंगी। लेकिन सच इतना ही है कि रक्त, भाषा और संस्कृति-सभी दृष्टियों से भारत की जनता अनेक मिश्रणों से युक्त है और भारत की संस्कृति अनेक मिश्रणों के कारण मिश्र संस्कृति है। अनुमान ही है कि भारत में पहले-पहल निग्रो जाति के लोग आए-उनके अवशेष दक्षिण भारत अथवा

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 4

2 कृष्णदत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिंतन, आजकल, अंक-9, पृ. 24

असम के नागा जातियों के लोगों से मिलते हैं। नीग्रो जाति के बाद ऑस्ट्रिक या आग्नेय जाति का आगमन हुआ। इनका मिश्रण नीग्रो तथा मंगोल जाति के लोगों से हुआ। लेकिन विद्वान कोल-मुंडा जातियों को आग्नेय परिवार के साथ द्रविड़ों से जोड़ देते हैं। यही लोग शासक थे। प्रमाण यह कि राजस्थान के राजा लोग लंबे समय तक भील जाति के अंगूठे के रक्त से तिलक करवाते रहे। राज्याभिषेक की यह परम्परा कई प्रश्न उठाती है क्योंकि दक्षिण के राजाओं का तिलक भी पेरिया जाति के लोग करते रहे हैं।

दिनकर ने यह प्रश्न भी उठाया है कि द्रविड़ इस देश के मूल-निवासी हैं या नहीं? साथ ही आर्य-द्रविड़ संघर्ष के क्या प्रमाण हैं। आर्यों का असुरों-सासों से संघर्ष हुआ-वे दास कौन थे? क्योंकि आर्यों ने अपने शत्रु को 'अनास' कहा है और अनास कोई जाति नहीं है। नस्लवाद का सिद्धान्त भारत में अंग्रेज लाए। अन्यथा हमारे साहित्य में आर्य द्रविड़ संघर्ष का कोई प्रमाण नहीं है। आर्य-द्रविड़ संघर्ष थ्योरी अंग्रेजों ने गढ़ी है-ताकि आर्य-द्रविड़ आपस में उलझते-लड़ते रहें, उनमें एकता स्थापित न हो सके। हमारी एकता का आधार रहा है-धर्म। दिलचस्प बात यह है कि आर्य और द्रविड़ नाम से अभिहित किए जाने वाले भारतवासियों का धर्म एक है-संस्कार एक है। दिनकर ने ठीक कहा है कि "शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, बौद्ध-ये सभी आर्य भी थे और द्रविड़ भी।"[1] आर्य-द्रविड़ मिश्रण इतनी सघनता से हुआ कि उसके अलगाना कठिन है। मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, बलूचिस्तान में जिस सभ्यता के अवशेष मिले हैं, उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि यह सभ्यता आर्यों की थी या द्रविड़ों की या असुरों की। कोरे अनुमान पर यह सब चल रहा है। अब ज़्यादा इतिहासकार मानते हैं कि द्रविड़ ही इस सभ्यता के आदि रक्षक थे। द्रविड़ों ने ही इस देश में कृषि-सभ्यता, समुद्र यात्रा-परम्परा, मंदिरों, भवनों, नगरों का निर्माण किया। द्रविड़ों से आर्यों ने बहुत कुछ सीखा है। इसलिए विवेकानंद के एक खास प्रजाति

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 12

सिद्धान्त का द फ्यूचर ऑफ इंडिया पुस्तक में खंडन किया है। दिनकर ने भी यूरोप से आए प्रजातिवाद के ज़हरीले सिद्धान्त का विरोध किया।

आर्यों के मूल स्थान का विवाद न सुलझने वाला विवाद बनकर रह गया है। अगर आर्य बाहर से आए होते तो वेदों में बाहरी स्थानों का उल्लेख होता। यदि आर्य मध्य एशिया से आए तो वहाँ की कोई भी स्मृति साहित्य में शेष क्यों नहीं है? आर्य साहित्य में सप्त-सैंधव देश का उल्लेख मिलता है। यह सप्त-सैंधव देश भारत ही है। यहीं पर संस्कृत-भाषा का विस्तार हुआ और संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं में समाहित होती गई। इसलिए आर्य-आर्यान-ईरान का सिद्धान्त भी विवादस्पद हो जाता है। ऋग्वेद की बात ही प्रमाण पुष्ट है कि आर्यों का देश सप्त-सैंधव देश था। यहीं पर शक, हूण, आभीर, तुर्क , मंगोल, मोगल, आए और बसते गए। अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि ऋग्वेद आर्यों का ही नहीं, समस्त विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। न जाने कब से इस देश में कोल, किरात आदि रहते रहे हैं।

आर्य और आर्येतर-संस्कृतियों के मिलन पर दिनकर ने बहुत गंभीरता से विचार किया है। उन्होंने मान है कि हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के मिश्रण से हुआ तथा जिसे हम वैदिक संस्कृति कहते हैं वह वैदिक और ऋग्वैदिक संस्कृतियों के मिलन से उत्पन्न हुई थी। वेदों पर आर्यों का, पुराणों पर आर्येतर लोगों का वर्चस्व रहा- ये प्रमाण भी मिलते हैं। जनता में अनुश्रुति भी चलती रही है कि आगम भी निगम से ही निकले हैं। कुछ समय बाद आगमों की पूर्ण परिणति भक्ति में हुई। भक्ति और वेदांत में भेद है। वेदांत केवल ब्रह्म को मानता है। भक्ति में ईश्वर, जीव, प्रकृति-तत्त्वत्रय की प्रतिष्ठा है। मंगल देव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति में जो परस्पर-विरोधी 'युग्म' हैं, उनकी ओर ध्यान दिलाया है, -जैसे-गृहस्थ-सन्यासी युग्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति का युग्म, विष्णु और शिव का युग्म। सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास में भगवान कृष्ण का महत्त्व यह है कि गीता के द्वारा उन्होंने भगवानों की भक्ति, वेदांत के ज्ञान और सांख्य के दुरूह-सूक्ष्म दर्शन का एकाकार किया। भारतीय ग्रन्थों में संघर्ष की चर्चा है- ब्राह्मण-श्रमण संघर्ष,

शैव-शाक्त-संघर्ष, शाक्त-वैष्णव संघर्ष। लेकिन कहीं भी आर्यों द्वारा द्रविड़ों पर आक्रमण की चर्चा नहीं मिलती है। अतः पश्चिमी विद्वानों का झूठ से गढ़ा सिद्धान्त है-आर्य-आक्रमण सिद्धान्त। हाँ, आर्य-द्रविड़ सम्बन्ध को अगत्सय मुनि दृढ़ करते मिलते हैं। वे संस्कृत और तमिल के बीच सेतु निर्माण करते हैं। इसी तरह व्यवसाय के आधार पर वर्ण व्यवस्था और जाति-भेद की नींव पड़ी। भारतीय में पहले 'वर्ण' का उल्लेख है-बाद में 'जाति' शब्द आया है। कृष्ण ने गीता में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। ऋगवेद में तीन ही वर्ण हैं-चौथे वर्ण शुद्र की चर्चा बाद में हुई है। लेकिन कर्म और तप से कोई भी ब्राह्मणत्व प्राप्त कर सकता था। दिनकर ने आचार्य क्षितिमोहन सेन की पुस्तक संस्कृति-संगम के आधार पर सांस्कृतिक मेल-मिलाप की विशद चर्चा की है। लिंग पूजा, शिव-पूजा पुराण और शिव, कृष्ण-शिव युद्ध और कृष्ण विजय की कथाओं में न जाने कितनी परम्पराएँ सक्रिय हैं। उत्तर भारत में शिव-उमा पूजा प्रचलित थी तो दक्षिण में शिव के साथ शिव-परिवार की पूजा का व्यापक प्रचार था। कार्तिकेय और गणेश ने द्रविड़ों में विशेष स्थान पाया। द्रविड़ों में यौवन और युद्ध का देवता है मुरुगण। गणेश की व्याख्या ज्ञानेश्वर ने की और शारदा को गणेश की पत्नी महाराष्ट्र में कहा गया। वैष्णव धर्म को आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अवैद कहा है। जिस भृगु ने लिंगधारी शिव को शाप दिया था, उसी भृगु ने विष्णु के वक्षस्थल पर पदाघात किया। इंद्र के बाद पूजित विष्णु का नाम उपेंद्र पड़ा। वेदों में विष्णु का उल्लेख सूर्य के रूप में है। दूसरा तत्त्व नारायण धर्म का है जिसका उल्लेख महाभारत के 'नारायण उपाख्यान' में मिलता है और तीसरा तत्त्व वासुदेव का है। उन तीनों तत्त्वों ने एक होकर वैष्णव धर्म को उत्पन्न किया है। नारद के पांचरात्र मार्ग के अराध्य नारायण भी विष्णु से मिल गए। यही मार्ग विकसित होकर वैष्णव मार्ग या धर्म हुआ जिसमें वासुदेव और संकर्षण, लक्ष्मी और नारायण, कृष्ण और राधा, राम और सीता की पूजा की जाती है। यहाँ यज्ञ-विरोधी आंदोलन दबकर भक्ति-मार्ग का विकास हुआ। दिनकर ने कृष्ण नाम की प्राचीनता, राधा नाम पर विचार, रामकथा की प्राचीनता।

रामकथा की व्यापकता, रामावतार, राम केलिकर समन्वय, हिन्दू संस्कृति के रचयिता, आग्नेय जाति पर विचार, हिन्दू नाम का इतिहास, हिन्दू संस्कृति की पाचन-शक्ति को लेकर निष्कर्ष निकाला है कि विश्वजनीनता, विभिन्न जातियों को एक महाजाति के ढाँचे में ढालना, वादों-धर्मों-विचारों के बीच एकता स्थापित करना भारतीय समाज-संस्कृति की विशेषता रही है।"[1]

'संस्कृति के चार अध्याय' का दूसरा अध्याय प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह शीर्षक है। 141पृष्ठों के इस अध्याय में दिनकर जी ने इस बात को स्पष्ट किया है कि वैदिक काल से चली आ रही हिन्दू-संस्कृति के विरोध में जैन धर्म और बौद्ध-धर्म खड़े हुए। जैन-धर्म या बौद्ध-धर्म के उत्थान का प्रमुख कारण के उत्थान का प्रमुख कारण हिन्दू-संस्कृति के प्रति प्रतिक्रिया ही थी। यज्ञ, कर्मकांड और ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया के विरोध में जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म का उद्‌भव हुआ। वेदकालीन मनुष्य प्रश्नों के चंगुल में नहीं पड़ा था परन्तु उपनिषदों ने आदमी को सवाल करने के लिए खड़ा किया और मनुष्य इस बारे में सोचने लगा कि "मनुष्य और उसकी मुक्ति के बीच ब्राह्मण का आना सचमुच ठीक नहीं है।" अतः जनसामान्य के मन में परम्परागत स्थिति के विरोध में विद्रोह की भावना निर्माण होने लगी थी। लोग यह भी देख रहे थे कि धर्म को साधन बनाकर पुरोहितों का वर्ग अपने सुखों की वृद्धि कर रहा था और जनता पर रौब भी जमा रहा था। यज्ञों में दी जानेवाली पशु बलि भी लोगों को ठीक नहीं लग रही थी और लोगों पर ये बातें थोपीं जा रही थी कि सुखी-संपन्न-जीवन के लिए, विजयी बनने के लिए, और तो और मृत्यु के पश्चात स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञ करना ज़रूरी है। जनता इन बातों से छुटकारा पाना चाहती थी और जैन-दर्शन तथा बौद्ध दर्शन से लोगों को छुटकारा पाने का आधार मिल गया और जनता अति तीव्र गति से इन दर्शनों की ओर अग्रसर हुई। सत्य, 'अहिंसा परमोधर्म',

---

[1] कृष्णदत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिंतन, आजकल, अंक-9, पृ. 24-25

सर्वधर्म समभाव, समानता, सहिष्णुता आदि तत्वों को लेकर चल रही इन विचारधाराओं ने जनमानस को अपनी ओर आकर्षित किया। देश में विविध मत-मतांतरों के झकोरे चल रहे थे और इससे वेचैन था। ऐसी हालत में जनता ऐसा धर्म चाह रही थी, जो सुबोध एवं सरल हो। जिसमें पशुबलि, कर्मकांड और आडम्बर न हो। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के रूप में जनता की इच्छा पूरी हुई। ये दोनों धर्म तथा मतवाद विदेशी नहीं थे। वे हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति से ही उपजे थे। उनका लक्ष्य हिन्दू धर्म तथा हिन्दू धर्म का सुधार था। दिनकर का यहाँ तक कहना है कि यह कोई नया धर्म नहीं है हिन्दुत्व का ही संशोधित रूप है। असल में अपनी कुरीतियों से लड़ने के लिए हिन्दुत्व ने ही बौद्ध धर्म का रूप लिया था। इस प्रकार हिन्दू धर्म में प्रस्थापित ब्राह्मणवाद, ब्राह्मणों विशेषाधिकार यज्ञ-प्रथा, यज्ञों में दी जाने वाली बलि, कुरीतियाँ, कुप्रथाएँ आदि के विरोध में जैन-धर्म और बौद्ध धर्म की जड़ें फैलती रहीं।

दिनकर जी ने इस अध्याय में यह भी स्पष्ठ किया है कि, जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य कुछ वर्षों तक तेज़ी से चलता रहा। यह धर्म हिन्दुस्तान के बाहर गया परन्तु धीरे-धीरे उसका प्रभाव कम होता गया। बौद्ध-धर्म के संघों में पहले जैसी स्थिति नहीं रही। उनके काल में ही संघों में स्त्रियों को दीक्षित किया जाने लगा। जंत्र-तंत्र-मंत्र, जारण-तारण, भोगवाद और मद्यप्रशासन की प्रवृत्ति योगी और कपालिकों में बढ़ती गयी। क्रांति की गंगा में शैवाल आ गया और धीरे-धीरे उस धर्म की गति जन-रुची के अनुसार बदलती गयी और उपनिषदों की ऊँचाई से टक्कर लेने वाला बौद्ध-धर्म अंततः गिरकर निम्न कोटि में आ गया। बौद्ध-धर्म के कारण भारत के उपनिवेश बढ़ते गये। बालि-द्वीप, जावा, सुमात्रा, कंबोज, बरोनियों, हिंदचीन तक भारत की संस्कृति फैल गयी। हिन्दुस्तान का बाहरी दुनिया के साथ संपर्क हुआ। जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म की क्रांति ने परम्परागत हिन्दू-संस्कृति को झकझोर डाला।

इस अध्याय में ‘‘प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह के कारणों की खोज है। इस विद्रोह को तार्किक आधार देने के लिए ही प्रकरण एक में बुद्धत्व से पहले का हिन्दुत्व प्रस्तुत किया

गया है। वैदिक वाङ्मय, वेदांत, उपनिषद्, वेदों और उपनिषदों की विचारधारा, बहुदेववाद, उपनिषदों की विशेषताएँ, मंत्र-ब्राह्मण और उपनिषद् युग, उपनिषदों का प्रभाव तथा बौद्धिक कोलाहल के अन्य प्रमाण-सभी की आंतरिक यात्रा की है। साथ ही पाया है कि "हिन्दुत्व का स्वभाव है कि वह जितना ही परिवर्तित होता है उतना ही अपने मूलस्वरूप के अधिक समीप पहुँच जाता है।"[1] पाशर्वनाथ और वर्धमान महावीर ने हिन्दुत्व में सुधार किए-चुपचाप वे सुधार हुए, लेकिन बहुत-कुछ वैसा ही सुधार महात्मा बुद्ध ने उनके शिष्यों ने यथेष्ट कोलाहल के साथ किया ओर हिंदू-धर्म परिवर्तन भी हुआ। वैदिक आर्यों का यज्ञवाद, इंद्र-वरुण, अग्नि-उषा के साथ जुड़ा श्रद्धावाद आज भी समाज मेम विद्यमान है। मिश्र, बेबिलोन और यूनान की प्राचीन सभ्यताएँ काल ने ध्वस्त कीं। "केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है।"[2] दिनकर के इन विचारों पर अज्ञेय, निर्मल वर्मा और गोविंद चंद्र पांडेय ने अपनी सहमति व्यक्त की है। बड़ा अन्तर इधर परलोक भय, पुनर्जन्म, आत्मा, कर्मवाद, को लेकर पड़ा है। बड़ा अन्तर इधर परलोक भय, पुनर्जन्म, आत्मा और कर्मवाद को लेकर पड़ा है। इस चिंतन का विकास उपनिषद् काल में हुआ। वेदों में भय नहीं, आनंद व्याप्त है। आज वैदिक धर्म का पुराना आख्यान वेद और नवीन आख्यान उपनिषद् है। ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकांड के ग्रंथ हैं और नीरस हैं। इसी युग में यास्क ने निरुक्त लिखा था। ब्राह्मणों के विरुद्ध एक नया चिंतन आख्यानक ग्रन्थ लेकर आए। फिर वेदों को पाठ-भेद की गायन उच्चारण की विकृतियों से बचाने के लिए वेदांग निर्मित किए गये। शिक्षा, छंद, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष तथा कल्पसूत्र वेदांग के साथ उपनिषदों का स्थान आता है। उपनिषदों की रचना

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 101

2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 101

बुद्ध से पहले और बुद्ध के बाद निरंतर होती रही। अकबर के काल में 'अल्लोपनिषद्' लिखा गया।

उपनिषदों की संख्या 108 है और इनमें प्रमुख उपनिषदों का भाष्य शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने किया है। हमारी परम्परा किसी भी वस्तु के इतिहास को खोजती है तो उसके मूल, उत्स, जड़ और बीज की खोज वेदों से ज़रूर करती है। यूरोपीय लोगों ने वेदों को गड़रियों का गान कहकर ठुकराया। लेकिन हम आज भी वेदों की महिमा भूले नहीं है। उपनिषदों के भीतर से ही शंकर, मध्व और रामानुजाचार्य के मतों का प्रादुर्भाव हुआ। शंकराचार्य के गुरु गोविंदाचार्य ने अद्वैत प्रतिपादक(गीत-उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र) प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखे। भारत का ऋत सिद्धान्त वेदों, उपनिषदों की परम्परा का उज्जवल मंत्र रहा है। जन्मातरवाद और कर्मवाद के उपनिषद् दर्शन ने जैन, बौद्ध चिन्तन में स्थान पाया। उपनिषदों ने ही घोषणा की जाबाला-सत्यकाम कथा के माध्यम से कि ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेद व्यर्थ है; मनुष्य शील से महान बनता है।

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय वैरागियों, सन्यासियों की भरमार हो गई। योगमार्ग बढ़ा और गौतम छह वर्ष तक योग करते रहे तथा इष्टोपलब्धि नहीं हुई। बुद्ध के समय में श्रमणों की ६३ संस्थाएँ मौजूद थीं-जिनमें छह प्रधान संस्थाएँ थीं। सभी तरह के सन्यासी हिंसापूर्ण यज्ञ से विरत होकर वैरागी हुए थे। जैन-धर्म ने विचार किया कि मनुष्य और मुक्ति के बीच ब्राह्मण का आना ठीक नहीं है। श्रमणों ने यज्ञ के अनुपयोगी माना। जो श्रमण ब्राह्मण संस्कृति के भीतर रहे वे वैखानस कहलाए। ज़्यादातर श्रमण आस्तिक थे। उनके साथ लोकायती परम्परा भी चली जो मानते थे कि मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है। वेदों को न मानने वाली नास्तिकता की परम्परा ने भी ज़ोर पकड़ा। अहिंसा की परम्परा ने मानव मनोभूमी में क्रांति कर दी। जैन दर्शन के प्रमुख-प्रमेय-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानते थे कि पदार्थों का रूपांतर की प्रक्रिया सनातन है और मोक्ष या कैवल्य के सात सोपान है। अहिंसा को सर्वोपरि मानते हुए जैन-धर्म ने

अनेकांतवाद का समर्थन किया। 'यह बौद्धिक अहिंसा ही है-दर्शन का अनेकांतवाद है'[1] अनेकांत चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया 'स्यादवाद' कहलाई।

बौद्धधर्म प्रकरण तीन में दिनकर ने बड़ा भारी अनुसंधान कार्य किया और अनेक विद्वानों के मत प्रस्तुत करते हुए अपने विचार रखे हैं। बौद्ध धर्म ने यज्ञ के हिंसावाद, पुरोहितवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध किया। बुद्ध ने वैदिक धर्म के मूल पर प्रहार करते हुए अपने विचार रखे हैं। बौद्ध धर्म ने यज्ञ के हिंसावाद, पुरोहितवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध किया। बुद्ध ने वैदिक धर्म के मूल पर प्रहार नहीं किया, उसकी कुरीतियों पर चोट की। फलतः बुद्ध की गिनती हिन्दू धर्म में दशावतार में की है। वे 'धर्म संस्थापनार्थ' ही राम और कृष्ण की तरह आए। इसलिए दिनकर की निगाह में बुद्ध भंजक नहीं है, सुधारक हैं। बुद्ध ने संस्कृति को छोड़कर जनता की बोली(पालि) में अपने विचार आगे बढ़ाए। बौद्ध धर्म के चार सत्य और आष्टांगिक मार्ग ध्यान और समाधि की और प्रवृत हुए। इस तरह बुद्ध-धर्म आचरण का धर्म है। मूलतः बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का बौद्धीकरण है। वह ईश्वर-यज्ञ के चक्कर से छूटकर 'अप्पदिपो भव' का सिद्धान्त है। बुद्ध का पूर्वजन्म में अपने को राम कहना हिन्दुत्व को पा गया है और बुद्ध ने मोक्ष के स्थान पर निर्वाण को सुविधा से स्थापित कर दिया। महायान की उत्पत्ति, नागार्जुन का शून्यवाद, शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने का संदर्भ, वैदिक मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, निवृत्ति का प्रचार, आचार पर प्रभाव, जाति-प्रथा को चुनौती, सांस्कृतिक उपनिवेशों की स्थापना, श्रीमद्भगवतगीता पर वेद-उपनिषद् बौद्ध चिन्तन का प्रभाव, मौर्योत्तर हिन्दू-नवजागरण प्राचीन भारत और ब्राह्म विश्व जैसे प्रकरण अपने 'डिस्कोर्स' या भाष्य में बड़े प्रभावी हैं। यह स्थापना कि बौद्ध मत के प्रभावों से ईसाई धर्म का-ईसाईयत का उदय हुआ। बौद्ध जातकों और ईसाई ग्रन्थों की बहुत-सी कथाएँ एक-सी हैं। ईसाई धर्म-ग्रन्थों पर बौद्ध जातकों का प्रभाव बहुत गहरा है। अरबी सभ्यता का प्रधान केन्द्र था बगदाद। बगदाद से भारत का व्यापारिक नाता था। इस

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 135

नगर को मंगोलों ने 1258 में नष्ट किया। मगर जब तक यह नगर कायम रहा, भारत का ज्ञान सारे यूरोप में पहुँचता रहा। स्वयं अरबों के पास अपनी सांस्कृतिक संपदा कम न थी। हाँ, उन्होंने भारत-यूनान से लिया और ज्ञान को संसार भर में पहुँचाया। चरक-संहिता का अरबी अनुवाद हुआ और अरबी से यह ज्ञान लेटिन में पहुँचा। गणित, ज्योतिष, कथाएँ(जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश) तथा विज्ञान भारत से अरब यूरोप गया।

दिनकर ने 'बृहत्तर भारत से सम्बन्ध' के अंतर्गत कहा है कि बर्मा और श्याम से दक्षिण और पूर्व की ओर जो भू-भाग हैं और अनेक द्वीप हैं उन्हीं का नाम बृहत्तर भारत है। भारतीय संस्कृति का क्षेत्र है हिंद-चीन और इंडोनेशिया। दिनकर ने बाली द्वीप, पवदीप, सुमात्रा, बोर्नियो, हिंद-चीन, चीन के साथ सम्बन्ध, बुद्ध और कन्फूशियश, बर्मा और श्याम तथा जापान में बौद्ध मत की अनुसंधानपरक चर्चा की है। यह बड़ा कार्य है जिस पर हमारा ध्यान कम गया है। बौद्ध-साधना पर शाक्त प्रभाव पड़ा तो दिनकर ने उसे 'क्रांति की गंगा में शैवाल' नाम दिया। शाक्त धर्म के भीतर से मंत्रयान, सहजयान, कामयोग, वैष्णव सहजिया संप्रदाय ने पूरे देश को भीतर तक हिला दिया। इसलिए बौद्ध आंदोलन के सामाजिक प्रसंग तथा बौद्ध धर्म का लोप आज भी बौद्धिकों के चर्चा के विषय हैं।"[1]

'संस्कृति के चार अध्याय' का तीसरा अध्याय 'हिन्दू-संस्कृति और इस्लाम' शीर्षक का है। 180 पृष्ठों के इस अध्याय में दिनकर ने इस्लाम के उदय की, इस्लाम के तत्त्वों की, सिद्धान्तों की और उनके प्रचार एवं प्रसार के तंत्र की चर्चा है। यह कालखंड सातवीं सदी के पश्चात् का है। मुस्लिम धर्म को जन्म लिए 80 साल भी नहीं हुए थे कि उसने भारत की सीमा पर अपना झंडा गाड़ा था। इसका अर्थ स्पष्ट है कि इस धर्म की जड़ें अभी पक्की एवं मज़बूत भी नहीं हुई थी कि उसने विश्व में पाँव पसारने शुरू किये थे और उनके फैलने की गति भी अधिक तीव्र थी। वे तलवार की धाक पर अपना विस्तार कर रहे थे और उन्हें इसमें सफलता भी मिली। हिन्दुस्तान में जब इनका आक्रमण हुआ तब यहाँ

---

[1] कृष्णदत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिंतन, आजकल, अंक-9, पृ. 25-26

की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थिति डाँवाँडोल थी। आक्रमण का सामना करने की किसी की मानसिकता नहीं थी। दिनकर ने लिखा है कि मुसलमान तलवार के जोग से नहीं बढ़े, भारतवासियों ने उनका सामना नहीं किया। इस वक्त केन्द्रीय सत्ता का ह्रास हुआ था। छोटे-छोटे राज्यों में संकुचित राष्ट्रीयता की भावना थी। वे परस्पर द्वेष और ईर्ष्या की भावना में जी रहे थे। सामान्य प्रजा के मन में राजसत्ता और धर्मसत्ता के प्रति आक्रोश की भावना थी। वर्णव्यवस्था और जाति-प्रथा के कड़े प्रचलन से लोगों को इस्लाम ने आकर्षित किया। इस्लाम का अमीर से अमीर मुसलमान भी उनके धर्म में दीक्षित होने वाले को अपना धर्मबन्धु मानता था।

इस्लाम धर्म के शासकों ने इस देश में लगभग 600 वर्षों तक शासन किया। राजसत्ता के बल पर उनके धर्म और संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार इस देश में अधिक मात्रा में हुआ। इस्लाम धर्म के अनुयायियों में भी मुहम्मद गज़नी और मुहम्मद गौरी जैसे अनुयायी ऐसे निकले कि उन्होंने हिन्दुस्तान को लूटना और आनन्द मनाना अपना उद्देश्य रखा। हज़रत मुहम्मद, अबुबक्र, उमर, उसमान और अली इन्होंने जिस इस्लाम का प्रवर्तन और प्रचलन किया था उसे गज़नी, गोरी, औरंगज़ेब जैसे शासकों ने नहीं रखा। उनकी नृशंस एवं अत्याचारी प्रवृत्ति के कारण इस्लाम की पवित्रता नष्ट होती रही। इस्लाम के शासन काल में अकबर जैसा शासक भी हुआ। जिसने इस्लाम की पवित्रता को बढ़ाने के साथ-साथ हिन्दु-मुस्लिम एकता की दृष्टि से कदम उठाये थे। दिनकर ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि शाहजहाँ के पश्चात् यदि दारा शिकोह गद्दी पर बैठा होता तो हिन्दुस्तान का चित्र ही अलग बन जाता परन्तु हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य उसके पीछे लगा हुआ था।

इस अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि अब तक हिन्दू संस्कृति के विरोध में जो मतप्रवाह निर्माण हुए थे, वे धीरे-धीरे हिन्दू संस्कृति में ही लीन होते रहे परन्तु इस्लाम संस्कृति को हिन्दू संस्कृति लील नहीं सकी। इसका कारण वह संस्कृति विदेशी थी और हिन्दू-संस्कृति के एकदम विरोधी थी। उसी तरह हिन्दुस्तान में वे सत्ताधीश के रूप में रहे

थे। इतने वर्षों के सान्निध्य और संपर्क दो संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान की, समन्वय की स्थिति बनी रही। शादी-विवाह, तीज-त्योहार, खान-पान, कला, भाषा, साहित्य आदि में परस्पर लेन-देन होती रही। अकबर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया। जोधाबाई के साथ उसका विवाह इसी का प्रमाण है। सूफ़ी संत इस्लाम मतवाद का प्रसार करते रहे। सूर, तुलसी जैसे कवि हिन्दुत्व को उजागर करते रहे तो कबीरपंथी दो धर्मों के बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश करते रहे।

ज़ाहिर सी बात है कि इस अध्याय में हिन्दू संस्कृति और इस्लाम के मेल से उत्पन्न सामासिक-संस्कृति पर विशद विवेचन किया गया है। "हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न की भूमिका को विस्तार और गहराई से विश्लेषित करने के लिए दिनकर ने चर्चा को बारह प्रकरणों में फैलाकर समेटने का प्रयास किया है। दिनकर ने मानवेंद्र राय की द 'हिस्टॉरिकल रोल ऑफ इस्लाम' के हवाले से बात शुरू की है कि संसार की कोई भी सभ्य जाति इस्लाम को उतनी घृणा से नहीं देखती जितनी घृणा से हिन्दू देखते हैं। हमारे राष्ट्रीय संस्कार में आध्यात्मिक साम्राज्यवादिता है। दिनकर का मत है कि मुसलमानों के भयानक अत्याचारों के कारण हिन्दुओं के मन में घृणा उत्पन्न हुई है।"[1] ऐसे भी बहुत से मुसलमान हैं जो मानते हैं कि मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत की संस्कृति की बहुत ऊँची नहीं थी। "उनका ख़्याल है कि हिन्दुओं को खाने-पीने और पोशाक पहनने की शिक्षा मुसलमानों से मिली है।"[2] इस भावना का आधार है-हिन्दू जब मुसलमानों के ग़ुलाम हो गए तो उनकी सांस्कृतिक गरिमा का ह्रास हुआ। मुस्लिम पंडित और विद्वान फ़ारसी भाषा में सीमित हो गए और इस्लाम को ही अपना ब्रह्मांड मान लिया। उन्हीं संकीर्णता के दिनों में उर्दू कविता का उद्‌भव न विकास हुआ और प्रेरणास्रोत अरब-ईरान रहा। दिनकर का मन भारतीय ज्ञान-संस्कृति से अभिभूत है-जिसे मुसलमान विद्वान मानने को तैयार नहीं हैं। इस्लाम के

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 261

2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 262

अत्याचार दिनकर भूलते नहीं हैं-वे उसकी खुलकर चर्चा करते हैं। इसलिए भारत के छद्म वामपंथी दिनकर से नाराज़ रहे हैं और वे दिनकर की दृष्टि को प्रतिक्रियावादी कहकर कोसते रहे हैं। दिनकर ने साफ़ कहा है- "जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, हमारा ख़्याल है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा देने के लिए इतिहास की घटनाओं पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। न ही योग्य है कि हम इस्लाम पर पड़ने वाले हिन्दू प्रभाव अथवा हिन्दुत्व पर पड़ने वाले मुस्लिम प्रभाव को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करें।"[1] दिनकर ने यहाँ यह ध्यान दिलाना भी ज़रूरी समझा कि जिन लोगों ने भारत पर अत्याचार किए, वे इस्लाम के प्रतिनिधि नहीं थे। आज वे परिस्थितियों नहीं हैं, दोनों संस्कृतियों में मेलजोल बढ़ना चाहिए। अब इस्लाम का प्रचार तलवार क़ुरान से नहीं हो रहा है। दिनकर ने इस्लाम से भारत के संपर्क का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है और महमूद गज़नी और मुहम्मद गोरी के आक्रमणों से उत्पन्न प्रभाव की चर्चा की है। गज़नी तुर्क या हूण था और गोरी पठान। लेकिन भारत में मोगल वंश की नींव बाबर ने डाली जिसे मंगोल जाति का माना जाता है। मंगोल चंगेज़ और हलाकू ने नगर उजाड़े और पुस्तकालय जला डाले। चंगेज़ ने ही युद्ध में सबसे पहले बारूद का प्रयोग करके युद्ध कला को बदला। तैमूर लंग(1369) माँ की ओर से चंगेज़ के वंश का था और बाबर उसी वंश की संतान। वहाँ तैमरी रेनासाँ तैमूरी सांस्कृतिक नवजागरण चला, जिसका प्रभाव पड़ा। भारत में मुगल वंश ने सांस्कृतिक नवजागरण को पुख़्ता किया। यह अलग बात है कि यूरोप से मुसलमानों को खदेड़ने के लिए यूरोपीय जातियों ने संघबद्ध होकर मुसलमानों के ख़िलाफ़ धर्मयुद्ध(क्रुसेड) की घोषणा कर दी। भारत में इस्लाम अपने प्रगतिशील रूप में नहीं आया-उसमें उमर अबूबक्र का तेज़ न था। प्रो. हुमायूँ कबीर ने 'आवर हेरिटेज' में कहा है कि जो लोग भार आयें वे इस्लाम के भीतरी तत्त्व नहीं समझते थे, केवल बाहरी बातें जानते थे। भारत में गज़नी और गोरी के वंशजों ने ऐसा किया कि वर्तमान राजपूतों के अनेक कुलहूणों और गुर्जरों से प्रादर्भूत

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 265

हुए हैं। गुर्जरों ने भार में एक विशिष्ट सम्राट(गुर्जर प्रतिहार) की नींव डाली। स्वयं तैमूर लंग भारत को लूटने के लिए बेक़रार रहा है और उसने लूटा भी। इस तरह इस्लाम(शांति धर्म) भारत आया-जिसका जन्म हज़रत मुहम्मद ने अरब देश के मक्का शहर में (570 ई.) किया था। यह इस्लाम धर्म भारत आया क़ुरान और एकेश्वरवाद को लेकर। इनके साथ अलगज़ाली और उमर खैय्याम आए। सूफ़ी साधक आए उनका तसव्वुफ़ आया। अरब वालों ने दर्शन के लिए फ़लसफा शब्द चलाया और कहा कि दर्शन की शिक्षा उन्होंने यूनान से ली। यूनान ने अरब को वही ज्ञान दिया जो भारत से गया था। प्लाटीनस ने प्लेटो के दर्शन की व्याख्या करते हुए नव-अफ़लातूनी मत चलाया। सूफ़ीमत में जो आवेश है उसके बीज अभिनव अफ़लातूनी मत में विद्यमान थे। बड़ी दिलचस्पी से दिनकर ने सूफ़ीवाद की महावैचारिक भूमि प्रस्तुत की है। फिर मुस्लिम आक्रमण और हिन्दू-मुसलमान सम्बन्ध का निर्धारण किया। अमीर खुसरों की भारत-भक्ति, सूफ़ी-प्रेम-दर्शन, 'संतो राह दोरुहम दीठा' पर ध्यान देकर दिनकर ने भारत में नए आंदोलन का नेता कबीरदास को मान है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की कड़ी-कबीर, अकबर और गांधी कहलाई है। तसव्वुफ़ का भारतीय करण हुआ तो उसमें वेदांत और योग का प्रवेश हुआ। इस परम्परा के शिरोमणि कवि मलिक मुहम्मद जायसी हुए जो शेरशाह के समकालीन थे, पूरे देश में असांप्रदायिक परिवेश निर्मित हुआ-रामायण, महाभारत, अथर्ववेद, योग वशिष्ठ के फ़ारसी अनुवाद कि गए। अकबर ने कला और साहित्य में साम्प्रदायिकता का प्रवेश नहीं होने दिया। नरहरि, गंगा, मनोहर मिश्र, बीरबल, मानसिंह को अकबर ने सम्मान दिया। मुबारक ने अच्छा काव्य सृजन किया। इसी माहौल में तुलसीदास जन्में और सृजन क्रांति कर डाली। उनके लेखन में कहीं मुस्लिम आक्रोश के संकेत नहीं हैं।

इस्लाम का हिन्दुत्व पर रचनात्मक प्रभाव पड़ा। लेकिन हिन्दु दर्शन इस्लाम से प्रभावित नहीं हुआ। इसलिए यह प्रचार ग़लत है कि शंकर का अद्वैत इस्लाम से निकला था या हिन्दुओं का भक्ति आंदोलन इस्लाम की देन है। डॉ. आबिद हुसेन की पुस्तक भारत

की 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' का दिनकर के मन में बड़ा सम्मान है। इस सम्मान का कारण है-हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि को बढ़ावा देना। जब कि हुसेन इस्लामी संस्कृति को ही चमकाते रहे। 'इसी प्रकार तुलसीदास और कबीर दोनों को रामानंद का शिष्य बताकर उन्होंने उन्हें समकालीन बना दिया जो बिल्कुल ग़लत बात है। कबीर की मृत्यु 1518 ई. में हुई, तुलसी 1532 में जनमें थे।"[1] दिनकर ने भक्ति की परम्परा को आलवारों से जोड़ते हुए प्राग्वैदिक माना है। अतः भक्ति धारा का दक्षिण-उत्तर प्रवाह अपनी विशाल परम्परा में विराट सांस्कृतिक आंदोलन है। इसी तरह शंकराचार्य इस्लाम के अनुयायी न जोकर वेद-उपनिषद् के नव भाष्यकार हैं। डॉ. ताराचंद ने इतिहास में इस्लामी प्रभाव को लेकर जो भ्रम फैलाए थे, दिनकर उनका ज़ोरदार शब्दों में प्रतिवाद करते हैं। यह कहना ठीक नहीं है कि भक्ति भारत में इस्लाम की देन है-या ईसाइयों की देन है। दक्षिण के आलवार संतो ने भक्ति-परम्परा को उस समय शुरू किया जब इस्लाम जन्मा तक नहीं था। भक्ति तो वेद, पुराण, गीता, महाभारत और रामानुजाचार्य से ताक़त पाती रही है। दक्षिण में आलवार नायनार संत विष्णु-शिव के अराधक हैं और दलित जातियों से आए हें। आलवार-नायनार की जातिवाद विरोधी परम्परा को रामानंद, वल्लभाचार्य ने जनता में फैलाया। रामानन्द तो पूरे भक्ति आंदोलन के मेरुदंड रहे और हनुमान पूजा के प्रवर्तक-अराधक आचार्य। भागवत की यह उक्ति सही है कि उक्ति सही है कि भक्ति द्राविड़ उपजी और उसे रामानंद उत्तर भारत में लाए।

दिनकर ने वीर-शैव और इस्लाम, भौगोलिक एकता और मुक्त चिन्तन, भक्ति आंदोलन और इस्लाम, भक्ति की प्राचीनता, गीता का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए अतिरंजनावादी भ्रान्तियों का खंडन किया है। आलवार संत तथा रामानुजाचार्य की देन से गद्गद। रामानंद और शैवाचार्यों के प्रति कृतज्ञ हैं। वे अमृत और हलाहल का संघर्ष, सिक्ख-धर्म, और नानक, कला और शिल्प पर इस्लाम का प्रभाव, कला की भारतीय

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 269

परम्परा, मुस्लिम आगमन के बाद भारतीय कलाम मुगल शैली, राजस्थानी शैली, पहाड़ी कलम हिन्दू और मुस्लिम कलाओं की विशेषताएँ, राजपूत और मुगल कलमों में भेद, रीतिकाव्य और राजपूत कलम, स्थापत्य और वास्तुकला पर प्रभाव, विश्वकर्मा और जौहरी का मिलन, साहित्य और भाषा पर प्रभाव, उर्दू का जन्म, खड़ी बोली में साहित्य रचना तथा उर्दू-हिन्दी गद्य पर साहित्य और इतिहास की दृष्टि से विचार करते हुए 'सामासिक संस्कृति के कुछ और रूप' शीर्षक से बारहवाँ संस्करण लिखा है। दिनकर की विशेषता है कि वे विवेचन में साहित्य और इतिहास दोनों को अनुसंधान की दृष्टि से 'इंटप्रेट' करते हैं और तथ्यों को 'पाठ' को विनिर्मित बनाकर उनको 'डिकंस्ट्रक्ट' करते हैं। कहना न होगा कि 'पाठ' को विनिर्मित करने में डिस्कोर्स की ओर बढ़ते हैं और नए भाष्य की निष्पत्ति करते हैं। रचनाकार दिनकर अपनी सर्जनात्मक दृष्टि से इक नई अर्थ-मिमांसा रचते हैं। यह कार्य भारत की खोज लिखने वाले जवाहरलाल नेहरू नहीं कर पाते हैं, न आबिद हुसेन। जबकि संस्कृति के चार अध्याय की 'भूमिका' प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरु लिखते हैं और 'प्रस्तावना' में इतिहास के सातत्य-सिद्धांत और परिवर्तन सिद्धान्त और परिवर्तन सिद्धान्त के मर्म को जानते हैं। नेहरु जी ने भारतीय जनता की चर्चा करते हुए कहा है कि "मेरा विचार है कि दिनकर की पुस्तक दिनकर की पुस्तक इन बातों को समझने में एक हद तक सहायक होगी। इसलिए मैं इसकी सराहना कहता हूँ।"[1] यह सराहना इसलिए की है कि दिनकर भावुकता से मुक्त होकर पूरी विवेक-व्यस्कता या 'विज़डम' से व्याख्या विमर्श करते हैं। क्या करें कुछ वामपंथी दिनकर को हिंदुत्ववादी कहकर खारिज कर देते हैं।

'संस्कृति के चार अध्याय' का चौथा अध्याय 'भारतीय संस्कृति और यूरोप' शीर्षक है। इस अध्याय को 256 पृष्ठों के अंतर्गत विवेचित किया गया है। इस्लाम के आगमन के

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, प्रस्तावना से, पृ. 12

पश्चात् हिन्दुस्तान में दो परस्पर विरोधी संस्कृतियों में कभी संधर्ष की, तो कभी लेन-देन की स्थिति निर्माण होती रही। दिनकर ने इस अध्याय में यह स्पष्ट किया है कि विदेशियों के लिए पहले से आकर्षण का केन्द्र रहे हिन्दुस्तान में यूरोपवासी भी आए। यूरोप से भारत में आनेवालों में प्रथम पुर्तगाली रहे। इसके पश्चात डल, फ्रेंच और अंग्रेज़ इस देश में आ गये। व्यापार का उद्देश्य से इस भूमि पर पाँव रखनेवाले इन यूरोपीय लोगों को जब यह महसूस हुआ कि यहाँ के सत्ताधीश आपसी कलह, परस्पर द्वेष और ईर्ष्या की भावना में जी रहे हैं और सामान्य लोगों में विशाल राष्ट्रीयता की भावना नहीं हैं, तब उन्होंने अपने दूसरे हाथ में तलवार ली। व्यापार के बहाने उन्होंने पहले से अपने पाँव पसारे थे। जब उन्होंने कूटनीति से अपने पाँव मज़बूत किये। समंदर पर पुर्तगालियों की सत्ता बनी रही और ज़मीन पर अंग्रेज़ सत्ताधीश बन बैठे। लगभग 111 लडाइयाँ लड़कर 100 वर्षों के पश्चात् उन्होंने भारत को अधीन कर लिया। सन् 1857 में अंग्रेज़ी-सत्ता के विरुद्ध क्रांति की ज्वाला भड़क उठी परन्तु क्रांतिकारियों को सफलता नहीं मिली। 1947 तक अंग्रेज़ राज करते रहे।

यूरोप से भारत में आये पुर्तगाल, डच, फ्रेंच और अंग्रेज़ों के साथ इनका ईसाई-धर्म भी इस देश में आ गया था। पुर्तगाली मिशन, इटली वाले मशिनरी और डेनमार्क की मिशनरी 16वीं शती से अपने धर्म प्रसार में लगे थे। अब तक हिन्दुस्तान की जनता के अनेक धर्मों को और अनेक संस्कृतियों को झेला था। अब तक हिन्दुस्तानी जनता ने अनेक धर्मों को और अनेक संस्कृतियों को झेला था। अब हिन्दुस्तानी जनता किसी नये आकर्षण की ओर झुकना नहीं चाहती थी। ईसाई धर्मप्रचारकों को हिन्दुस्तानी जनता की ओर से अधिक प्रतिवाद नहीं मिला। ईसाई मिशनरियों ने इस उद्देश्य से शिक्षा के माध्यम को भी अपनाया और उन्होंने स्कूल, कॉलेजों की शुरुआत की। विश्वविद्यालयों की भी स्थापना की, मदरसे खोले इसका एक अच्छा परिणाम हुआ कि शिक्षा के द्वार सभी के लिए खुले और लोग पढ़ने-लिखने लगे, सोचने और विचार करने लगे। लोग पढ़-लिखकर अंग्रेज़ी

शासन के विरुद्ध ही खड़े होने लगे। इस दरम्यान अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध ही खड़े होने लगे। इस दरम्यान अंग्रेज़ी भाषा का फैलाव होता रहा।

भारत में यूरोपीय संस्कृति भी कुछ मात्रा में पनपी और विकसित हुई है। दिनकर यह भी स्पष्ट करना चाहते हैं कि यूरोपीय संस्कृति के आगमन के कारण प्रतिक्रिया के रूप में यहाँ अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का प्रारंभ हुआ। राजाराममोहन राय ने ब्रह्म समाज की, स्वामी दयानंद ने आर्य समाज की, न्यायमूर्ति रानाडे ने महाराष्ट्र समाज की, ऐनी बेसेंट ने थियोसाफ़िकल सोसायटी की स्थापना की। महर्षि अरविंद, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, तिलक, गाँधी आदि समाज सुधारकों की ओर से हिन्दु-संस्कृति में प्रचलित अज्ञान, अंधविश्वास, रूढ़ि परम्परा, जातिभेद आदि कुप्रथाओं का खुलकर विरोध हुआ। हिन्दू-संस्कृति को परिमार्जित करके नये रूप में दुनिया के सामने रखने की कोशिश हुई। स्वामी विवेकानंद ने तो अपनी संस्कृति की ध्वजा दुनिया तक फ़हराई।

भारतीय संस्कृति और यूरोप पर केन्द्रित उनका चतुर्थ अध्याय पुनः इस बात की पुष्टि करता है कि अपार श्रम से तथ्यों का संग्रहण हुआ है। "भारत में यूरोप का आगमन स्पष्ट करने के लिए पुर्तगाल, हालैंड का आगमन, पुर्तगाल का सांस्कृतिक प्रभाव, फ्रांस का आगमन, अंग्रेज़ों का आगमन, ईसाईयत के प्रचार तथा बनियाराज के शीर्षक देकर कहा कि अंग्रेज़ राजा नहीं, व्यापारी थे। वे राजधानी कलकत्ता से उठाकर दिल्ली ले आए और लूटतंत्र क़ायम किया। अंग्रेज़ी राज फैलाने के लिए शिक्षा में क्रांति की तथा भारतीय शिक्षा परम्परा का टाट पलट दिया। अंग्रेज़ी का पांव फैलाना और भारतीयों को अंग्रेज़ी शिक्षा का विचार पहले-पहल चार्ल्स ग्रट के मस्तिष्क में 1792 में आया। उन्होंने कंपनी के सामने यह प्रस्ताव रखा भी पर गंभीरता से उस पर कंपनी के सदस्यों ने विचार नहीं किया। पर ईसाई धर्म प्रचारक चुप नहीं बैठे। इन धर्म प्रचारकों ने सिरामपुर में छापाखाना खोला और बाइबिल का अनुवाद इस देश की छब्बीस भाषाओं में करवाया। 1801 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की और कंपनी के अफ़सरों को देश-

भाषाओं की शिक्षा का मन बनाया। कलकत्ता में बिशप कॉलेज, हिन्दू कॉलेज खोले। उधर राजामोहन राय की अंग्रेज़ी शिक्षा की लगन रंग लाई। अरबी, फ़ारसी, संस्कृति की छाती पर अंग्रेज़ी को चढ़ाया गया और मैकाले के परामर्श से 1835 में लार्ड विलियम बेंटिंग ने घोषणा कर दी कि शिक्षा की ओर दौड़ पड़े। इसी दौड़ ने इस देश को अंग्रेज़ और अंग्रेज़ी का ग़ुलाम बनाया। मिशनरियों की आशा पूरी की और यह प्रयास सफल हुआ कि भारतीय मन से अंग्रेज़ जो जाएं।"[1] "ईसाई धर्म और भारतीय जनता का सम्बन्ध यह बना कि भारतीयता में कंपन शुरु हुआ और ईसाई धर्म प्रचारक हिन्दू धर्म की धज्जियाँ उड़ाने लगे। लेकिन भारत थका नहीं- 'हिन्दू नवोत्थान' या भारतीय नवजागरण उन्नीसवीं सदी से प्रारंभ हुआ। वेदांत में खमीर उठा और अरविंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद ने नया जागरण शुरू किया जिसमें गीता की ध्वनियाँ थीं। देश में ब्रह्म विद्या समाज, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, प्रवृत्ति के उत्थानी लोक मान्य तिलक, स्वर्ग का भूमीकरण महायोगी अरविंद तथा भूमि करने महात्मा गांधी का अवतरण हुआ।

दिनकर ने भारतीय सांस्कृतिक राजनीतिक नवजागरण का पूरा आधुनिक इतिहास संस्कृति के चार अध्याय में श्रम-कर्म-तप-निष्ठा से प्रस्तुत किया है।

"दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में विश्व दर्शन के प्रवर्तक सर्वपल्ली राधाकृष्णन, मुस्लिम नवोत्थान, सर मोहम्मद इक़बाल और भारतीय राष्ट्रीयता और मुसलमान पर अलग-अलग चार प्रकरणों में बहुत विस्तार से विचार किया गया। अंत में उपसंहार में कहा है कि "भारत की एकता और भारत की स्वतंत्रता एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं। अगर एकता खिड़की से होकर चली गई तो स्वतंत्रता सदर दरवाज़ा खोलकर भाग जाएगी। इसलिए सभी भारतवासियों का पहला कर्त्तव्य यह है कि वे प्राणपन से अपनी राष्ट्रीयता की रक्षा करें।"[2] हमें यह कभी नहीं भूलना होगा कि "स्वाधीनता केवल रोटी का पर्याय नहीं है। स्वाधीनता केवल कल-कारख़ाने स्थापित करने की योग्यता नहीं

---

1 कृष्णदत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिंतन, आजकल, अंक-9, पृ. 27-28

2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 631

है। स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ आत्मा की वह स्वतंत्रता मानस की वह निर्बंधता है, जिसके कारण भारत अपने को पूर्ण से अभिव्यक्त करता है।"[1]"[2]

देवी दास इंगले और कृष्ण दत्त पालीवाल के उपर्युक्त कथनों के आधार पर, जिनमें संस्कृति के चार अध्याय का लगभग एक सार छिपा हुआ है, हम कह सकते हैं कि दिनकर जी ने पाँच साल अथक परिश्रम के बाद जो पूँजी प्राप्त की वह संस्कृति की एक परिपक्व व्याख्या के रूप में उभर कर सामने आई। उनका इस बात के प्रति आग्रही होना की इस कृति पर एक मुसलसल नज़र दौड़ाई जाए"[3] इस बात को सिद्ध करता है कि वे चाहते थे कि भारत का जन-समुदाय अपनी विशाल लचीली और सबको समा, रच-पच जाने वाली महान संस्कृति से परिचित हों।

देवीदास इंगळै अन्त में लिखते हैं कि-"दिनकर इन चार अध्यायों के विवेचन के माध्यम से अन्त में इस बात को स्पष्ट करते हैं कि इतने थपेड़ों को सहन करते-करते भारतीय संस्कृति आज इस रूप में खड़ी है। दिनकर की संस्कृति की ओर देखने की दृष्टि समन्वयवादी है। भारतीय-संस्कृति की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें विविधता में एकता है। इसी विविधता में एकता को दर्शाने का कार्य उन्होंने अपनी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में किया है। उन्होंने इस कृति में यह बताया कि अनेक सांस्कृतिक आक्रमणों के पश्चात् भी भारतीय संस्कृति की आत्मा दबी नहीं है। आज वह इतनी उदात्त हो गयी है कि सारी दुनिया के लिए आदर्श बनी है। इसलिए सारी दुनिया सत्य, अहिंसा

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 632

2 कृष्णदत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिंतन, आजकल, अंक-9, पृ. 27-28

3 जिस परिश्रम से मैंने यह पुस्तक लिखी है, उस परिश्रम से मैंने और कुछ नहीं लिखा। मैंने पाठकों से यह कभी भी अनुरोध नहीं किया कि वे मेरी किसी भी कृति को पढ़ें। किन्तु, इस ग्रन्थ को एक बार देख जाने का अनुरोध मैं सबसे करता हूँ।- संस्कृति के चार अध्याय, लेखक का निवेदन, पृ. 15

और प्रेम को स्वीकार रही है। दुनिया को विश्वशांति और विश्व मानवतावाद का संदेश भारतीय-संस्कृति ही दे रही है।"[1]

इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इतिहास और साहित्य का सम्बन्ध स्पष्ट हुआ है। एक साहित्यकार अपनी रचनात्मकता को कमोबेश नियंत्रित कर सकता है, उसका त्याग उसके लिए अपरिहार्य है। दिनकर ने इस कृति में अपनी रचनात्मक कौशल द्वारा वह जीवन्ता प्रदान की है जिसके कारण यह रचना आज भी हमें बार-बार मुड़ कर देखने की माँग करती है। भाषा का प्रयोग दिनकर का लाजबाव है, इस बात पर कोई दो राय नहीं होनी चाहिए। इसका उदाहरण हमें 'संस्कृति के चार अध्याय' में चहुँओर देखने को मिल जाता है। एक सहज कर्मठ साहित्यकार के रूप में उन्होंने इतिहास को अपनी सघन अनुभूति के द्वारा नवीनता प्रदान की है। बावजूद इसके एक ऐतिहासिक कृति जिस भाषिक कसावट की माँग करती है, उसका अन्यतम उदाहरण यह कृति है। उन्होंने अपनी रचनात्मक भाषा को इस कृति के माँग के अनुसार मर्यादित किया है जो कि तनी हुई रस्सी पर नाचने के समान है। एलेन टेट के 'तनाव' और मुक्तिबोध के 'ज्ञानात्मक संवेदन' और 'संवेदनात्क ज्ञान' के मद्देनज़र उनकी भाषा इस कृति में उभर कर आई है। अतः इस कृति का ऐतिहासिक महत्त्व बना हुआ है। इसी बात को पूजा खिल्लन इस तरह व्यक्त करती हैं- "संस्कृति के चार अध्याय दिनकर का ऐसा ही ग्रन्थ है जो अनेक कोणों से भारतीय भारत की विशाल एवं समादृत संस्कृति की पड़ताल करता है। इस ग्रंथ के माध्यम से उन्होंने 'राजनीतिक' के दृष्टिकोण से 'साहित्यिक' के स्वप्न को सहेजने का सुंदर प्रयास किया है। शायद यही वजह है कि मूलतः ऐतिहासिक ग्रन्थ होते हुए भी यह रोचक एवं साहित्यिक अभिरुचि के अनुरुप तैयार किया गया है। इसके अलावा एक तथ्य यह भी है कि भारतीय संस्कृति की समस्यायों की पड़ताल करते हुए

---

[1] देवीदास इंगळे, संस्कृति के चार अध्याय में भारतीय संस्कृति, अनभै, पृ. 83

दिनकर गंभीर चिंतक एवं विचारक के मुद्रा अख़्तियार करते हैं।"[1] दिनकर ने इस कृति की रचना साहित्यिक अभिरुचि के अनुरूप इसलिए की क्योंकि उनके केन्द्र में वह जन-सामान्य था"[2] जो कि अपनी सांस्कृतिक-सौष्टव से भिज्ञ नहीं हैं, ग़रचे हैं भी तो वहाँ नीम हकीम खतरा-ए-जान बाली बात लागू हो जाती है।"[3] दिनकर कोरा इतिहास नहीं लिख रहे थे। वे सांस्कृतिक-इतिहास की रचना कर रहे थे। संस्कृति जीवंत होती है, उसकी सांस-सांस से जीवन का स्राव होता है। इतिहास के तथ्य-संकलन वाली प्रक्रिया से उन्होंने कोताही बरती और उसे अपने गहन चिन्तन और वैचारिक मन्थन तथा अपनी दृढ़ कल्पना शक्ति"[4] से एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो कि जन-सामान्य को भी भावे। इतिहास की ओर कोई इसलिए नहीं देखना चाहता क्योंकि यह मान लिया जाता है कि वह नीरस और निर्जीव होता है। यह दिनकर के अथक परिश्रम"[5] का ही परिणाम है कि यह दोष 'संस्कृति के चार अध्याय' पर नहीं लगाया जा सकता।"[6]

---

1 पूजा खिल्लन, इतिहास, दर्शन और संस्कृति का समन्वय, आजकल, अक्तूबर 2008, पृ. 111

2 यह पुस्तक विद्वानों का उच्छिष्ठ चुन कर तैयार की गयी है, किन्तु, इसे मैंने विद्वानों और विशेषज्ञों के पढ़ने के लिए नहीं लिखा है। असल में यह उनके काम की चीज है, जो खोजपूर्ण ग्रन्थों का सामना नहीं करना चाहते, जो भारतीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, किन्तु जिनके पास सैंकड़ों ग्रन्थों के व्यूह में जाने का अवकाश नहीं है तथा जो अनुसन्धान और खोज की नीरस भाषा से भी घबराते हैं। संक्षेप में, इसके मुख्या पाठक जनसाधारण होंगे, ऐसी मेरी कामना है।-संस्कृति के चार अध्याय, लेखक का निवेदन, पृ. 14

3 संसार की कोई भी सभ्य जाति इस्लाम के इतिहास उतनी अपरिचित नहीं है जितने हिन्दू हैं और संसार की कोई भी जाति इस्लाम को उतनी घृणा से नहीं देखती, जितनी घृणा से हिन्दू देखते हैं।-संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 221

4 घटनाओं के स्थूल रूप को कोई भी देख सकता है, लेकिन, उनका अर्थ वही पकड़ता है, जिसकी कल्पना सजीव हो। इसीलिए, इतिहासकार का सत्य नये अनुसन्धानों से खंडित हो जाता है, लेकिन, कल्पना से प्रस्तुत चित्र कभी खंडित नहीं होते।- संस्कृति के चार अध्याय, तृतीय संस्करण की भूमिका से, पृ. 11

5 मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि दिकर ने संस्कृति के चार अध्याय जिस तप और अनुसंधान के से पाठकों को दी है, वैसी कोई भी पुस्तक हिन्दी में नहीं है।- कृष्ण दत्त पालीवाल, एक अद्भुत सांस्कृति चिन्तन, आजकल, जनवरी 2010, पृ. 30

6 "संस्कृति के चार अध्याय अब तक 15 बार छप चुकी है। गुलशन नंदा आदि के उपन्यासों को छोड़कर हिन्दी के लेखकों को यह सौभाग्य नहीं मिलता कि उनकी किताबें 15 बार छापें। इसकी लोकप्रियता हमें आकर्षित करती है। अके तरह से यह भारतीय संस्कृति का विश्वकोष है।"-आजकल, मैनेजर पाण्डेय, पौरुष के पूंजीभूत ज्वाल, अक्तूबर'2008,पृ. 32

तय है कि दिनकर की इस कृति की प्रसिद्धि इसलिए नहीं हुई कि यह आकार-प्रकार में एक ऐसा वृहत् ग्रन्थ है, जो हमें रेडीमेड सूचना आसानी से उपलब्ध करा देती है। तथा इसकी प्रस्तावना तात्कालिक प्रधानमंत्री द्वारा लिखी गई। इसके पीछे की प्रेरणा है वह अविवेच्य देशप्रेम है,"[1] वह राष्ट्र-भक्ति है जिसके पीछे उस समय की तात्कालिक परिस्थितियों का बड़ा हाथ था।"[2] आज़ादी से पहले और बाद में जो स्थितियाँ उभर कर आईं और अध्यापक के पेशे ने उन्हें बार-बार ऐसी जगह लाकर खड़ा कर दिया जहाँ यह लाज़िमी बन पड़ा कि वे 'संस्कृति के चार अध्याय' की सृष्टि करें जिसमें अपनी संस्कृति, अपनी पहचान को लेकर उठ रही शंकाओं का समाधान पाया जा सके।

"'प्रत्यक्षदर्शी लोकानाम् सर्वदर्शी भवेन् नरः' जो लोक का प्रत्यक्षदर्शी होता है, वह सर्वदर्शी हो जाता है और प्रत्यक्ष दर्शन के बिना उसका ज्ञान पूरा नहीं होता।"[3] दिनकर ने अपने वर्तमान का प्रत्यक्षीकरण किया, तथा जीवन-पर्यन्त अर्जित तमाम मूल्यों और विचारों को भी भारतीय-संस्कृति की गंगा में तिरोहित कर दिया, इस आशा के साथ कि हमारा भविष्य सुगढ़ हो सके। सांस्कृतिक वैविध्य पर गर्व किया, और विषमता पर खेद, तथा सदैव तत्पर रहे कि बिना किसी को ठेस पहुँचाए साम्यता को बढ़ाया जाए। नेहरु ने कहा कि ऐसा करना एक आदमी के बस की बात नहीं"[4] किन्तु इस ग्रंथ को पढ़ने के उपरान्त यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि दिनकर ने इस विषय के यथासंभव न्याय किया है। उस सभी सवालों के जबाव ढूँढ़ने की कोशिश की जो हमारे ज़ेहन में उमड़ते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन "India from inside is so different from India seen superficially or

---

1 हृदय से इस देश की सभ्यता, संस्कृति, परम्परा, इतिहास से प्रेम किया। इसी प्रेम का सच्चा स्वरूप संस्कृति के चार अध्याय पुस्तक में दिखाई देता है।-कृष्ण दत्त पालीवाल, औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की ध्वनि, आजकल, अक्तूबर 2008, पृ. 15

2 स्वाधीनता आन्दोलन के प्रसंग में विकसित होने वाले मूल्य ही इस ग्रन्थ के परिप्रेक्ष्य निर्धारित करते हैं। वे मूल्य हैं उपनिवेशवाद् विरोधी दृष्टि, धर्म-निरपेक्षता और सामासिक संस्कृति की अवधारना। इन मूल्यों के इर्द-गिर्द ही यह ग्रन्थ लिखा गया है। दिनकर भारतीय संस्कृति के राष्ट्रवादी इतिहासकार हैं।-रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 84

3 नरेन्द्र शर्मा, सांस्कृतिक संक्रांति और संभावना, आजकल, अक्तूबर 2010, पृ. 19

4 संस्कृति के चार अध्याय, तृतीय संस्करण की भूमिका, पृ. 17

to understand is so different from India seen superficially or to understand India one must live India, be India, then try to estimate values, not in terms of western 'progress', western desires and ideals, but in terms of concrete results."[1] दिनकर जी के कार्य को और उपयोगी बना देता है। दिनकर जी ने भारतीय आत्मा के बीज रूप को ढूँढ़ने की कोशिश की और वह भी अपनी परिपक्व सांस्कृतिक-ऐतिहासक-परम्परा के आधार पर। इस खोज के पीछे असीम देश-भक्ति है न कि पश्चिमी मोह-माया"[2] दिनकर सच्चे अर्थों में हमारे सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप में उभर कर सामने आते हैं। हमारा दिशा-निर्देशन करते हैं। संस्कृति के चार अध्याय भारतीय जन-मानस को एक अनुपम भेंट है।"[3]

6.2.1. मत-मतान्तर :

दिनकर के जितने समर्थक थे, उतने आलोचक भी रहे। उनकी कविताओं की आलोचना हुई खासकर उर्वशी की। उर्वशी के कारण तो बहुत बड़ी खेमेबाजी ही हो गई। दिनकर का साहित्य-जगत में कुछ विद्वानों से कभी तरंग-दैरग्य नहीं मिल पाया। ज़ाहिर है, वे दिनकर के विकासशील पक्ष को न देखकर उनके सहमति-असहमति पर अपनी राय बनाये दे रहे थे। संस्कृति को विषय के रूप में रखकर जब 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसी महत्त्वपूर्ण कृति की रचना हुई तो उसके आलोचक भी पैदा हो गये। कारण फिर वहीं

---

1 के.आर. श्यामला, भारतीय धर्म और संस्कृति, पृ. 2

2 "ध्यान रखना होगा कि दिनकर का देश-प्रेम न तो पश्चिमी पागलपन का नस्लवाद है न घृणा पर केन्द्रित राष्ट्रवाद। पराधीन भारत में भारतीय जनता के शोषण और तबाही का यथार्थ है। पराधीन भारत में भारतीय जनता के शोषण और तबाही का यथार्थ है। वह अंग्रेजी औपनिवेश-साम्राज्यवाद में घुटते हुए युवक का विद्रोह है।"-कृष्ण दत्त पालीवाल, औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की ध्वनि, आजकल, अक्तूबर 2008, पृ. 15

3 "फलतः यह सांस्कृतिक इतिहास जन-साधारण को दिशा-दृष्टि देने वाला है।"- कृष्ण दत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिन्तन, आजकल, जनवरी 2010, पृ. 30

आकर अपनी साँस छोड़ देती है, जहाँ संस्कृति और सभ्यता के फ़र्क समझना असाध्य हो जाता है।

"भारतीय सांस्कृतिक इतिहासकार दिनकर ने अपार श्रम और अध्ययन का पुनर्लेखन किया है। इस पुनर्लेखन का नाम है- 'संस्कृति के चार अध्याय'। यहाँ इतनी बड़ी चुनौती दिनकर ने झेली है कि अवाक रह जाना पड़ता है।"[1] "यह पुस्तक भारत के अतीत और वर्तमान की संवादात्मक चेतना का साक्षात्कार है। इसमें भारतीय चिन्तन परम्पराओं को इतिहास-दृष्टि की विवेक-व्यस्क संपन्नता से अभिव्यक्त और भाषित किया गया है।"[2] पर उन्हें श्रेय देने के बजाय उनकी इस साहित्यिक-ऐतिहासिक ग्रन्थ को अन्तिम सिरे से ख़ारिज कर दिया गया। दिनकर को कहना पड़ा कि-"मेरी स्थापनाओं से सनातनी दुखी हैं, और आर्य समाजी तथा ब्रह्मसमाजी भी। उग्र हिन्दुत्व के समर्थक तो इस ग्रन्थ से काफ़ी नाराज़ हैं। नाराज़गी का एक पत्र एक मुस्लिम विद्वान ने भी लिखा है। यह सब अप्रिय बातें हैं।"[3] कारण बताया गया कि उन्होंने भारतीय-संस्कृति को मिश्रित अथवा सामासिक-संस्कृति कह उसका आत्यन्तिक सरलीकरण कर दिया है, सारी उपलब्धि हिन्दू-संस्कृति(आर्य-संस्कृति) को दे दी है-"दिनकर द्वारा वर्णित वही बुनियादी संस्कृति है जिसका निर्माण आर्यों अथवा हिन्दुओं के द्वारा हुआ।"[4] "सच बात यह है कि यह पुस्तक आर्य जाति की शुद्धता के अंहकार को झूठा सिद्ध करती है और मानती है कि अनेक बाहरी जातियाँ इस देश में आकर बसती रही हैं-और उनमें आपसी ताल-मेल बना

---

1 कृष्ण दत्त पालीवाल, औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की ध्वनि, आजकल, अक्तूबर 2008, पृ. 21

2 कृष्ण दत्त पालीवाल, एक अद्भुत सांस्कृतिक चिन्तन, आजकल, जनवरी 2010, पृ. 23

3 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 10

4 विनोद तिवारी, दिनकर के संस्कृति सम्बन्धी लेखन का स्वरूप, वागर्थ,फरवरी'2010,पृ. 53

रहा।"[1] इसलिए "उनके संपूर्ण पाठ या टेक्स्ट को समाज, राजनीति, इतिहास और समृति के संदर्भों में भाषित करने की ज़रूरत है।"[2]

अज्ञेय जी ने 'स्मृति-लेखा' में लिखा है "आपसी व्यवहार में कभी कोई चूक न होने पर दिनकर जी का मनोभाव मेरे प्रति कुछ विरोध का ही रहा"[3] सवाल यह उठाता है कि उनके विरोध के जवाब में अज्ञेय जी की प्रतिक्रिया क्या थी। अज्ञेय जी ने दिनकर को बहुत मथने के बाद लिखा-"काव्य की पड़ताल में तो दिनकर 'शुद्ध काव्य की खोज' में लगे थे; लेकिन संस्कृति की खोज में उन का आग्रह 'मिश्र संस्कृति' पर ही था-चार अध्याय भारतीय संस्कृति की मिश्रता को ही उजागर करने का प्रयत्न है, उस की संग्राहकता को नहीं। संस्कृति का चिन्तन करने वाले किसी भी विद्वान के सामने यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि संस्कृतियाँ प्रभाव ग्रहण करती हैं, दूसरी संस्कृतियों की उपलब्धियों के सहारे अपनी अन्तर्दृष्टि का विकास करती हैं, अपने अनुभव को समृद्धतर बनाती हैं, लेकिन यह प्रक्रिया मिश्रण की नहीं है। संस्कार नाम ही इस बात को स्पष्ट कर देता है।"[4] लेकिन अज्ञेय जी ने संस्कृति की मिश्रता को लेकर दिनकर पर विवाद उठाया और कहा कि "यह मानना कठिन है कि संस्कृति की यह परिभाषा दिनकर की जानी हुई नहीं थी; उन का जीवन भी कहीं उस मिश्रता को स्वीकार करता नहीं जान पड़ता था, जिस की वकालत उन्होंने की। तब क्या सन्देह संगत नहीं कि उन की अवधारणा एक वकालत ही थी, दृष्टि का उन्मेष नहीं? और अगर वकालत ही थी तो उनका मुवक्किल क्या समकालीन राजनीति का एक पक्ष नहीं था, जिसके सांस्कृतिक कर्णधार स्वयं भी मिश्रता का सिद्धान्त नहीं मानते थे, लेकिन अपनी स्थिति दृढ़तर बनाने के लिए उसे अपना रहे

---

1 कृष्ण दत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिन्तन, आजकल, जनवरी 2010, पृ. 23

2 कृष्ण दत्त पालीवाल, औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की ध्वनि, आजकल, अक्तूबर 2008, पृ. 14

3 स्मृति-लेखा, पृ. 122

4 स्मृति-लेखा, पृ. 113-114

थे?"[1] दूसरी परम्परा की खोज में इसका जवाब नामवर जी ने 'संस्कृति और सौन्दर्य' कुछ इस प्रकार दिया है- "इस दृष्टि से अगर दिनकर की 'मिश्र-संस्कृति' की एक राजनीति है तो अज्ञेय की संस्कार धर्मी संग्राहक संस्कृति भी किसी और राजनीति के अनुषंग से बच नहीं जाती। जब वे कहते हैं कि संस्कृतियाँ प्रभाव ग्रहण करती हैं, अपने अनुभव को समृद्धतर बनाती हैं तो उसमें एक 'मूल-संस्कृति' का अस्तित्व पहले ही से स्वीकार कर लिया गया है जो किसी प्रभाव से पहले 'विशुद्ध' है।"[2] यह सब नामवर जी ने द्विवेदी जी के 'अशोक के फूल' के परिप्रेक्ष्य में लिखा है। और उसे संस्कृति का अनूठा दस्तावेज़ कहा है। 'सामासिक संस्कृति' के नाम पर उन्होंने माला-जपने वालों में दिनकर जी को भी गिना है- "दिनकर जी ने तो 'संस्कृति के चार अध्याय' नाम से एक विशाल ग्रन्थ ही लिख डाला"[3] इस सिलसिले में अज्ञेय और दिनकर का हवाला देते हुए द्विवेदी जी को संस्कृति की समझ में श्रेष्ठ माना है, और अज्ञेय और दिनकर की सांस्कृतिक समझ को राजनीति से प्रेरित। इसकी प्रतिक्रिया में पालीवाल जी लिखते हैं- "प्रश्न उठता है कि इस मिश्र संस्कृति की राजनीति के पीछे कौन-सी शक्तियाँ सक्रिय थीं और क्यों? नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' में इस राजनीति का खुलासा तो नहीं किया लेकिन यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि-"स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जब से राष्ट्रीय स्तर पर अनुमोदित और प्रोत्साहित रूप में 'सामासिक संस्कृति' का बोलबाला हुआ, द्विवेदी जी ने इस विषय पर लिखना बन्द कर दिया। स्पष्ट है कि वे मिश्र संस्कृति के वकील न थे और न एक वकील की तरह इतिहास से तथ्य बटोरने गए थे। उन्होंने तो उस अनुभूति को वाणी जो अपने अतीत के साहित्य को पढ़ते और कलाकृतियों को देखते अंतर्तम में उठी थीं।"(संस्कृति और सौन्दर्य, पृ. 87-88) दरअसल, आचार्य हजारी प्रसाद पर आचार्य

---

1 स्मृति-लेखा, पृ. 114

2 संस्कृति और सौन्दर्य, पृ. 88

3 संस्कृति और सौन्दर्य, पृ. 87

क्षितिमोहन सेन की पुस्तक 'संस्कृति संगम' का रंग भी रवीन्द्रनाथ के निबंध 'भारतवर्ष में इतिहास की धारा' से कम गाढ़ा न था। आचार द्विवेदी ने लिखा है-"देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है। सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हज़म करने के बाद भी पवित्र है।" इस संदर्भ में आचार्य द्विवेदी जी का यह कथन हमारी पूरी संस्कृति के सच को उजागर करने के लिए काफ़ी है कि "मनुष्य की जीवन शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोड़ों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संधर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है-वह न जानते कितने ग्रहण और त्याग का रूप है।" इसलिए आचार्य के सामने मिश्र-संस्कृति की राजनीति नहीं है। यह राजनीति दिनकर के सामने है।"[1] स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने जिस मनुष्य की निर्मम शक्ति की सराहना करते हुए उसे आज के समाज का आर्किटेक्ट क़रार दिया है, और जिस समाज के निर्माण की पृष्ठभूमि में बहुत से ग्रहण और त्याग संलग्न रहे हैं, उन्हीं ग्रहण और त्याग की खूबियों का जिक्र करते हुए जब दिनकर संभावित संस्कृति का रूप 'सामासिक-संस्कृति' के रूप में देखते हैं तो उन्हें अज्ञेय और स्वयं नामवर जी राजनीति-प्रेरित मान लेते हैं। दिनकर का दोष संभवतः इतना ही था कि उन्होंने समाज की जगह संस्कृति शब्द का प्रयोग किया।

इसी तरह गोविंद चन्द्र पांडे जैसे प्राचीन इतिहास और संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान 'भारतीयता परम्परा के मूल स्वर' शीर्षक हीरानंद शास्त्री व्याख्यानमाला के आयोजन में प्रकाशित पुस्तक में 'समासिक संस्कृति' का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि "अतर्क्य भावों, अनुभूतियों और आध्यात्मिक उपलब्धियों के स्तर पर संस्कृतियों का

---

[1] कृष्ण दत्त पालीवाल, एक अद्भुत सांस्कृतिक चिन्तन, आजकल, जनवरी 2010, पृ. 23

वास्तविक मिलन अत्यंत कठिन होता है।"[1] मूल मंतव्य यह है कि "भारतीय संस्कृति की तथाकथित सामासिकता वास्तव में सभ्यता के क्षेत्र में वह भारत की कोई विशेषता नहीं है"[2] नामवर जी का कथन है- "सवाल यह है कि 'सभ्यता' और 'संस्कृति' की जिन दो यूरोपीय अवधारणाओं को डॉ. पाण्डे ने भारत की संस्कृति के विवेचन के लिए अपनाया है, उनका सम्बन्ध 'सभ्यता' से है या 'संस्कृति' से? आदान-प्रदान यदि सभ्यता के ही क्षेत्र में संभव होता है तो फिर भारतीय चिन्तन में ये पाश्चात्य अवधारनाएँ कैसे शामिल हो गयीं? वस्तुतः अवधारणा के रूप में 'संस्कृति' को स्वीकार करने के साथ ही डॉ. पाण्डे ने यह स्वीकार कर लिया कि संस्कृति के क्षेत्र में भी आदान-प्रदान होता है।"[3] इसी बात को आगे बढ़ाते हुए पालीवाल जी कहते हैं-"यह बात आज के बौद्धिकता को खटकती है कि जब डॉ. पाण्डे संस्कृति के क्षेत्र में आदान-प्रदान स्वीकार करते हैं-तो दिनकर से बिदकते क्यों हैं? यह कौन सी राजनीति है? संस्कृति के क्षेत्र में युद्ध संस्कृति का क्या अर्थ? और अर्थ है तो उसे 'सभ्यता' और 'संस्कृति' की अवधारणाओं से स्पष्ट करना होगा कि युद्ध-संस्कृति जैसी चीज़ होती क्या है? भारतीय-संस्कृति में आर्येतर संस्कृतियों का मिलन और उनके अवदान पर रवीन्द्र नाथ टैगोर ने कुल मिलाकर कहा है-"किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि अनार्यों ने हमें कुछ नहीं दिया। वास्तव में, प्राचीन द्रविड़ लोग सभ्यता की दृष्टि से हीन नहीं थे। उनके सहयोग से हिन्दू सभ्यता का रूप-वैचित्र्य और रस-गांभीर्य मिला। द्रविड़ तत्त्वज्ञानी नहीं थे, पर उनके पास कल्पना शक्ति थी, वे संगीत और वास्तुकला में कुशल थे। सभी कला-विधाओं में निपुण थे।""[4] नामवर जी मानते हैं कि शुद्ध संस्कृति की परिकल्पना भी राजनीति के घेरे से बाहर नहीं है-"स्वयं

---

1 भारतीयता परम्परा के मूल स्वर, पृ. 19

2 भारतीयता परम्परा के मूल स्वर, पृ. 20

3 संस्कृति और सौन्दर्य, पृ. 89

4 कृष्ण दत्त पालीवाल, एक अद्‌भुत सांस्कृतिक चिन्तन, आजकल, जनवरी 2010, पृ. 23

अज्ञेय और गोविन्दचन्द्र पाण्डे की 'शुद्ध संस्कृति' का सम्बन्ध भी राजनीति के दूसरे पक्ष से जोड़ा जा सकता है। शुद्ध होने से ही वह राजनीति से मुक्त नहीं हो जाती।"[1]

6.3. साहित्यिक परम्परा का मूल्याँकन :

6.3.1. परम्परा

"आज के संदर्भ में 'परम्परा' एक मोहक शब्द है। साथ ही यह शब्द भ्रामक भी है, क्योंकि इसे मनचाहे अर्थ देकर इसके गलत-सही कितने ही प्रकार के उपयोग किये जा सकते हैं। समसामयिक संवाद में परम्परा की केंद्रीयता असंदिग्ध है। आज के अनेक सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न और आंदोलन परम्परा से जुड़े हैं। संस्कृति और जातीय अस्मिता एक तरह से परम्परा के पर्यायवाची बन गये हैं। इनके लिए बड़ी-बड़ी लडाइयाँ लड़ी जा रही हैं। पिछले पाँच दशकों में विराट् मानवीय उद्देश्यों की परिभाषाएँ कई बार बदली हैं; राजनीतिक स्वाधीनता, आर्थिक विकास और सामाजिक समता की मंज़िलें पार कर अनेक समुदाय अपनी नियति को सांस्कृतिक स्वायत्तता से जोड़ रहे हैं। आज के वैचारिक पर्यावरण में परम्परा (अथवा संस्कृति/जातीय भावना) की अवज्ञा संभव नहीं है।"[2]

"समाज की जड़ अतीत में होती है, वह वर्तमान में जीता है और भविष्य उसके लिए चिन्ता और प्रावधान का विषय होता है। परम्पराएँ अतीत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य से जोड़ती हैं। उनके माध्यम से सामाजिक जीवन को निरंतरता मिलती है और उसका स्वरूप निर्धारित होता है। परम्पराएँ हर समाज और उसके भिन्न समुदायों और समूहों की आत्म-छवि का अविभाज्य अंग होती हैं और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उनका दिशा-निर्देश करती हैं। परम्पराओं का मूल्य केवल प्रतीकात्मक नहीं होता है, उनसे

---

1 संस्कृति और सौन्दर्य, पृ. 89

2 समय और संस्कृति, पृ. 11

महत्त्वपूर्ण प्रकार्य जुड़े होते हैं- वे समाज के समाकलन में सहायक होती हैं और उसे आस्था का आधार देकर जीवन के लक्ष्य और मूल्य-निर्धारित करती हैं। दुनिया में शायद ही कोई ऐसा समाज, जो पूरी तरह अपनी परम्पराओं से कटा हो।"[1]

"परम्परा, संस्कृति और जातीय भावना पर्यायवाची नहीं हैं, किन्तु राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने उनके अंतर को धुँधला कर दिया है। परम्परा संस्कृति का वह भाग है जिसमें भूतकाल से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य तक एक निरंतरता बनी रहती है।"[2] "संस्कृति की संज्ञा मानव के सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों से दी जाती है। वैसे तो संस्कृति का पूरा स्वरूप ही ऐतिहासिक संदर्भों से निर्मित होता है, किन्तु उसके ऐसे मूल्यों और व्यवहार-प्रकारों को, जिनकी जड़े इतिहास में बहुत गहरी हैं, परम्परा कहा जाता है।"[3]

"परम्परा की लोकव्यापी स्वीकृति के बाद भी इस अवधारणा की कोई सर्वसम्मत व्याख्या नहीं है। व्याख्या के प्रयत्न हमें अनेक प्रकार की उलझनों में डाल देते हैं।

परम्परा और संस्कृति पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, हालाँकि सामान्य व्यवहार में दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ को ध्वनित करने के लिए कर लिया जाता है। संस्कृति अधिक व्यापक अवधारणा है, परम्पराएँ उसकी अपेक्षाकृत दीर्घजीवी धाराएँ और उपधाराएँ होती हैं। परम्पराएँ किसी भी संस्कृति की बुनावट के लिए आवश्यक हैं, किंतु केवल उनसे पूरी संस्कृति को नहीं समझा जा सकता।"[4]

"परम्परा की परिधि का निर्धारण उसे देखने और समझने की दृष्टि पर अवलंबित होता है। यह दृष्टि परम्परा के तटस्थ अध्येताओं की हो सकती है और उनकी भी जो सामाजिक-क्रियाओं की गति और दिशा निर्धारित करने के लिए उसकी व्याख्या करते हैं। कुछ दार्शनिकों ने मानवीय परम्परा को समग्र और एकीकृत रूप में देखने के प्रयत्न किया

---

1 समय और संस्कृति, पृ. 20
2 समय और संस्कृति, पृ. 14
3 समय और संस्कृति, पृ. 14
4 समय और संस्कृति, पृ. 21-22

हैं, उनके ने प्रवृत्तियों के आधार पर मुख्य परम्पराओं के वृत्त निर्धारित किये हैं। दूसरी श्रेणी के प्रयासों में केंद्रीय परम्परा और उसके प्रभाव-क्षेत्र में उसके विभिन्न स्वरूप-दोनों पर विचार किया है। परम्परा का आधार शास्त्र भी हैं, लोक भी; किन्तु कुछ दृष्टियाँ शास्त्र को महत्त्व देती हैं।, कुछ लोक को। इन आधारों के अंतरालंबन को समझने के प्रयत्न भी हुए हैं। ग्रीक, चीनी, भारतीय और इस्लामी परम्पराओं का चित्रण कुछ आधार ग्रन्थों के सहारे किया गया है। प्राच्यविद्, भारतविद्, संस्कृतज्ञ और दार्शनिक भारतीय परम्परा और उसके मूल स्वरों की तलाश शास्त्रों और अन्य धर्म ग्रन्थों में करते आये हैं।"[1]

"परम्परा की परिधि स्थितियों और संदर्भों के अनुसार फैलती और सिकुड़ती रहती है। बदलते परिवेश और नयी आवश्यकताओं के दबाव के कारण परम्पराएँ अपना अनुकूलन करती हैं। छोटी और बड़ी, भिन्न किन्तु समानांतर, एक स्रोत से उपजी परंतु अलग-अलग दिशाओं में बहनेवाली भिन्न स्रोतों से उपजी किन्तु ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में एक-दूसरे से जुड़ जानेवाली, सहयोगी और प्रतिस्पर्धी परम्पराओं के अंतः सम्बन्ध भी इन्हीं कारणों से प्रभावित होते हैं, बनते और बिगड़ते हैं।"[2]

"परम्परा के सम्बन्ध में सबसे बड़ी भ्रान्ति उसे जड़ और अपरिवर्तनशील मानना है। परम्पराएँ सामाजिक विकास या ह्रास से असंपृक्त नहीं होती और इन प्रक्रियाओं से उनके रूप में भी परिवर्तन होते हैं। भिन्न परम्पराओं में पारस्परिक आदान-प्रदान होता है। नये संदर्भ उन्हें नये अर्थ देते हैं। परम्पराएँ स्वयं ही समय-समय पर अपना मूल्याँकन कर अपनी दिशा बदलती हैं। परम्परा की इस आंतरिक गतिशीलता को स्वीकार किये बिना हम न उसके स्वरूप को समझ सकते हैं, न उसकी भूमिका को।

परम्परा न मिथक होती है, न इतिहास। दोनों के तत्त्व उसमें घुले-मिले होते हैं। अनुभवजन्य तथ्य भी उसके स्वरूप को प्रभावित करते हैं। उसका अति-मिथकीकरण तथा

---

1 समय और संस्कृति, पृ. 14-15

2 समय और संस्कृति, पृ. 16

उसमें अति-रहस्यमयता का निवेश उसके रूप को विकृत करता है और उसकी सच्ची समझ में बाधक होता है।"[1]

"परम्परा के महत्त्व को स्वीकारते हुए भी समय-समय पर, विशेषकर संक्रमण की स्थितियों में, उसका अरहस्यीकरण करना आवश्यक है। यह कोई नया और क्रांतिकारी विचार नहीं है, जाने-अनजाने सभी समाज ऐसा करते आये हैं। रोमिला थापर ने कहा है कि- "इतिहासकारों को समय-समय पर रुककर स्थिति का जायज़ा लेना चाहिए.....। उन्हें पूछना चाहिए कि वह, जिसे हम परम्परा के रूप में स्वीकार करते हैं, इस रूप में स्वीकारे जाने योग्य हैं भी या नहीं.....। विविधताओं वाला समाज जब अपने-आप के लिए एकरूप सांस्कृतिक परम्परा का निर्माण करता है तब इस प्रक्रिया में ऐतिहासिक तथ्यों की तोड़-मरोड़ हो सकती है। परम्पराएँ स्वयं निर्मित नहीं होतीं, सचेत रूप से उनका चुनाव किया जाता है। अतीत के विपुल खज़ाने से हम वही चुनते हैं जो हमारी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल होता है.....।"(कुरेशी स्मारक भाषण का स्वतंत्र अनुवाद) सहज विवेक और सच्ची इतिहास-दृष्टि का आग्रह है कि सामाजिक मोड़ की स्थितियों में परम्परा का मूल्याँकन किया जाये और समय की माँग के अनुकूल उनमें परिवर्तन की दिशा निर्धारित की जाये। परम्परा की जड़ता उसे अनुपयुक्त बनाती है और समाज की स्वाभाविक गतिशीलता को मंद करती है। उसकी अंध, विवेकहीन भक्ति एक साधन के रूप में उसकी शक्ति को सीमित और क्षीण करती है। ज़रूरी है कि परम्परा साधन ही बनी रहे, पूजा की वस्तु न बने। मानव समाज अपने आप को परम्परा की रक्षा के लिए समर्पित नहीं कर सकता।"[2]

"परम्परा और उससे अनुप्राणित संस्कृति मानव के सामूहिक अस्तित्व का अविभाज्य अंग होती हैं। परम्परा से एकाएक कट जाना धुरीहीनता की भावना को जन्म

---

1 समय और संस्कृति, पृ. 13

2 समय और संस्कृति, पृ. 24

देता है। व्यक्ति और उसके समुदाय को परम्परा से एक विशेष पहचान मिलती है। परम्परा पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, जिन्हें उतार फेंका जा सकता है, नहीं होती। विचारधारा के प्रभाव या अन्य दबावों के कारण त्यागी हुई परम्पराएँ पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठिपित की जाती हैं, ऐसे भी कई उदाहरण देखने में आये हैं।"[1]

सच तो यह है कि संसार में एकदम शुद्ध परम्परा कोई है ही नहीं, प्रत्येक परम्परा पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक बाह्य परम्पराओं के प्रभाव पड़ते हैं और आत्मसात् किया जाते हैं। परम्परा की अवमानना संभव नहीं है, परंतु उसकी अतिरहस्यमयता का परीक्षण भी आवश्यक है- ऐतिहासिक तथ्यों की पृष्ठभूमि में और आज और आनेवाले कल की अनिवार्यता के संदर्भ में। परम्परा का राजनीतिकरण उसकी ऊर्जा का उपयोग निर्माण के लिए नहीं, विनाश के लिए कर रहा है। यह प्रवृत्ति परम्परा की आत्मा के लिए घातक सिद्ध होगी।

उपरोक्त परम्परा को लेकर जो विचार दिये गये हैं, ज़ाहिर है कि वर्तमान युग में परम्परा को लेकर जो उलझने उत्पन्न हुई हैं, उसमें उसके राजनीतिकरण का बहुत बड़ा हाथ है। यह भी कि वर्तमान, परम्परा की ओर अपने अस्तित्व की टोह लेने के लिए बार-बार देख रहा है। यह अब एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया है, सारा विश्व इस होड़ में लगा हुआ है। भारत की दयनीयता है कि अपने अपार पारंपरिक विरासत के रहते हुए भी वह मार्डनेटी के नाम पर ऐसी सभ्यता का अन्धानुकरण कर रहा है, जिनका उनकी संस्कृति और परम्परा से दूर-दूर तक कोई सारोकार नहीं। दिनकर इन सभी बातों से भिज्ञ थे। वर्तमान में कोई भी युगचेता आंदोलन अथवा घटना न होते देख कर दिनकर ने प्राचीन काल के नायक, अशोक, चंद्रगुप्त, समुद्रगुप्त तथा महाराणा प्रताप की ओर अपना रूख इख़्तियार किया, इतिहास प्रेम और अतीतप्रियता का यही कारण है। उनका रचना-संसार इसलिए महार्घ है क्योंकि उन्होंने अतीत का पुनर्सृजन किया वरन् इसलिए कि उन्होंने अपने युग की आत्मा को ध्वनित किया, अपने समाज की आलोचनात्मक समीक्षा की।

---

[1] समय और संस्कृति, पृ. 17

दिनकर ने भी विद्वानों के समान परम्परा को उसके व्यापक रूप अथवा संस्कृति के रूप में ही लिया। उनका सदैव यह मानना रहा कि परम्परा का अगर सटीक सम्यक् मूल्याँकन किया जाए तो वर्तमान पीढ़ी के साहित्यकारों का उससे विकास ही होगा। उन्होंने परम्परा के मूल्याँकन को एक अनुशासन माना, क्योंकि अनुशासित होने पर ही मनुष्य अपनी वैयक्तिक चिन्तन को निर्वैयक्तिकरण स्तर पर परम्परा से जोड़े देता है। उन्होंने पूर्ण विश्वास से अतीत की ओर देखा, पहले से आ रही साहित्यिक-परम्परा को उन्होंने हमेशा सकारात्मक रूप में ग्रहण किया। अपने चिन्तन में, भाषणों में, भेंटवार्ताओं में इसी बात को तरज़ीह देते रहे। एक स्थान पर वे लिखते हैं- "जिस प्रकार हिमालय और हिन्द महासागर का ऋणी हूँ उसी प्रकार रवीन्द्र, इक़बाल और दूसरे के कवियों का ऋण भी मुझ पर है।"[1] 'उर्वशी' पर भारतीय ज्ञान-पीठ पुरस्कार द्वारा आयोजित पुरस्कार समर्पन समारोह के अवसर पर भी उन्होंने अपने ऊपर हुए दो महान कवियों का उल्लेखन किया, भाषण के अन्त में उन्होंने कहा-"अन्त में एक खुफ़िया भेद और बताकर अपनी जगह ले लूँ। जिस तरह जवानी-भर मैं रवीन्द्र और इक़बाल के बीच झटके खाता रहा, उसी तरह, जीवन-भर मैं गाँधी और मार्क्स के बीच में भी झटके खाता रहा हूँ।"[2] उन्होंने तुलसी और इलियट की भी प्रेरणा को स्वीकारा। ज़ाहिर है कि उन्होंने अपने से पूर्व विशिष्ट साहित्यकारों का सम्यक् मूल्याँकन किया और उनकी विशेषताओं को उजागर किया। भारतीय संस्कृति आज भी अजेय है तो उसका कारण मेधावी कविगण हैं। दिनकर को इस परम्परा का ज्ञान है, और इस परम्परा का मूल्याँकन उन्होंने अपने साहित्य साधना के क्रम में एक कवि के रूप में की और समीक्षक रूप में भी। दिनकर ने लेखन के लगभग पाँच दशकों में जो अध्ययन किया उससे ज़ाहिर हो जाता है कि वे अपनी साहित्य परम्परा के प्रति कितने सजग थे, वे परम्परा को वर्तमान की रीढ़ मानते थे, तथा सदैव इसे अपने विचारों

---

1 रेणुका, भूमिका से उद्धृत

2 'उर्वशी' पर भारतीय ज्ञान-पीठ पुरस्कार द्वारा आयोजित पुरस्कार समर्पण समारोह के अवसर पर,1 दिसंबर, 1973 ई० को विज्ञानभवन, नई दिल्ली में दिया गया भाषण।

में तरज़ीह देने की कोशिश की। उनके साहित्यकार सम्बन्धी विचारों को देखने से इस बात की स्पष्टीकरण हो जाती है कि उन्होंने अपनी परवर्ती साहित्य परम्परा का गहना अध्ययन किया था। दिनकर द्वारा विशिष्ट साहित्यकारों के सम्बन्ध में व्यक्त मान्यताएँ प्रस्तुत की जा रही हैं

दिनकर के वाल्मीकि, व्यास, और कालिदास-सम्बन्धी विचार :

भारती की सुदीर्घ साहित्यिक परम्परा में वाल्मीकि, व्यास, और कालिदास उच्चतम स्थान के अधिकारी हैं। इनका प्रादुर्भाव भारतीय परम्परा में हुआ है और इनकी रचनाएँ सम्पूर्ण भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन महान् साहित्यकारों ने अपने पीछे आनेवाले साहित्यकारों के लिये प्रेरणास्रोत का काम किया है और इनके ग्रंथ आज भी भारतीय जनता द्वारा पूरी तरह समादृत हैं। महाकवि व्यास ने महाभारत, श्रीमद्भागवत जैसे विशाल ग्रथों को लिखकर अपने आपको अमरत्व प्रदान किया है तो वाल्मीकि रामायण की रचना करके प्रथम कवि ही नहीं भारत के राष्ट्रकवि के रूप में हमारे सामने आये हैं। कालिदास के जोड़ का कवि संसार में दुर्लभ है। दिनकर जी के शब्दों में "वेदों और उपनिषदों के भी ज्ञान के सच्चे उद्धारक वाल्मीकि और व्यास हुए एवं भारत नाम में जो भी गौरव है उसे इन्हीं दो आर्ष महाकवियों ने मूर्त्त रूप दिया।"[1] इतना ही नहीं, दिनकर जी इन महाकवियों द्वारा रचित दो महाकाव्यों को विशाल भारतीय संस्कृति का समन्वयात्मक कवि भी कहते हैं तथा उन्हें भारत के जातीय काव्य मानते हैं-"रामायण और महाभारत भारतीय जाति के दो महाकाव्य हैं। महाकाव्यों की रचना तब संभव होती है जब संस्कृतियों की विचारधाराएँ किसी संगम पर मिल रही हों। भारत में संस्कृति-समन्वय की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने वाले ये दो ग्रन्थ हैं।"[2]

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ.160

2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ.82-83

6.3.1.1. वाल्मीकि :

आदिकवि वाल्मीकि का भारतीय साहित्य और जीवन में जो महत्त्व रहा है, उस पर दिनकर ने यत्र-तत्र पर्याप्त प्रकाश डाला है।"[1] वाल्मीकीय रामायण भारतीय जीवन का उपजीव्य रही है और इस विशाल ग्रंथ में भी इतनी व्याप्ति और विविधता है कि वह विस्मय उत्पन्न करती है। महाकवि वाल्मीकि को किस दृष्टि से अधिक मान्यता दें, इसका निर्णय करना दुःसाहस्य कार्य है। उनकी अद्‌भुत कल्पनाशक्ति पर पाठक को विस्मय-विमुग्ध रह जाना पड़ता है। इस महाकाव्य में कभी नहीं पुराने पड़नेवाले जीवन-चित्र हैं, मुग्ध करनेवाली प्रकृति है और हमारे इतिहास की अशेष सामग्री है। इतना ही नहीं, वालमीकि सौन्दर्य के द्रष्टा और स्रष्टा कवि भी हैं। इनके काव्य-विम्ब अत्यन्त ही सुस्पष्ट और प्रभावशाली हैं। दिनकर के अनुसार, वाल्मीकि-रामायण भारतीय जीवन का वह दर्पण है जिसमें भारत का सांस्कृतिक वैशिष्ट्य, आध्यात्मिक चेतना और जीवन-दृष्टि स्पष्ट झलकती है। इस अर्थ में वे इन्हें राष्ट्रकवि के रूप में मानते हैं।"[2]

वाल्मीकि को वे विशिष्ट प्रतिभा-संपन्न कवि कहते हैं, क्योंकि इन्होंने जिन चित्रों को हमारे समक्ष रखा है, वे विशिष्ट प्रतिभासंपन्न व्यक्ति द्वारा ही सृष्ट हो सकते हैं। वे कालिदास और वाल्मीकि के प्रकृति-वर्णन की तुलना करते हुए कहते हैं कि "वाल्मीकि और कालिदास, प्रकृति के सौन्दर्य को अपने-आप में पूर्ण मानते थे और इसीलिए उनके प्रकृति-वर्णन केवल प्रकृति ही है, जो सामने आती है, उसके साथ नायिका का ताप या काम-ज्वर तथा संतों के उपदेश नहीं आते हैं और चूँकि प्रकृति केवल प्रकृति ही है, इसलिए उसका प्रभाव भी सहज ही मनोरम हो उठता है।" दोनों के प्रकृति वर्णन को उन्होंने शुद्ध और निर्मल माना है- "वाल्मीकि और कालिदास की प्रकृति जिस प्रकार निर्मल है, ऐसे ही विमल प्राकृतिक चित्र अंग्रेज़ी की तमाम कविताओं में दिखलाई पड़ते हैं।

---

1 संस्कृति के चार अध्याय 70

2 दिनकर की डायरी, पृ. 210

लैंडस्केप चित्रकार केवल प्रकृति का ही चित्र उतारता है, उसमें कहीं कोई मानवीय आकृति नहीं दिखाई देती है।" इस प्रकार वे भारतीय जीवन के चित्रण, भारतीय समाज के उद्‌बोधन, प्रकृति-वर्णन और श्रेष्ठ कवित्व के लिए वाल्मीकि की प्रशंसा करते हैं तथा शताब्दियों से बढ़ते हुए उनके प्रभाव को देखते हुए इनको राष्ट्रकवि के रूप में देखते हैं।

6.3.1.2. व्यास :

महाकवि व्यास दक्षिण भारत के रहनेवाले थे और समाज के सभी लोगों के बीच समान आदर के अधिकारी एवं पूज्य थे। दिनकर जी इन्हें "पौराणिक हिन्दुत्त्व का मुख्य निर्माता और सबसे बड़ा पुराणकार भी माना है जो आर्य और आर्येतर दोनों संस्कृतियों के समन्वय के विश्वासी थे।"[1] इनके द्वारा रचना गया महाभारत संस्कृत की वृहत्त्रयी में से एक है। इस ग्रंथ ने देश के विभिन्न भागों में फैली हुई विचारधाराओं एवं संस्कृतियों को एक स्थान पर इस प्रकार गुंफित कर दिया कि महाभारत इस देश की जनता का कंठहार हो गया।"[2] इस ग्रंथ से न जाने कितनी चीज़ें निकली हैं। भास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष और कालिदास तन ने इससे अपनी रचनाओं के लिये सामाग्रियाँ ली हैं। महाभारत को दिनकर ने 'अतुलनीय ग्रंथ' माना है और महाभारत की विशालता की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है-"महाभारत की तुलना कि ग्रंथ से की जाय? उसके एक छोटे से कोने से गीता निकली है।"[3]

महाभारत मात्र इतिहास, दर्शन, राजनीति, समाज विज्ञान और साहित्य ही नहीं है, उसमें न जाने कितना विस्तार समाया हुआ है। इस सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ तर्कसंगत लगती

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ.34
2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ.161
3 दिनकर की डायरी, पृ.170

हैं- "महाभारत इतिहास, पुराण, दर्शन आदि के सम्मिलित भूमि तो है ही, इससे बढ़कर साहित्य और नीति का सेतुबंध भी है।"

इस तरह यह कहा जा सकता है कि महाभारत इतिहास, धर्म, नीति और दर्शन सब कुछ है और इनसे भी ऊपर बहुत कुछ है। महाभारत के आदिपर्व से लेकर स्वर्गारोहण पर्व तक में जीवन का कोई अंश अछूता नहीं रहा है। इससे समाज, परिवार, अध्यात्म, विश्वबंधुत्व, धर्म, कर्त्तव्य, पुरुषार्थ, हित वचन और संतोष जैसे पहलुओं को व्यापक अभिव्यक्ति मिली है। इसमें नीति और सूक्तियाँ की भरमार है। इस महाकाव्य की विशालता के सम्बन्ध में डॉ. वचनदेव कुमार ने ठीक ही लिखा है- "इस महावन की एक-एक डाली से कितनी वाटिकाएँ लहरी है।"[1] भारतीय दर्शन में जीवन की चार मुख्य प्रेरणाओं की स्वीकृति है, जिनके द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन के श्रेय और प्रेय का विधान होता है। इन्हें चतुरवर्ग कहा जाता है। इनके नाम हैं-अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। इनकी प्राप्ति-सम्बन्धी विलक्षण उक्तियाँ महाभारत में दर्शनीय हैं। ज्ञान के अक्षय भंडार इस महाकवि की महत्ता के सम्बन्ध में दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में भी लिखा है और कहा है, "वे महान मनीषी थे और अपने समय में देवता के समान पूज्य थे।"[2]

ब्राह्मण धर्म की जो व्याख्या महाभारत में व्याप्त ने की है, वह आज के जीवन के लिए भी अत्यन्त सारवान है- ऐसा दिनकर का मत है। व्यास के अनुसार ब्राह्मण जाति की दृष्टि से महान नहीं होता, उसमें कर्त्तव्य, धर्म, ज्ञान और त्याग जैसे गुणों का होना ज़रूरी है और इन गुणों से युक्त कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण कहला सकता है। यह धारण उन्हें अत्यन्त उपादेय प्रतीत होती है।

6.3.1.3. कालिदास :

---

1 चिंतन के धागे, डॉ. वचनदेव कुमार

2 संस्कृति के चार अध्याय 54

संस्कृत साहित्य के इन दो मनीषियों के साथ ही दिनकर जी ने कालिदास जैसे विशिष्ट कलाकार की भी प्रशंसा की है। एक और कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र', 'अभिज्ञान शकुन्तलम्', 'कुमारसंभवम्', 'विक्रमोर्वशीयम्', 'मेघदूतम्' काव्य की रचना करके श्रृंगार की सरिता बहाई है, दूसरी ओर प्रकृति का स्वस्थ और मांसल रूप प्रस्तुत किया है, और तीसरी ओर वे जीवन के मांसल और आध्यात्मिक सौन्दर्य के द्रष्टा हैं। भारतीय जीवन में कालिदास अमर हैं, मनु नीतिशास्त्री होने के कारण पुराने पड़ गये हैं, पर कालिदास कलाकार होने के कारण चिरनवीन हैं। कुछ विदेशी विद्वान कालिदास के नाटकों पर यूनानी नाटक का प्रभाव मानते थे जिसका जोरदार खण्डन दिनकर जी ने किया है। दिनकर वाल्मीकि की तरह कालिदास को भी एक ओर भारत के राष्ट्रकवि के रूप में मान्यता देते हैं, तो दूसरी ओर उन्हें श्रेष्ठ कलाकार की श्रेणी में रखते हैं।

कालिदास के सम्बन्ध में दिनकर की एक स्थापना यह है कि निगम और आगम नाम की दो धाराओं में से, जो भारतीय जीवन को प्रभावित करती है, कालिदास आगम के कवि हैं। कालिदास को कलाकार के रूप में मान्यता देना का कारण यह है कि उनकी रचनाओं में नीति, उपदेश और धर्म की अपेक्षा सौन्दर्य, अनुभूति और भावपक्ष का कलात्मक चित्रण है। दिनकर ने इसके सांस्कृतिक कारण भी निर्दिष्ट किये हैं। "भारतीय जीवन की अपेक्षाकृत कुछ शांत वातावरण में जा पहुँचा तब हमारे कवि कालिदास हुए। कालिदास के विषय पुराने और कहने की शैली नवीन है। मगर, वे क्लांत जाति के कवि नहीं है, वे उस जाति के कवि हैं, जिसने सांसारिक समृद्धि और आध्यात्मिक शंकाओं का समाधान प्राप्त कर लिया है और जो अब जरा पाँव फैलाकर आराम कर रही है।"[1]

कालिदास संस्कृत की समृद्ध प्रकृति के वर्णन की परम्परा वाले कवियों की श्रेणी में आते हैं और इस प्रसंग में वे वाल्मीकि के समकक्ष हैं। कालिदास में प्रकृति के प्रति असीम

---

[1] काव्य की भूमिका, पृ. 2

आकर्षण का भाव है। उनके काव्यों में जो प्राकृतिक भव्यता और रंगीनी है, उसकी पृष्ठभूमि में उनकी जन्मभूमि का महत्त्व प्रतीत होता है।

कलाकार सदैव निर्धारित चौखटे में बँधा रहकर नहीं चलता, वरन् अक्सर वह अपनी स्वतंत्र उन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय देता है, संस्कृत साहित्य में किसी ने माघ में उपमा, अर्थ और लालित्य माना है और कालिदास को सिर्फ उपमा की दृष्टि से महान कहा है। दिनकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि सबसे बड़े कवि माघ नहीं कालिदास हैं।"[1] लेकिन उस पर युग की प्रेरक शक्तियों का प्रभाव भी पड़ता है। आज का कलाकार कालिदास की ऊँचाई के समक्ष बौना लगता है। 'साहित्यमुखी में शीर्षक 'मुक्त चिन्तन' में दिनकर ने इसका कारण निर्दिष्ट किया है। वहाँ साहित्य और विज्ञान की स्थिति पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि आज बुद्धि पक्ष की प्रबलता हो गई है और भाव पक्ष गौण हो गया है। फलतः विज्ञान का विकास ओर साहित्य में ह्रास दृष्टिगत होता है। इसी संदर्भ में वे कहते हैं- "कालिदास की ऊँचाई रवीन्द्रनाथ नहीं पा सके और रवीन्द्रनाथ की ऊँचाई का कवि अब संसार भर में नहीं है।"[2]

वाल्मीकि, व्यास और कालिदास का साहित्य अत्यन्त व्यापक और विशाल है। इनके साहित्य पर दिनकर ने स्वतंत्र निबंधों में तो विचार नहीं किया है, लेकिन जितना कुछ कहा है, वह इन कवियों के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को उजागर करने में समर्थ है। सामान्य रूप में कवियों की उन्होंने दो कोटियाँ मानी हैं जिनमें वाल्मीकि और व्यास को वे ऐसे कवियों में लेते हैं, जो अपनी आनंद-दायिनी कला का उपयोग जीवन को प्रभावित करने के लिए करते हैं, सभ्यता को परिवर्तित करने अथवा उनके मूल्यों की रक्षा करने को करते हैं। दूसरी श्रेणी के कवियों को उन्होंने शुद्ध कलाकार माना है जो सौन्दर्य के प्रेमी रहे हैं। कालिदास को उन्होंने शुद्ध कलाकार की श्रेणी में रखा है क्योंकि इनमें सौन्दर्य, अनुभूति और भाव की प्रबलता है, नीति, कर्म और उपदेश की नहीं। कालिदास

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 141

2 साहित्यमुखी, पृ. 7

की एक विशेषता यह भी है कि इन्होंने दुनिया के अन्य देशों के साहित्य को भी प्रेरणा दी।"[1] व्यास, वाल्मीकि और कालिदास, तीनों को राष्ट्रीय ख्याति के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी मिली है और इनके काव्य देश और काल की सीमा पार कर शाश्वत और चिरंतन हो गये हैं।"

6.3.1.4. विद्यापति :

दिनकर ने 'वेणुवन' के दो निबंधों- 'मैथिल कोकिल विद्यापति' और 'विधापति और ब्रजबुलि'-में विद्यापति के कवि-व्यक्तित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इनके अतिरिक्त 'कविता और शुद्ध कविता', 'काव्य की भूमिका' और संस्कृति के चार अध्याय'-जैसी पुस्तकों में भी यत्र-तत्र प्रसंगानुसार इनके सम्बन्ध में विचार किया है।

इतिहास की दृष्टि से विद्यापति चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के कवि हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें वीरगाथा काल के अन्तर्गत माना है, यद्यपि वे इन्हें श्रृंगारी कवि मानते हैं- "विद्यापति के पद अधिकतर श्रृंगार के ही हैं जिनमें नायक-नायिका राधाकृष्ण हैं.....उन्होंने इन पदों की रचना श्रृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं।"[2] लेकिन दिनकर की स्थापना इससे किंचित भिन्न दिखाई पड़ती है। उनके अनुसार, विद्यापति को न तो वीरगाथा काल के अन्तर्गत रखा जा सकता है, और न ही भक्तिकाल के और रीतिकाल के अन्तर्गत। कीर्तिलता में वीरता की रचनाएँ हैं, किन्तु इसे विद्यापति की प्रतिनिधि रचना नहीं माना जाता। भक्तिकाल के अन्तर्गत भी इतिहास इन्हें स्थान देने में हिचकते हैं, क्योंकि राधा-कृष्ण का नाम लेकर भी विद्यापति ने मूलतः दैहिक आनंद के स्वर को ही प्रमुखता दी और इनके पदों में उनके रीति-ज्ञान का स्पष्ट संकेत मिलता है, पर रीति, रस और अलंकारों के उदाहरण के रूप में पदों की

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 141

2 हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 45, 12वां संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

उन्होंने रचना नहीं की। अतः दिनकर का कहना है- "इस प्रकार विद्यापति किसी भी वर्ग में समा नहीं सकते। इनके सत्कार के लिये ऐसा सिंहासन चाहिये जिस पर केवल वही बैठ सकते हैं।"[1] स्पष्ट ही यह बात सूचित करती है कि विद्यापति की रचनाएँ विभिन्न कालों की विशिष्टताओं को अपने भीतर समाविष्ट किये हुई हैं।

दिनकर ने विद्यापति को भारत के अत्यन्त लोकप्रिय कवि के रूप में देखा है। उनके अनुसार विद्यापति ने पूर्वी भारत के बहुत बड़े भू-भाग और जनसमूह को प्रभावित किया है। बिहार, बंगाल और उड़ीसा और आसाम सर्वत्र उनके पद जनप्रिय हैं। इनकी लोकप्रियता ने इनको अनेक उपनामों से विभूषित किया-कविशेखर, अभिनव जयदेव और मैथिल कोकिल। लोकप्रियता की दृष्टि से दिनकर उन्हें तुलसी के बाद एकमात्र कवि मानते हैं। ".....और आज भी तुलसीदास के बाद वे, शायद, एकमात्र कवि हैं जिनकी कविताएँ पण्डितों से अधिक अपढ़ जनता को याद हैं तथा जिनके पदों का गान मिथिला की गृहलक्ष्मियों का प्रधान आनन्द है।"[2] इस लोकप्रियता और प्रसिद्धि का आधार कीर्तिलता और कीर्तिपताका न होकर उनकी पदावली है जो एक श्रृंगारिक रचना है और लोकभाषा में लिखी गई है। उनकी इस लोकप्रियता का कारण यह है कि उनका विषय जनजीवन है। जीवन के उन्मुक्त क्षेत्र से उन्होंने काव्य-सामग्री ली है। "कवि विद्यापति पर पण्डित विद्यापति का आतंक नहीं था। विद्यापति का कवि-हृदय मिथिला के जन-हृदय से एकाकार था। साहित्य की दृष्टि से तो विद्यापति अतुलनीय हैं ही, उनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे लोक-साहित्य की भी अतुल कृतियाँ हैं। विद्यापति के भाव मन से नहीं, जीवन से आते थे। उन्होंने ताल और भूर्जपत्रों पर लिखी पोथियाँ ही नहीं पढ़ी थीं, प्रत्युत, सबसे अधिक वे उन पोथियों के प्रेमी थे जो खेत-खलिहानों कुंज विथी, पनघट और जनता के घर आँगन में खुली हुई हैं।"[3] उनकी पदावली का काव्य-विषय मिथिला

---

1 वेणुवन, पृ 58

2 वेणुवन, पृ 58

3 वेणुवन, पृ. 59

का ग्रामदेश है। ग्रामीण जीवन का सहज सौन्दर्य उनके गीतों में साकार हो उठा है। उनके काव्य विषय की सहजता, पावनता, आकर्षण और वेधकता का कारण यह था कि उनका विषय मिथिला का ग्राम देश है जिसकी युवतियाँ बिना अलंकरण के ही; बिना हाव-भाव के और कृत्रिमता के ही मन को मोहती हैं। ऐसी ग्राम युवतियों के संयोग और वियोग, दोनों ही अवस्थाओं को उन्होंने चित्रित किया है। उनके राधाकृष्ण सामान्य पुरुष और नारी हैं अर्थात् इनके माध्यम से सामान्य मानव के भावों का बड़ा ही स्पष्ट अंकन उन्होंने किया है।

अभिप्राय यह कि विद्यापति का कविहृदय जनहृदय से एकाकार था। उनके कवि-व्यक्तित्व पर उनका पांडित्य हावी नहीं हुआ था। इसीलिए उन्होंने जन-जीवन का इतना उत्कृष्ठ काव्य लिखा है। उनकी इस सफलता का सबसे बड़ा कारण है कि उनके श्रृंगार वर्णन में आडम्बर और कृत्रिमता नहीं है। बल्कि अनुभूति की सच्चाई है-"नारी को देखकर नारी में जो सहज स्वाभाविक आकर्षण जगता है उसका रहस्य सब को ज्ञात है। किन्तु, विद्यापति ने इस अनुभूति को जिस निश्छलता से व्यक्त किया है, वह सफ़ाई, वह सच्चाई और वह निश्छलता और कहीं नहीं मिलती।"[1] अपनी अनुभूति की सच्चाई और आडम्बरहीन अभिव्यक्ति के कारण ही उनकी रचनाएँ जनमानस का कंठहार बन गई हैं।

कुछ आलोचकों ने विद्यापति को भक्त-श्रृंगारिक कवि के रूप में देखा है। पर शुक्ल जी की तरह दिनकर ने उन्हें शुद्ध श्रृंगारिक कवि के रूप में लिया है। वे पदावली को विशुद्ध श्रृंगार का उदाहरण मानते हैं। विद्यापति की श्रृंगारिकता के सम्बन्ध में दिनकर का यह कथन द्रष्टव्य है- "श्रृंगारिक कवि तो हमारे साहित्य में एक से बढ़कर एक हैं पर श्रृंगार की जो सहजता विद्यापति में है वह अन्यत्र नहीं दिखाई देती।"[2] श्रृंगार और सौन्दर्य-सम्बन्धी इस उक्ति से आरंभ होने वाले पद को उनकी समस्त काव्य रचना की कुँजी कहते हैं।

---

1 वेणुवन, पृ. 58

2 वेणुवन, पृ 58

"सखसिज बिनु सर, सर बिनु सखसिज
कि सखसिज बिनु सूरे,
यौवन बिनु तनु, तनु बिनु यौवन
की यौवन पिय दूरे।"[1]

इसी आधार पर वे उन्हें "सौन्दर्य, जवानी, दांपत्य प्रेम और मस्ती के कवि भी कहते हैं।"[2]

निःसन्देह हिन्दी के भूमि पर संस्कृत की अखंड श्रृंगारिक चेतना को उतारने वाले कवि मैथिल कोकिल विद्यापति हुए।

विद्यापति को दिनकर ने शुद्ध कलाकार की कोटि में रखा है, सोद्देश्य कलाकार की श्रेणी में नहीं- "उन्होंने जो कुछ लिखा, सहज, सुन्दर और आनन्दमय भाव से लिखा, सौन्दर्य से छक कर लिखा, मस्ती के तूफ़ान में लिखा। कविताएँ उनका आत्म-निवेदन नहीं, आत्माभियक्ति हैं।"[3] यही कारण है कि सामाजिक समस्याओं या सामयिक विषयों पर विद्यापति की कोई रचना नहीं मिलती। शास्त्रीय विवेचन, नीति या दर्शन उनके काव्य के आधार नहीं है।

दिनकर ने विद्यापति को एक कलाकार की सौन्दर्य-चेतना, प्रखर कल्पना, अनुभूति की वेधकता, संप्रेषणीयता और भाषा-सामर्थ्य से युक्त माना है जिनकी सरलता और सहजता ही समस्त साहित्य की पूँजी होती है। विशुद्ध आनन्ददायिनी होने के कारण, अपनी सहजता के कारण ही वे पाठकों का हृदय छूने में समर्थ हैं। विद्यापति की इस पंक्ति को वे उनकी शिल्प निपुणता और वैयक्तिक प्रतिभा का प्रसाद कहते हैं-

"जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।"

---

1 वेणुवन, पृ 60
2 वेणुवन, पृ 60
3 वेणुवन, पृ 58

इस प्रसंग में उनकी अपूर्व सौन्दर्य चेतना एवं अद्‌भुत कल्पना-शक्ति का भी आभास मिलता है। मानवीय सौन्दर्य का चिन्तन करते हुए उन्हें ऐसी पंक्तियाँ नहीं मिली होंगी, बल्कि किसी अपूर्व सौन्दर्य के चिन्तन क्रम में ये पंक्तियाँ अनायास निकल गई होंगी। कविता के मौलिक गुण कल्पना के प्राचुर्य के कारण विद्यापति आदिकालीन हिन्दी साहित्य के कवि होते हुए भी छायावाद युग के समीप पड़ते हैं, अर्थात् वे नवीन युग के वैशिष्ट्य को भी अपने भीतर समाविष्ट किये हुए थे।

विद्यापति की काव्यचेतना परिवर्तनशील थी। वैष्णव भावना से संपन्न कवि तो वे थे ही। इस भावना ने भी उनकी प्रसिद्धि में सहायता पहुँचाई। युवावस्था में श्रृंगार रस की रचना करनेवाले कवि ने शान्त और भक्ति के पद भी लिखे हैं जो शिव और गंगा की स्तुति के रूप में पाये जाते हैं। दोनों ही स्थानों में निकले हुए उनके अदम्य उद्‌गार उनकी सरलता और निष्कपटता के द्योतक हैं। दिनकर इन्हें ही उनके काव्य की सबसे बड़ी शोभा मानते हैं। इसके उदाहरण में उन्होंने इस पद को रखा है- 'माधव हम परिनाम निराशा।'[1]

विद्यापति की भाषा पर विचार करते हुए दिनकर कहते हैं कि उनकी मातृभाषा तो मैथिली थी, पर वे बहुत बड़े भाषाविद् थे। विद्यापति की भाषा ही ब्रजबुलि के नाम से बंगाल आदि स्थानों में प्रचलित हैं, जिसमें रवीन्द्रनाथ ने भी अपनी प्रारंभिक रचनाएँ की हैं। विद्यापति ने जनभाषा को महत्त्व दिया-

'देसिल बयन सब जन मिट्ठा।'

उन्हें अपनी भाषा पर गहरी आस्था थी और आत्मविश्वास के साथ वे कहते थे उनकी भाषा उस बालचन्द के समान है जिसे दुर्जनों के हास का कोई भय नहीं। संस्कृत की तुलना में जनभाषा का यह सम्मान उनकी एक ऐसी विशेषता है जिसकी अब भी सार्थकता है।

उनकी भाषा के संदर्भ में यह बात विचारणीय है कि उनकी लोकप्रियता का कारण इसकी सशक्तता ही है। दिनकर के अनुसार "लोकप्रियता प्रेषणीयता की मात्रा पर

---

[1] वेणुवन, पृ 61

अबलंबित है। प्रेषणीयता की वृद्धि साधारणीकरण की शक्ति पर निर्भर करती है, और साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग जो प्रयोक्ता के अपनी भावशक्ति पर निर्भर करता है। जिनकी भावशक्ति प्रबल है उनकी भाषा उससे आप भावमय हो उठती है।"[1]

उनकी श्रृंगारिकता, सौन्दर्य-भावना, कल्पना, अनुभूति की सच्चाई और निर्भिक्ता और नैसर्गिकता ही उनके काव्य की आधारशिला हैं, जो भाषा-सामर्थ्य के कारण उन्हें लोकप्रिय और अमर बना सकी हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए दिनकर विद्यापति को हिन्दी के वृहत्त्रयी में एक मानते हैं-"हिन्दी के वृहत्त्रयी कौन हैं? तुलसी, सूर और विद्यापति अथवा तुलसी, सूर और कबीर? निर्णय आसानी से नहीं दिया जा सकता, यद्यपि मेरा निजी मत है कि वृहत्त्रयी की पंक्ति में तीसरे स्थान का अधिकारी विद्यापति को ही होना चाहिये।"[2] साथ ही विद्यापति की पदावली साहित्यिक को दृष्टि से अतुलनीय एवं लोक साहित्य की अतुल कृतियाँ मानते हैं। दिनकर के अनुसार संभवतः यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। दिनकर ने माना है कि- "विद्यापति की अक्षय कृति का आधार पदावली है और इसी के कारण छः सौ वर्षों से वे बिना किसी बाह्य अवलम्ब के भारतीय जीवन में जीवित चले आ रहे हैं।"[3]

6.3.1.5. कबीर

दिनकर के अनुसार बौद्ध धर्म हिन्दुत्व का ही परिष्कृत और परिमार्जित रूप था जिसने भारत में प्रचलित निगम मत को प्रधानता दी। इस मत ने मनुष्य को अधिक महत्ता दी है, बाह्याचारों का खण्डन किया है, आचरण की पवित्रता और आत्मा की शुद्धता तथा

---

1 वेणुवन, पृ 68
2 वेणुवन, पृ 57
3 वेणुवन, पृ 62

ज्ञान को प्रमुखता दी है। इसी कड़ी में कुछ ऐसे साधक कवि उत्पन्न हुए जिन्हें भक्त, क्रांतिदर्शी, समाज-सुधारक और भक्त थे। कबीर पन्द्रहवीं शताब्दी के सबसे महान् क्रांतिकारी व्यक्तित्व हुए हैं-"कबीरदास भारत के अत्यन्त महान क्रांतिकारी पुरुष हुए हैं। उनकी बड़ाई केवल इसी बात के लिए नहीं है कि उन्होंने साहसपूर्वक, हिन्दुओं और मुसलमानों को आँखों में उँगली डालकर, उन्हें यह समझाया कि मन्दिर और मस्जिद के सवाल पर झगड़ने से बढ़ कर मूर्खता का कोई और काम नहीं हो सकता; अपितु इसलिए भी कि संस्कृत के विरुद्ध भारत में नवीन भाषा की पताका फ़हरायी और संस्कृति का जो नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, उसे उन्होंने निम्न वर्ग के लोगों के हाथों पहुँचा दिया।"[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इन्हें पन्द्रहवीं शताब्दी का सबसे शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक व्यक्ति माना है। उनका कहना है कि वे एक विभिन्न धर्मसाधनाओं और मनोभावनाओं की युगसंधि के समय उत्पन्न हुए थे।"[2] उन्होंने इस युग की परस्पर विरोधी स्थितियों में समन्वय और सामंजस्य लाने का जो प्रयास जनभाषा ने किया, वह किसी युगपुरुष से ही संभव था। हिन्दू-मुसलमान, साधु-असाधु, योगी-वैष्णव एवं ज्ञान-भक्ति के विभिन्न मिलन-बिन्दुओं को उन्होंने अपने आप में समाविष्ट कर लिया था। तभी तो उन्होंने गहन आत्मविश्वास के साथ अत्यन्त तीव्र भाषा में अपने आदर्शों और विश्वासों को जनमानस से दूर-दूर तक स्थापित करने की कोशिश की।

विशिष्ट कवि के व्यक्तित्व से प्रकाश की जैसे अनेक किरणें फूटती हैं और चतुर्दिक फैलकर ज्योति प्रदान करती हैं, वैसे ही कबीर के व्यक्तित्व से जो प्रकाश निकला, उसकी किरणें आज भी धूमिल नहीं हुई हैं। बल्कि, आज भी जीवन के लिए तो कबीर के विश्वासों की उपादेयता और भी बढ़ गई है। भविष्य कदाचित् तुलसीदास के पक्ष में कम, कबीर की ओर कुछ अधिक है।[3] दिनकर ने कबीर के व्यक्तित्व के उस सभी पहलुओं पर

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 279-280

2 हिन्दी साहित्य(उसका उद्‌भव और विकास, पृ. 74-75

3 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 290

विचार किया है जो उन्हें महान् बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। कबीर की पृष्ठभूमि पर उन्होंने लिखा है-"बुद्ध के पहले भारत में संस्कृति की एक धारा थी जिसे हम वैदिक संस्कृति के नाम से जानते हैं। किन्तु बुद्ध के बाद दो धाराएँ बहने लगीं।"[1] उनके अनुसार यह दूसरी धारा बुद्ध का अवदान है और अपने स्वभाव से मानवतावादी है। "यह धारा वर्णाश्रम धर्म में मौलिक सुधार चाहती है अथवा क्रांतिपूर्वक उसे मटियामेट कर देना चाहती है। इस धारा के ऋषि बुद्ध हैं और कवि कबीर, दादू और रवीन्द्र हैं। इसके अद्यतन प्रतीक महात्मा गाँधी हुए हैं।"[2]

इस प्रकार, वे कबीर की धार्मिक प्रवृत्ति को आधुनिक युग के अत्यन्त निकट मानते हैं। कबीर ऐसे धर्म-प्रणेता थे जो हिन्दू और मुस्लिम(इस्लाम) किसी भी धर्म को महत्त्व न देकर असली धर्म रहस्यवादियों को धर्म मानते थे। वे मंदिर और मस्जिद से भिन्न संपूर्ण सत्ता में निहित परमात्मा को खोजने और उसके पास पहुँचने की सलाह लोगों को देते थे। वे धर्म की कसौटी धार्मिक आचरण को मानते थे।"[3] धर्म के मामले में इनका स्वर विद्रोही था। इन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों को फटकार बतलायी तथा धर्म के बाह्याचारों की निन्दा की। वे तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ, कंठी-चंदन, रोजा-नमाज और मंदिर-मस्जिद के विरोधी, क्योंकि उनका विश्वास था कि धर्म के बाहरी लक्षण धर्म के वास्तविक रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे मनुष्य का ध्यान धर्म के उस मूल उत्स तक ले जाना चाहते थे, जहाँ से सभी धर्मों का जन्म होता है। धर्म का मूल उद्देश्य है मनुष्य की आत्मा को परमात्मा की ओर ले जाना और कबीर ने जोरदार शब्दों में यह बात कही है।"[4]

वे परिमार्जित हिन्दुत्व के ही समर्थक थे। दिनकर के शब्दो में ".....बुद्ध से लेकर कबीर तक भारत में जो धार्मिक कोलाहल रहा वह हिन्दुत्व के ही आत्ममंथन का नाद था

---

1 साहित्यमुखी, पृ. 132-133
2 साहित्यमुखी, पृ. 133
3 वेणुवन, पृ. 42
4 वेणुवन, पृ. 42

और इस आत्ममंथन का नाद था और इस आत्ममंथन के फलस्वरूप धर्म का जो रूप प्रकट हुआ, वही अभिनव हिन्दुत्व है।"[1] यह बात सच में आश्चर्यजनक है कि अभिनव हिन्दुत्व का स्वरूप सबसे पहले कबीर जैसे संत में प्रकट होता है।

कबीर ने दोनों धर्मों की कटुता को मिटाने के लिए उन पर भी तीव्र प्रहार किया था। दोनों को एक करने की अथक चेष्टा की थी। यह बात अलग है कि इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली, पर इससे इतना तो निश्चित रूप से हुए कि उनके विचार आज तक भारतीय जीवन में सुनाई पड़ रहे हैं- "कबीर ने जो यह मंत्र फूँका कि हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों के दोनों अधूरे धर्म हैं तथा राम और रहीम को एक न मानना बिल्कुल मूर्खता की बात है, वह काल के श्रवणरंध्रों में ऐसा बस गया कि उनकी गूँज हम अनेक सदियों में सुनते आये हैं।"[2] इसी अर्थ में दिनकर ने उन्हें भविष्यद्रष्टा भी कहा है और हिन्दु-मुस्लिम एकता का सबसे बड़ा पैगम्बर भी। दिनकर के अनुसार उन्होंने एक ऐसे धर्म की प्रस्तावना की जो प्रचलित धर्मों के ऊपर था। इसे ही राधाकृष्णन ने आत्मा का धर्म कहा है। आत्मा का यह धर्म ही दूसरे शब्दों में मानव धर्म भी कहा गया है और कबीर ने इसका ही स्वप्न देखा था। वे उस ऊँचाई तक पहुँचे हुए थे जहाँ से विश्व के सभी धर्म उत्पन्न होते हैं। यही कारण है कि कबीर को दिनकर ने मतवादों से ऊपर उठा हुआ संत माना है।"[3] उन्होंने कबीर को उस भक्त की कोटि में रखा है जो समन्यवादी है।

आधुनिक अर्थ में कबीर समाजवादी थे और सामाजिक विषमता के मूल में मनुष्य के अहंकार को मानते थे। अहंकार का त्याग वे संत और गृहस्थ, दोनों के लिए आवश्यक मानते थे। अहंकार का त्याग वे संत और गृहस्थ, दनों के लिए आवश्यक मानते थे। कबीर ने ऐसे समाज की कल्पना की थी जिसमें गार्हस्थ्य और सन्यास, दोनों का सम्यक् संतुलन हो। सन्यासी उत्तम कोटि का मनुष्य होता है, क्योंकि उसमें लोभ, स्वार्थ और संचय की

---

1 वेणुवन, पृ. 73

2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 280

3 वट-पीपल, पृ. 98

वृत्ति नहीं होती। गृहस्थ के लिए भी इस वृत्ति की आवश्यकता है। इन्होंने सन्यासी के लिए भी कर्म की महत्ता पर जोर दिया। कहा जाना चाहिए कि भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनों का समन्वय कबीर की विशेषता है।

स्वाभाविक है कि जो कवि मानवमात्र के धर्म की एकता में विश्वास रखता हो वह धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों की आलोचना करे, उसकी कविता में समाज-सुधार के स्वर के उद्घोष हो। सामाजिक विषमताओं, रूढ़ियों, धार्मिक मतवादों बाह्याचारों का खंडन कबीर ने बुद्ध, मंसूर और सरमदं की निर्भीकता से किया था। यद्यपि कबीर ने विभिन्न धर्मों की आलोचना की लेकिन उसका अर्थ यह नहीं होता कि उन पर अपने युग के प्रचलित धर्मों की आलोचना की लेकिन उसका अर्थ यह नहीं होता कि उन पर अपने युग के प्रचलित धर्मों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। उनकी साधन पद्धति में दिनकर ने भारतीय वेदान्त और ईरान के सूफ़ीमत का प्रभाव माना है।"[1] उन्होंने कबीर को बाह्य प्रभाव के उदाहरण के रूप में उनके मृत्यु सम्बन्धी दृष्टिकोण की चर्चा की है। मृत्यु को कबीर आदि निगुनियाँ संतों ने ईश्वर तक पहुँचने के लिए आवश्यक मान है। यह भाव कबीर में ईरानी सूफ़ियों से आया है। भारत में यह भाव था ही नहीं। अगर यह भारत में होता तो संस्कृत और प्राचीन हिन्दी कवियों में भी पाया जाता। इसके विपरीत यह उर्दू के कवियों में ही पाया जाता रहा है। अतः इसके लिए कबीर ईरान सूफ़ी धारा के ऋणी हैं।

कबीर की भाषा जन सामान्य की भाषा थी पर विशेष कर वह साधुओं की भाषा के निकट थी। उनकी भाषा में जो क्लिष्टता है उसके कारणों पर दिनकर ने प्रकाश डाला है। इन्होंने कबीर की भाषा में अस्पष्टता और दुरूहता का कारण ऊँचे भाव के अनुकूल समर्थ भाषा का तत्कालीन साहित्य में अभाव माना है न कि कबीर की निजी अभिव्यक्ति अक्षमता। कबीर अनुभव के जिस स्तर पर कार्य कर रहे थे, वह योग और अध्यात्म का था और काव्य के क्षेत्र में उस स्तर की अभिव्यंजना की परम्परा लोक भाषा में उपलब्ध नहीं थी-"इनकी दुरूहता भाषा के दुष्प्रयोग अथवा व्याकरण की अवहेलना से उत्पन्न नहीं हुई,

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 325

बल्कि वह भाषा की असमर्थता का परिणाम है। कबीरदास योग अथवा अध्यात्म की जिस ऊँचाई से बोल रहे हैं, उसकी अभिव्यक्ति के योग्य भाषा उपलब्ध नहीं दिखती। किन्तु कबीर की अनुभूति सच्ची थी, यह इस बात से प्रमाणित है कि कवि के भीतर अभिव्यक्ति की खोज है। वह किसी-न-किसी गूढ़ स्थिति का हमें आभास देना चाहता है, किन्तु सम्यक् भाषा के अभाव में वह अपनी बात पूरी स्पष्टता के साथ नहीं कह पाता।"[1] कबीर की दुरूह पंक्तियों में भी साहित्य के लिए आदर की वस्तु सब दिन रही है।

कबीर के सम्बन्ध में दिनकर की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह लगती है कि कबीर को गार्हस्थ्य और अध्यात्म के ऐसे समन्वयकारी अवतारी पुरुष के रूप में मानते हैं जिन्होंने गौतम बुद्ध को निवृत्तिवादी परम्परा के विरुद्ध भारतीय जीवन जो प्रवृत्ति की ओर लाने की चेष्टा की और इसी अर्थ में वे वेद के अनुयायी एवं जनक की परम्परा के संत थे जिन्होंने योग और भोग का समन्वय किया था-"कबीर और नानक ने ब्याह का बहिष्कार नहीं किया, इसे भी हम सिद्धों के जीवन से ली हुई शिक्षा मानते हैं.....यही वह पृष्ठभूमि हुई जिससे प्रेरणा लेकर कबीर और नानक ने गार्हस्थ्यवृत्ति स्वीकार की।"[2] "बुद्ध वेद से बहुत दूर चले गये थे, किन्तु, कबीर और नानक का मार्ग गार्हस्थ्य की स्वीकृति के कारण वेद के निकट का मार्ग हुआ। वह, बहुत कुछ जनक के मार्ग का ही परिवर्तित रूप था।"(संस्कृति के चार अध्याय, पृ. २०३) इतना ही नहीं, वज्रयानी काम और अध्यात्म के संघर्ष में कोई राह भी नहीं निकाल पाये थे और दार्शनिक अनुभूतियों के अनुकूल समर्थ भाषा भी नहीं पा सके थे। कबीर ने इन दोनों कार्यों को पूरा किया। उन्हें काम और अध्यात्म के समन्वय की भी राह दिखलाई पड़ी थी और दार्शनिक एवं अनुकूल भाषा भी लगभग पा ली थी।

इस तरह दिनकर के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि कबीर इतिहास के ऐसे इने-गिने पुरुषों में एक थे जिन्होंने अपने स्वतंत्र चिन्तन की कसौटी पर प्राप्य मूल्यों,

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 128

2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 203

विश्वासों और आचारों को परखा तथा मानव मात्र के लिए समान रूप में उपयोगी जीवन मार्ग की कल्पना की जिसमें बुद्ध का अहिंसावाद और वेद का योगवाद एक बिन्दु पर मिला दिखाई पड़ता है-"भारतीय धर्म के इतिहास में कबीर का महत्त्व बहुत बड़ा है। धर्म को उन्होंने सप्ताह में एक या दो दिन का कृत्य नहीं माना, न उन्होंने उसे मन्दिर अथवा योगासन पर की जाने वाली क्रियाओं तक ही सीमित किया। कबीर धर्म जो जीवन की प्रत्येक साँस में अवस्थित करना चाहते हैं। उनकी कल्पना का धार्मिक मनुष्य वह है, जो धर्म के सिवा और कुछ कहता ही नहीं। उसकी प्रत्येक क्रिया पूजा की क्रिया होती है। उसका हर एक कदम तीर्थ में पड़ता है। दूर से देखने पर कबीर भी निवृत्तिवादी ही दिखायी देते हैं, किन्तु, प्रवृत्ति की दिशा में उन्होंने एक बहुत बड़ी क्रांति की। हमारे सम्पूर्ण, दैनिक सामान्य जीवन को धर्म-साधना का माध्यम बताकर उन्होंने धर्म के भीतर संसार को प्रतिष्ठित किया जिसका सभी धर्माचार्य बहिष्कार करते आये थे।[1] कबीर ऐतिहासिक व्यक्ति हैं पर उनके स्वप्न की प्रासंगिकता आज भी बनी है जैसे कबीर ने आज की स्थिति को ध्यान में रखकर रचना की है। वह आज भी हमारा प्रेरक तत्त्व है।

6.3.1.6. तुलसीदास :

गोस्वामी तुलसीदास दिनकर के सर्वाधिक प्रिय कवियों में से एक हैं, जैसा कि उन्होंने अपनी एक भेंटवार्ता में कहा है।"[2] "लोक-समाहार के महा समर्थ कवि गोस्वामी तुलसीदास जी हुए जो अपने समय से लेकर आज तक जनता के हृदय पर एकछत्र राज्य

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 203

2 दिनकर-सृष्टि और दृष्टि, पृ. 29

करते आ रहे हैं। तुलसीदास केवल कवि नहीं हैं उनका हिन्दू-संस्कृति के रक्षक, त्राता और उद्धर्त्ता का स्थान है। नैतिक विषयों पर धर्मशास्त्रों का कहाँ क्या कहना है, यह जानने की चिन्ता उत्तर भारत में अधिक नहीं है। वहाँ की जनता प्रत्येक विषय केवल तुलसीदास की राय जानना चाहती है। तुलसीदास पर जनता का ऐसा अटल विश्वास है कि राजा, नेता और फ़कीर, इनमें से जो भी तुलसी के खिलाफ़ होगा, जनता उसके खिलाफ़ हो जाएगी। अवश्य ही, ऐसा सम्मान वही कवि पा सकता है जिसने अपने देश की संस्कृति के कण-कण को अपने भीतर पचा लिया हो और जिसका हृदय अपार जनता के हृदय से बिलकुल एकाकार हो। तुलसीदास ऐसे ही कवि हुए हैं, अतएव, उनके प्रसंग में महत्त्व केवल उतने का ही नहीं है जिसे कहने का उन्हें अवसर मिला, बल्कि महत्त्वपूर्ण बातें वे भी हैं जो उनके कहने से छूट गयी।"[1] उनके कवि-व्यक्तित्व के निर्माण में तुलसीदास का बहुत अधिक हाथ था क्योंकि उनकी मानसभूमि पर जब कवितालता के अंकुर फूट रहे थे, उस समय वे तुलसी साहित्य का परायण कर तन्मयता का अनुभव करते थे। साहित्य-साधना के क्रम में उनका भारत तथा विश्व के अनेक साहित्यकारों से हुए पर तुलसी ने उनके मानस-मंदिर में जो स्थान बनाया, वह अक्षुण्ण रहा। यही कारण है कि साहित्य-चर्चा के प्रसंगों में वे बारम्बार तुलसी की महत्ता का उल्लेख करते हैं। अपनी आलोचना-पुस्तकों और निबंधों में उन्होंने सर्वत्र तुलसी के महत्त्व का आख्यान किया है। 'मिट्टी की ओर' एवं अन्य अनेक स्थलों पर उन्होंने कहा है कि तुलसी, मीरा और कबीर के जोड़ का साहित्य विश्व में खोजने से ही मिलेगा। तुलसी की सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए दिनकर उन्हें वर्णाश्रम धर्म का समर्थक साहित्यकार कहते हैं- "बुद्ध के समय से भारत में संस्कृति की दो धाराएँ बहुत स्पष्ट रही हैं। एक धारा वह है जो वेदों, पुराणों, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में है तथा जो धर्म के स्मृत रूपों पर श्रद्धा रखती है। इस धारा के आचार्य मनु और शंकर हुए तथा उसके कवि कालिदास, जयदेव,

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 288

विद्यापति और तुलसीदास हैं।"[1] अभिप्राय यह है कि तुलसी ने परम्परागत वर्णाश्रम धर्म का समर्थन किया है-"तुलसीदास के विष में दृढ़तापूर्वक कहने योग्य बात केवल यह है कि वे निगमागम-सम्मत हिन्दुत्व के कट्टर पक्षपाती थे और वर्णाश्रम-धर्म की किंचित भी अवज्ञा उन्हें पसंद नहीं थी।"[2] दिनकर ने मूलतः तुलसीदास को सगुणोपासक भक्त कवि माना है। यह बात सही है कि उन्होंने 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा' कहकर सगुण और निर्गुण के उपासकों के मतभेदों को मिटाना चाहा है, किन्तु उस समय के प्रचलित अनेक मतवादों और सम्प्रदायों के बीच उन्होंने सगुण रूप को ही महत्ता दी है। अपने साहित्य के द्वारा उन्होंने भारतीय जीवन को सगुण भक्ति के रस में सरोबोर कर दिया है। दिनकर के अनुसार ऐसे लोगों के प्रति तुलसी में असहिष्णुता का भाव था, जो जनता का ध्यान सगुन रूप की अपेक्षा निर्गुण की ओर ले जाना चाहते थे। इसके कारणों पर भी दिनकर ने सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है और कहा है कि इन पंथों के फेर में पड़ी सामान्य जनता निराकारवाद के सूक्ष्म तत्त्वों को समझने में भी असमर्थ थी और साकार की उपासना कर अपने हृदय को निर्मल करने में भी। इसलिए आवश्यकता इस बात की थी कि साकार ब्रह्म का ऐसा रूप खड़ा किया जाये कि जनता आस्तिक बन सके। दूसरा कारण वे यह मानते हैं कि तुलसी ने अज्ञान में पड़ी हुई जनता को मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय मार्ग से भक्ति की शिक्षा देने के लिए राम के सगुण रूप की कल्पना की। तुलसी के युग में वीरता और उत्साह का ह्रास था अतः जन-जीवन में ओज, उत्साह, आशा और आत्मविश्वास का तेज भरने के लिए ही तुलसी ने पुरुषोत्तम राम के ओजस्वी व्यक्तित्व की कल्पना की.....उनके राम दशरथ सुत हैं। पुरुषोत्तम राम के ओजस्वी व्यक्तित्व की कल्पना करते समय उनमें अद्‌भुत उत्साह, एक सचेष्ट निर्द्वन्द्वता, एक प्रकार की शालीन वीरता का तेज दिखलाई पड़ता है।"[3] किन्तु यह वीरता शालीन वीरता थी। इस दृष्टि से दिनकर ने

---

1 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 290
2 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 288
3 संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 321

उनकी तुलना, आधुनिक काल के रामकृष्ण परमहंस से की है जिन्होंने जनता में शालीन वीरता की चेतना उत्पन्न की। दिनकर के अनुसार तुलसी का आविर्भाव हिन्दू-धर्म को पुनर्जीवन देने के लिए हुआ था। उनका साहित्य हिन्दुत्व की रक्षा के लिए किये गये प्रयास का परिणाम कहा जा सकता है- "इसलिए वे हिन्दुत्व के परम त्राता और अन्यतम रक्षक माने जाते हैं।"[1]

दिनकर गोस्वामी तुलसीदास और उनके साहित्य की अक्षुण्ण लोकप्रियता के कई कारणों का उल्लेख करते हैं। तुलसी का आविर्भाव सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। आज हमारा समाज तुलसी की कल्पना के समाज से बहुत आगे बढ़ गया है किन्तु फिर भी तुलसी की महत्ता निर्विवाद मानी जाती है।" तुलसी की महत्ता की अक्षुण्णता का एक कारण उनकी लोकप्रियता है। उत्तर भारत के सामान्य जनसमूह का तुलसीदास पर अटल विश्वास है। अपार जनता के हृदय से जैसे उनका हृदय एकाकार हो गया था। फलतः जनता धर्मशास्त्रों को उलटने नहीं जाती, नैतिक विषयों पर तुलसी की राय ही उनके लिये अलम है। तुलसी के विरोधी व्यक्ति को भी जनता सहन नहीं कर सकती। इस तरह वे एक, जननायक, लोकनिर्माता गुरु, जनता के मार्गदर्शक, नीतिशास्त्री, समाज-सुधारक आदि आसनों पर विराजमान हैं।" उनका काव्य भारतीय संस्कृति, धर्म और मूल्य दृष्टि का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है। रामचरितमानस का सम्मान उसी तरह होता है, जैसे अंग्रेजी अथवा फ़ारसी के धर्मग्रन्थों का। इसका कारण यह है कि इसमें कई हजार वर्षों की हिन्दू-संस्कृति और धार्मिक चिन्तन का सार समाविष्ट है।" भारत के धर्म को सर्वाधिक अभिव्यक्ति इनके साहित्य में मिली है। इस अर्थ में इन्हें सच्चे राष्ट्रकवि की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है।" रामचरितमानस इस बात का प्रमाण भी है कि हिन्दी कवियों की दृष्टि साम्प्रदायिक नहीं है।" यह ठीक है कि तुलसीदास ने कबीर की तरह हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा नहीं दिया था क्योंकि वे हिन्दू और मुस्लिम समाज को

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 288

अलग मानते थे पर रहीम खानखाना उनके परममित्र थे और उन्होंने भी रामचरितमानस की प्रशंसा मुक्तकंठ से की है। इसे हिन्दुओं के लिए वेद और मुसलमानों के लिए कुरान कहा है।" मुसलमानों के लिए उनके मन में कोई बुरा भाव नहीं था और मुसलमान भी हिन्दू की भाँति उनका आदर करते थे। यद्यपि रामचरितमानस में भारतीय परम्परा पूर्णतः सुरक्षित है पर वह इतिहास का पुनराख्यान न होकर अपने युग और परिवेश का प्रतिबिम्ब है। वाल्मीकि रामायण और 'रामचरितमानस' की भिन्नता भी इसी बात को लेकर है की दोनों कथा और पात्र की दृष्टि से एक होते हुए भी दोनों के युगबोध और मूल्यों में अन्तर है।"

दिनकर तुलसी की विशिष्ट प्रतिभा के भी कायल हैं। भावना और ज्ञान दोनों का प्राचुर्य उनमें था किन्तु उनमें कभी यह हीन भावना नहीं पनपी कि उन्होंने अपने को मात्र भावनाओं तक ही क्यों सीमित रखा, अपने साहित्यिक कृतित्व से जनजवीन को क्यों प्रभावित किया। उन्होंने स्वान्तः सुखाय ही रामचरित का गान किया था किन्तु उनकी अनुभूति समझ की अनुभूति भी थी अतः उनकी रचना बहुजन हिताय बन गई। इनके साहित्य में विचारों का प्राचुर्य है पर गान से वे आत्मिक सुख का अनुभव करते थे। अपने कवित्व के आधार के रूप में उन्होंने अपने उपास्य और उनकी लीलाओं के दार्शनिक, नैतिक अभिप्रायों के साथ अलौकिक सौन्दर्य को ग्रहण किया है। उनकी विशिष्ट प्रतिभा से सौन्दर्य के जो चित्र निसृत हुए हैं, वे जीवन्त और प्रभावशाली हैं। दिनकर के अनुसार इस बात के प्रमाण उनकी ये पंक्तियाँ हैं-

"जहँ बिलोकु मृग शावक नैनी
जनु तँह बसि कमल-सित श्रेनी।"

तथा -

"सुन्दरता कहँ सुन्दर करई।
छवि गृह दीप सिखा जनु बरई।"

प्रखर सौन्दर्य चेतना के अतिरिक्त उनकी अन्य विशेषताएँ हैं- चित्रात्मकता, लोक सामान्य हृदय से तादात्म्य और सम्प्रेषणीयता। उन्होंने प्रकृति, मानव और मनोभावों के सशक्त चित्र अंकित किये हैं। राम, सीता दशरथ और रावण सभी पात्र कवि की कल्पना से उद्‌भूत हुए हैं किन्तु अपने सजीव चित्रण के कारण वे पूर्णतः वास्तविक लगते हैं और पाठक या दर्शक इनके साथ पूर्णतः तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं। श्रृंगार, करुण, वीर, रौद्र, आदि रसों की तुलसीकृत अवधारणा भी पाठकों में अपने अनुरूप भावना उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हैं। तुलसी की संप्रेषणीयता का एक बड़ा उदाहरण रामचरितमानस की लोकप्रियता है। दिनकर कहते हैं- "महात्मा तुलसीदास ने मानस की रचना स्वांतः सुखायः से आरंभ की थी, किन्तु, उनकी प्रत्येक अनुभूति हम में से प्रत्येक के हृदय में अपनी झंकार उत्पन्न करने में पूर्णरूप से समर्थ है।" इसका कारण यह है कि "अपनी अनुभूति को सार्वजनिक अनुभूति से मिलाकर" वे लिखना चाहते थे। वस्तुतः तुलसी का महत्त्व अपनी मार्मिकता के कारण है। उनमें अलंकारों का अभाव नहीं, वरन् प्राचुर्य है किन्तु ये अलंकार अपने चमत्कार या कौशल के कारण नहीं, बल्कि अपने द्वारा उत्पन्न आनन्दमयी वेदना के कारण है।"

तुलसी की भाषा की शक्तिमता का एक कारण दिनकर उनका समन्वयवाद मानते हैं। उन्होंने अपने समय के प्रचलित सभी काव्य-रूपों और काव्य-पद्धतियों का ही समाहार नही किया बल्कि उनकी भाषा में उस समय के प्रचलित सभी तरह के शब्दों का समावेश हुआ है। उनमें उर्दू-फ़ारसी शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। दिनकर के शब्दों में- "तुलसीदास जो भाषा लिख रहे थे वह अत्यन्त सक्षम और समर्थ थी। अरबी-फ़ारसी के सान्निध्य से हिन्दी में जो एक नई शक्ति उत्पन्न हो रही थी, नया प्रवाह आ रहा था, उसे तुलसीदास ने अपने काव्य में स्थान दिया।" इस दृष्टि से तुलसी विधायक कलाकार और भाषा-मर्मज्ञ थे।

यद्यपि दिनकर ने तुलसी के व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन और कवित्व विशेषताओं का उल्लेख इतने समादर से किया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे तुलसी की सीमाओं की उपेक्षा कर जाते हैं। उन्होंने तुलसी की नारी विषयक दृष्टि की सीमा का संकेत किया है। लेकिन इस प्रसंग में वे यह भी कहते हैं कि गोस्वामी की नारी विषयक दृष्टि का एक कारण उनका मर्यादावाद है। पुनः उनकी नारी-दृष्टि का दूसरा पक्ष भी है। वह है इस जाति के चित्रण में अभिव्यक्त उनका पूज्य भाव : नारी के वासनोदीप्त रूप का वर्णन तुलसीदास ने भी नहीं किया है।.....तुलसीदास जी संत थे और समस्त नारी-जाति को कदाचित् वे माता के रूप में देखते थे।" इस तथ्य को उन्होंने छायावादी कवियों की नारी-दृष्टि के प्रसंग में कहा है।

6.3.1.7. बिहारी :

दिनकर ने कला की दृष्टि से रीतिकाल के महत्त्व की घोषणा करते हुए उस युग के महत्त्वपूर्ण कवि बिहारी का उल्लेख करते हैं। उनके सम्बन्ध में दिनकर की मान्यता है कि कला और कारीगरी की पूर्णता के कारण बिहारी की कविता पूर्णतः सफल है। कविता की सफलता भावों और विचारों की उच्चता पर ही नहीं, कला की पूर्णता पर निर्भर करती है।" वे कहते हैं कि 'बिहारी-सतसई' कला की दृष्टि 'रामचरितमानस' से घटकर नहीं है। रामचरितमानस यदि काव्य की दृष्टि से अदभुत और महान है, तो 'बिहारी सतसई' भी अपने स्तर पर अद्भुत और महान है- "बिहारी की कविताओं में से आलोचना का यह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता भाव या विचार की ऊँचाई से नहीं, प्रत्युत, कला और कारीगरी की पूर्णता से है। कविता रामचरितमानस में भी सफल हो सकती है और 'बिहारी सतसई' में भी और दोनों सफलताएँ अपने-अपने

स्तर पर अद्‌भुत और महान है।"[1] आधुनिक आलोचना-प्रणाली चित्रात्मकता को सर्वाधिक महत्त्व देती है और बिहारी चित्रात्मकता की दृष्टि से रीतिकाल के अन्य सभी कवियों से श्रेष्ठ हैं।"[2] इनके काव्य में जीवन की अनुभूति और ऊँची बातों का अभाव है, और रीतिकाल के अन्य कवियों में भी जीवन का ताप नहीं है। बिहारी का क्षेत्र परिमित है। दोहों की भूमि पर उन्होंने काम किया है। मुक्तक शैली को अपनाने के कारण बिहारी चित्रात्मकता में और भी सफल हैं। उनके चित्रों में कसावट और चुस्ती का कारण उनका मुक्तक(दोहा) का प्रयोग है।"[3]

दिनकर की उपर्युक्त स्थापना पूर्ववर्ती आलोचनाओं से किसी अर्थ में भिन्न पड़ जाती है। वे कहते हैं कि आधुनिक युग में काव्य में जीवन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है, किन्तु नई कविता अथवा शुद्ध कवित्व का जो नया आन्दोलन उठा, उस दृष्टि से बिहारी जैसे कवि का महत्त्व बढ़ जाता है। इसमें चित्रकारी का भी महत्त्व है। दिनकर इसी दृष्टि से रीतिकाल के कवियों का मूल्यांकन करते हैं- "चित्रकारी की कसौटी अगर कविता की बड़ी कसौटी है तो यह कसौटी रीतिकाल पर भी लागू की जानी चाहिए; क्योंकि यह एक ऐसी कसौटी है, जिस पर रीतिकाल के अधिक-से-अधिक कवि खरे उतरते हैं। और सच पूछिए तो ऐसी कसौटी की आशा में उन्होंने अपनी सारी-की-सारी कविताएँ लिखी होंगी। चित्रकला की कसौटी रीतिकाल के साथ न्याय करने की सबसे अनुकूल कसौटी होगी।"[4] दिनकर गर्व के साथ कहते हैं कि- "चित्रकारी केवल अंग्रेजी के इमैजिस्ट कवियों की ही थाती नहीं, उसका एक अतुल भंडार बिहारी और पद्माकर के भी पास है, प्रत्युत, यह कहना चाहिए कि रीतिकाल के हर एक कवि के पास यह दौलत

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 10
2 काव्य की भूमिका, पृ. 12
3 काव्य की भूमिका, पृ. 12
4 काव्य की भूमिका, पृ. 14

किसी-न-किसी मात्रा में मौजूद है।"[1] अन्य दृष्टियों से उनका रीति काव्य या बिहारी-सम्बन्धी मूल्याँकन परम्परागत ही है।

6.3.1.8. घनानंद :

दिनकर ने रीतिकालीन कवि घनानंद की काव्यगत विशेषताओं की विवेचना के क्रम में उनको भावपक्ष की दृष्टि से अपने युग का महान कवि कहा है। कला पक्ष की दृष्टि से भी वे बड़े कवि हुए हैं। इनके कथन में शुक्ल जी की धारणा की ध्वनि सुनाई पड़ती है जिसके आधार पर उन्होंने इन्हें रीतिकाल के अन्य कवियों में सर्वश्रेष्ठ माना है। इनमें भावाकुलता, प्रेम की अनुभूति की वेधकता, सौन्दर्य चेतना, विरह वेदना और सहजता है। इनमें लौकिक और अलौकिक दोनों कोटि का प्रेम विद्यमान है और यह प्रेमानुभूति ही उन्हें बेधकता प्रदान करती है- "घनानंद के पास शब्दाडम्बर नहीं, क्लिष्ट कल्पना नहीं, पांडित्य और आचार्यत्व नहीं, जो है वह केवल प्रेम की अनुभूति है।"[2] किन्तु दिनकर की घनानंद सम्बन्धी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह लगती है कि वे छायावाद के अग्रदूत हैं-"द्विवेदी युग की नीरसता के विरुद्ध कल्पनाओं और स्वप्नों की रंगीन कुहेलिका लिये हुई जो नई काव्य-शैली हिन्दी में आई, उसके अग्रदूत घनानंद ही थे। घनानंद की कविता में हमें प्रगतिमती हिन्दी कविता की पदचाप सुनायी पड़ती है। उनका एक पाँव रीति लोक में है, किन्तु, दूसरा बिल्कुल छायावाद के पास पहुँचता है।"[3] उनमें रीतियुग और छायावाद, दोनों की विशेषताएँ वर्त्तमान हैं। दिनकर यह भी मानते हैं कि घनानंद ने ब्रजभाषा में लिखा है, इसीलिए उन्हें हम रीतियुग के अन्तर्गत रख देते हैं। अगर घनानंद ने खड़ी बोली में कविता लिखी होती और पश्चिमी प्रभाव को स्वीकार किया होता तो उन्हें रीतिकालीन नहीं, छायावादी युग का पूर्व-पुरुष मानने में कोई कठिनाई नहीं होती-"यदि

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 14
2 काव्य की भूमिका, पृ. 19
3 काव्य की भूमिका, पृ. 18

घनानंद ने खड़ी बोली में लिखा होता तो सरलता से, वे छायावाद के पूर्व पुरुष मान लिये गये होते।"[1]

घनानंद की भाषा में अनुभूति को व्यंजित करने का जो सामर्थ्य है, उस दृष्टि से हिन्दी भाषा के सामर्थ्य पर दिनकर गर्व अनुभव करते हैं- "'धरनी में धसौं कि आकासहिं चीरौं ' की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकी। दो-ढाई वर्ष पूर्व हिन्दी में इतनी व्याकुलता व्यंजित करनेवाली पंक्ति लिखी जा चुकी थी। यह सोचकर अपनी भाषा पर गर्व होता।"[2]

दिनकर का कहना है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में घनानंद का जो महत्त्व है वह उन्हें नहीं दिया जा सका है-"हिन्दी-साहित्य के इतिहास में घनानन्द जिस स्थान के अधिकारी है, वह स्थान अभी उन्हें नहीं मिला है।"[3] आलोचकों ने घनानंद का सम्यक् मूल्याँकन नहीं किया है। वस्तुतः छायावादी कल्पनाशीलता, भावुकता और रोमांसप्रियता हिन्दी की अपनी परम्परागत वस्तु है।

6.4. .अन्य संदर्भ

दिनकर ने साहित्य से इतर विषयों पर भी अपनी लेखनी चलायी है। स्पष्ट है कि यह उनके चहुँमुखी प्रतिभा की ओर संकेत करता है। उन्होंने राजनीति, विज्ञान, मनोविज्ञान, अध्यात्म, दर्शन आदि पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका चिन्तन इन विषयों पर अधिकतर काव्य को केन्द्र में रखकर है। वे मानते हैं कि इन विषयों का प्रभाव काव्य पर परोक्ष अथवा अपरोक्ष से सदैव पड़ता रहता है।

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 24
2 काव्य की भूमिका, पृ. 18
3 काव्य की भूमिका, पृ. 18

6.4.1.1. दनकर के काव्य और राजनीति सम्बन्धी विचार

आदिम युग से ही मनुष्य अपने विकास के लिए प्रयत्नशील रहा है और ज्ञान की प्रत्येक शाखा की सहायता से वह उच्चतर विकास की ओर बढ़ता रहा है। राजनीति मनुष्य द्वारा विकसित ज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जिसमें मानव-जीवन और समाज को अधिक व्यवस्थित एवं पूर्ण बनाने की चेष्टा युगों से होती रही है। यह मानव समाज के व्यवस्थित, औचित्यपूर्ण और कल्याणकारी प्रशासन का दर्शन है जिसने मानव की विकास यात्रा में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है। राजनीति का दर्शन ही क्रियान्वित होकर राष्ट्र के भौतिक और सामाजिक जीवन और इतिहास को उच्चतर रूप प्रदान करता है।

दिनकर ने काव्य और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया है। इस पर विचार करने की प्रेरणा उन्हें इस बात से मिली है कि कुछ लोग काव्य को कला का अंग होने के नाते विचारों से अछूता रखने के पक्ष में है और काव्य को मात्र भावजगत् से संबद्ध मानते हैं। पर दिनकर के काव्य को जीवन से संबद्ध मानते हैं अतः काव्य और राजनीति के सम्बन्धों को उस सीमा तक स्वीकृति देते हैं, जिस सीमा तक राजनीति की सामाग्रियाँ साहित्यकार की अनुभूति का विषय बनकर आती हैं-कवि का प्रधान कर्म अनुभूतियों को ग्रहण एवं उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति है तथा जिस प्रकार उसकी आध्यात्मिक भावना एवं प्रेम-परक अनुभूतियाँ सुन्दर और सत्य होती हैं, उसी प्रकार राजनीतिक अवस्थाओं की भी उसकी स्वानुभूति राजनीति से भिन्न एवं शुद्ध साहित्य की वस्तु होती है।"[1] साहित्य और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों के मूल कारण वे यह मानते हैं कि दोनों का उद्‌गम स्थल जीवन है। विचार और भाव के स्तर पर जीने वाले मानव के लिए दोनों की महत्ता है। समाज के प्रबुद्ध वर्ग के लिए साहित्य और राजनीति दोनों आवश्यक है- "यह तो प्रबुद्ध जीवन के आवेगमय अभियान का दृश्य है जिसके जुए

---

[1] मिट्टी की ओर, पृ. 104

में साहित्य और राजनीति दोनों को अपनी गरदनें लगानी पड़ती हैं।"[1] वस्तुतः साहित्य और राजनीति दोनों जीवन के स्तर पर जुड़े हैं और मनुष्य जीवन के एक अनिवार्य अंश के रूप में उसकी उपेक्षा करके चलना जीवन के सत्य से आँखें मूँद कर चलना होगा। साहित्य में जीवन की विविधताओं का चित्रण होता है और राजनीति भी उसी का एक अंश है। दिनकर के अनुसार- "".....राजनीति उस जीवन का एक प्रमुख अंग है, जो अपनी पूरी विविधता के साथ साहित्य की व्याख्या का विषय होता है। जिस प्रकार साहित्य जीवन के अन्य अंगों से रसानुभूति प्राप्त करता है, उसी प्रकार राजनीति से भी वह रस ही ग्रहण करता है।"[2] कलाकार भी प्रबुद्ध व्यक्ति होता है और यह बात नहीं कही जा सकती कि वह जानबूझकर राजनीति में पड़ता है लेकिन युग-सत्य के प्रभावों से अपने को पूरी तरह अछूता रख पाना जागरूक और संवेदनशील व्यक्ति के लिए संभव नहीं होता। उसकी चेतना अनायास राजनीति को ग्रहण करती है। इसीलिए वे कहते हैं- "आदमी कलाकार उतनी ही देर है, जितनी देर वह कला की रचना में लगा हुए है। रचना से छूटकर विवेचना में पड़ते ही वह कुछ-न-कुछ राजनीति करने लगता है अथवा यों कहें कि अनजाने ही वह राजनीति की पकड़ में चला जाता है।"[3] इसमें संदेह नहीं कि जीवन-मंथन कलाकार और राजनीतिज्ञ दोनों का स्वभाव होता है। अन्तर है सिर्फ उनके माध्यम का। कला अथवा साहित्य का सम्बन्ध भौतिकता, कर्त्तव्य और व्यावहारिक जीवन से भी वे मानते हैं तथा कहते हैं कि जीवन के विकास की सामयिक स्थितियों और प्रभावों से कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति निरपेक्ष रह सके यह वाँछनीय नहीं कहा जा सकता। मनुष्य होने के नाते भी युग-सत्य ग्रहण उसका स्वाभाविक धर्म हो जाता है-"जिस कलाकार की आँखें खुली हुई हैं, जिसमे मनुष्यता का कोई भी अंश शेष है, जिसके कान संसार के आर्त्तनाद को सुन रहे हैं, जो अपने युग में अच्छी तरह जी रहा है तथा जो सदैव जागरूक और

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 88
2 मिट्टी की ओर, पृ. 88
3 वट-पीपल, पृ. 121

चैतन्य है, वह चाहे जहाँ भी रहे उसका हृदय उभरेगा ही, उसकी भुजाएँ फड़केंगी ही और मार्क्स का साहित्य वह पढ़े न पढ़े, किन्तु, अपनी अनुभूतियाँ वह उसी वेग से लिखेगा जिस वेग से जीवन अपने अभियान की तैयारी करता है।"[1] "जब दुनिया में चारो ओर आग लग गई हो, मनुष्य हिस्टीरिया में मुब्तिला हो और कौमें पागल कुत्तों की तरह आपस में लड़ रही हो, जब पराधीन जातियाँ अपनी तौकें उतार फेंकने के लिए बड़े-बड़े आन्दोलन चला रही हों और साम्राज्यवाद उन्हें कसकर बाँधने के लिये नई-नई कड़ियाँ गढ़ रही हो, जब युद्ध के अन्त नये युद्ध के बीज बो रहे हों और मिनट-मिनट पर हृदय को हिला देने वाले संवाद कान में पड़ रहे हों, तब कौन ऐसा कलाकार है जो अपनी वैयक्तिक भावनाओं को उचित से अधिक महत्त्व देने की धृष्टता करेगा? क्रान्ति, विप्लव और संघर्ष के समय में नैतिकता के साधारण नियम अप्रमुख हो जाते हैं।"[2] तात्पर्य यह है कि जीवन के विशाल क्षेत्र का कोई भी विषय कला का अंग बनकर कलात्मक अभिव्यक्ति बन सकता है। राजनीति भी उन सामाग्रियों में महत्त्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी होकर कला की सौन्दर्यपरक सामाग्रियों के समकक्ष आ सकती है।

सार्वजनिक कल्याण साहित्य और राजनीति दोनों का लक्ष्य है। शिवम् की भावना से अनुप्राणित होने पर दोनों का समयोग कहीं न कहीं होगा ही- "राजनीति हो या साहित्य, सार्वजनीन कल्याण को लक्ष्य बनाकर चलने पर वे कहीं-न-कहीं आपस में मिल ही जायेंगे।"[3] सत्य और शिव साहित्य के भी उपकरण हैं और राजनीति के भी। अन्तर मात्र इतना कहा जा सकता है कि कला का एक आवश्यक उपकरण सौन्दर्य है। सत्य और शिव के साथ सौन्दर्य स्वतः मिश्रित होकर आता है। यदि यथार्थ का सौन्दर्य से समन्वय कला का धर्म हो सकता है तो राजनीति भी उसके अन्तर्गत अग्राह्य नहीं कही जा सकती। इस सम्बन्ध में निषेध का रुख़ साहित्यकार को संकीर्ण धरातल पर ला सकता

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 88
2 मिट्टी की ओर, पृ. 79-80
3 मिट्टी की ओर, पृ. 46

है। वस्तुतः उनकी दृष्टि में यह धारणा ही गलत है कि कला के अन्तर्गत कोमल कल्पना और सौन्दर्य की ही उपासना हो, कुरूपता और कठोरता का चित्रण न हो। इस प्रसंग में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि "मैं यह नहीं मानता कि कला के उपासक अनिवार्य रूप से राजनीति के वृत्त से बाहर ही हैं।"[1]

दिनकर ने साहित्य से राजनीति के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के संदर्भ में, स्वर्गीय माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन जी एवं पंत जी जैसे विचारक कलाकारों का उल्लेख किया है, जिनकी राजनीतिक अनुभूतियाँ काव्य-कला की अनुपम देन बन गई हैं। इनके काव्य से प्रमाणित होता है कि एक ही अवस्था की अनुभूति राजनीतिज्ञों में राजनीति का विषय बनती है और कवि में रसमयी कविता। साहित्य-जगत् में इस बात के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। ऐसी सामाग्री को राजनीति मानकर निष्कासित नहीं किया जा सकता।

काव्य और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों को दिनकर ने ज़ोरदार शब्दों में स्वीकृति दी है पर वे साहित्य को राजनीति से अधिक ऊँची वस्तु मानकर उसकी स्वतंत्र सत्ता का उद्घोष करते हैं। इनके शब्दों में- "साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं, वरन् उससे भिन्न एक स्वतंत्र देवता है.....।"[2] प्रगतिवादी साहित्य जिसे कहा गया है, उसमें यह विश्वास दिखलाई पड़ता है कि साहित्य के माध्यम से राजनैतिक सिद्धान्तों का प्रचार भी किया जाये। दिनकर इस बात का खण्डन करते प्रतीत होते हैं। एक तो साहित्य की स्वतंत्र सत्ता है। दूसरी बात यह कि उसका क्षेत्र भी राजनीति की अपेक्षा व्यापक है। साहित्य जीवन की संपूर्णता की तलाश है तो राजनीति उसकी एक इकाई मात्र। इतना ही नहीं, साहित्य का जन्म आत्मा की प्रेरणा से होता है। प्रत्येक कवि का अपना जीवन-मूल्य, आस्था और विश्वास होता है जिसके प्रतिकूल साहित्यकार चल नहीं सकता। साहित्य के अपने मानदंड और आदर्श हैं जिनकी परिधि व्यापक होती है। अतः राजनीति के प्रचार का काम साहित्यकार द्वारा करवाया जाये, यह न तो संभव है न उचित ही-"साहित्य जहाँ

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 45

2 मिट्टी की ओर, पृ. 104

तक अपनी मर्यादा के भीतर रहकर जीवन के विशाल क्षेत्र में अपना स्वर ऊँचा करता है, वहाँ तक वह पूज्य और चिरायु है, किन्तु जभी वह राजनीति का अनुचरता स्वीकार करके उसका प्रचार करने लौटेगा तभी उसकी अपनी दीप्ति छीन जाएगी और वह कला का के उच्च पद से पतित हो जाएगा।[1] "सामाजिक आवर्त्तों का प्रभाव कवि पर भी पड़ता ही है, लेकिन, अगर जान-बूझकर वह आन्दोलन, कानून और संघों के द्वारा किसी वाद-विशेष की उपासना के लिये लाचार किया जाय तो यह उसके साथ और समग्र साहित्य के साथ सरासर अन्याय है।"[2] साहित्यकार की अनुभूति किसी सिद्धान्त या नियम का अनुसरण करके नहीं चलती बल्कि अपनी प्रेरणा के आदेशों का अनुसरण करके चलती है। इसलिए दिनकर बार-बार इस बात को दोहराते हैं कि संध, आन्दोलन, कानून प्रचार ये राजनीति के अस्त्र हैं, साहित्यकार इसके दायरे में आवे ही यह आवश्यक नहीं है। इसके साथ ही यह बात भी विचारणीय है कि राजनीति का प्रचारक बनकर साहित्य दीर्घायु नहीं हो सकता। इसलिए वे इस बात पर चिन्ता व्यक्त करते हैं- "राजनीतिक आन्दोलनों की रणभेरी बनकर साहित्य जीवित रह सकेगा या नहीं, यह विषय चिन्त्य है।"[3]

साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं बनता किन्तु उसे यह गौरव प्राप्त है कि राजनीति को भी अपने रंग में रंग देता है। निष्कर्षतः दिनकर यह मानते हैं कि राजनीति साहित्य का द्रोही न होकर एक ऐसी धारा है जो साहित्य में आकर परिवर्तित हो जाती है।

अस्तु, यह कहा जा सकता है कि दिनकर साहित्य और राजनीतिक सम्बन्धों की पराररस्परिक विवेचना करते हुए भी साहित्य को राजनीति से व्यापक स्तर प्रदान करते हैं।

---

1 मिट्टी की ओर, पृ. 104

2 मिट्टी की ओर, पृ. 45

3 रसवंती की भूमिका , पृ. 4

6.4.1.2. दिनकर के काव्य और विज्ञान सम्बन्धी विचार :

विगत दो-तीन शताब्दियों से विज्ञान निरन्तर विकार के पथ पर बढ़ रहा है और नित्य-नये आविष्कारों से मान को चकाचौंध में डाल रहा है। जीवन के अन्य क्षेत्रों को जैसे विज्ञान ने प्रभावित किया है, वैसे ही काव्य को भी प्रभावित किया है। विज्ञान के आधुनिक विकास से ऐसा प्रतीत होने लगा है कि कविता का अस्तित्व खतरे में है। विज्ञान के युग में लोग बुद्धि के संकेतों को हृदय के संकेतों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने लगे हैं। हम इस स्थिति से उत्पन्न संकट पर बड़े-बड़े विचारकों-शेली, पिकाक, आई.ए. रिचर्डस आदि ने अपनी सम्मतियाँ प्रकट करते हुए कहा है कि यदि कविता विज्ञान के साथ कदम मिलाकर चलेगी, तो उसका अस्तित्व के चरम विकास के युग में भी रहेगी। विज्ञान और कविता, दोनों मानव के संतुलित विकास के लिए आवश्यक है।

दिनकर भी विज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और काव्य और विज्ञान की उत्पत्ति, भिन्नता, पारस्परिक सम्बन्ध और इस सम्बन्ध के बनाये रखने की आवश्यकता पर विचार करते हैं। उनका कहना है कि प्राचीनकाल में चिकित्सा, विज्ञान और इंजीनियरिंग का जितना महत्त्व था, कविता का भी उतना ही महत्त्व था। "चिकित्सक और इंजीनियर थोड़ा-थोड़ा कवि भी हुआ करते थे।"[1] इस तरह बुद्धि और भावना एवं संतुलित ढंग से काम करती थी, पर आज अवस्था इससे भिन्न है। आज के बुद्धिवादी लोग हृदय की सत्ता और उसके महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। फलतः दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर आने से अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो गयी है। काव्य और विज्ञान में किस तरह भिन्नता है, किस तरह सम्बन्ध है; इस पर उनके विचार इस प्रकार है-वे यह मानते हैं कि कविता विज्ञान का प्रतिलोम है"[2] अर्थात् आवेश, भावना या संवेग की तीव्रता, रोमांटिकता, अतिरंजना और रागात्मकता काव्य के आवश्यक उपकरण हैं। कविता सौन्दर्य, कल्पना, विस्मय उत्पन्न करती है। वह मनुष्य को जादू के देश में ले जाती है। कविता का काम आनन्द दान है,

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 99

2 काव्य की भूमिका, पृ. 85

यह मनुष्य को भौतिक धरातल से उठाकर अलौकिक धरातल पर ले जाती है। अतः इसका आनन्द भी लौकिक न होकर अलौकिक होता है। लेकिन कविता भी सत्य है, पर उसका क्षेत्र अधिक व्यापक है, जबकि विज्ञान का क्षेत्र सीमित है। विज्ञान का सत्य सापेक्ष है, अतः परिवर्तनशील जगत के साथ उसकी मान्यताओं में भी भिन्नता आती है।

"विज्ञान के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त किया जाता है जो स्थूल जगत् के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार हैं।"[1] विज्ञान में तथ्यपरकता है। विज्ञान मानव की भौतिक उन्नति में सहायक होता है। उसका सम्बन्ध स्थूल जगत् से है। वह वस्तुओं के यथातथ्य रूप का विश्लेषण करता है और कविता वास्तविकता का संधान करती है। विज्ञान सुस्पष्टता का प्रेमी होता है। वह अतिरंजना और समावेश को प्रश्रय देकर अपना महत्त्व खो दे सकता है। वह हर चीज़ को प्रमाण के साथ उसके सही रूप में समझना सीखता है पर कविता के लिए यह आवश्यक नहीं है। कविता सत्य है और विज्ञान तथ्य दिनकर तथ्य को दुनिया का आँकड़ा कहते हैं और सत्य को आँकड़ों से परे कहते हैं। विज्ञान दुनिया के आँकड़ों और तथ्यों में विश्वास करता है।

लेकिन व्यापक अर्थ में यह स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं है कि कविता और विज्ञान दोनों का सम्बन्ध सत्य से है, पर वे दोनों के उद्देश्य में थोड़ी भिन्नता मानते हैं- "विज्ञान झूठा नहीं है और तो और हम कविगण भी जो विज्ञान के विपरीत क्षेत्र में काम करते हैं, विज्ञान को झुठलाने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि यह तो निश्चित बात है कि जो कुछ असत्य है, वह अभी विज्ञान नहीं हुआ है। अतएव हमें केवल इस बात पर भरोसा रखना चाहिए कि यद्यपि विज्ञान सत्य है पर सारा विज्ञान सत्य नहीं है।"[2]

सत्य-सम्बन्धी इस भेद के अर्थ में कविता का क्षेत्र विज्ञान से अधिक व्यापक हो जाता है।

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 88

2 काव्य की भूमिका, पृ. 86

कवि और वैज्ञानिक के सत्यों में भेद विचार करते हुए उन्होंने अपनी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं- "विज्ञान स्थूलता की कला है। वह एक चीज़ से दूसरी चीज़ की दूरी मापता है और हर चीज़ को अपनी काट की उँगलियों से छूकर यह बतलाता चाहता है कि वह कड़ी है या मुलायम किन्तु कविता वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का मूल्य ढूँढ़ती है, वह उनके उन पक्षों का विश्लेषण करती है जो गणित की भाषा में व्यक्त नहीं किये जा सकते।"[1]

बुद्धि से आगे का लोक विज्ञान के लिए अग्राह्य है, पर कविता बुद्धि के माध्यम को न अपनाकर हृदय के माध्यम को अपनाती है। बुद्धि के द्वारा अदृश्य और अगोचर तक पहुँचना संभव नहीं होता, इसीलिए कविता हृदय का सहारा लेकर अदृश्य का संकेत करती है।

कविता और विज्ञान के इस पार्थक्य पर विचार करते हुए दिनकर दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर भी लक्ष्य करते हैं। कविता और विज्ञान को वे मानव व्यक्तित्व के दोनों पक्षों का द्योतक मानते हैं। विज्ञान मानव मस्तिष्क की उपलब्धि है तो कविता हृदय की निःसृत वाणी। दोनों का ध्येय सत्य की उपलब्धि है, दोनों के लिए गहरी समाधि की ज़रूरत होती है। तभी वे सत्य को पा सकते हैं- "कविता कोई हवाई चीज़ नहीं है। योगी, वैज्ञानिक और समाजशास्त्री सत्य की खोज के लिए जितनी गहरी समाधि लगता है, उतनी गहरी समाधि लगाये बिना कविता भी सत्य को नहीं पा सकती।"[2]

इतना ही नहीं, आइन्सटीन ने जिस दिक्काल-सिद्धान्त की स्थापना की है, उसे दिनकर गणित द्वारा रहस्य लोग की स्वीकृति ही मानते हैं। वे कहते हैं कि प्राचीनकाल के ऋषि की स्थापना की है, उसे दिनकर गणित के द्वारा रहस्य लोक की स्वीकृति मानते हैं। वे कहते हैं कि प्राचीनकाल के ऋषि-द्रष्टा वैज्ञानिक नहीं थे, पर वे अपनी सहजवृत्ति और अन्तर्दृष्टि और सहजज्ञान के द्वारा उसी जगत् में पहुँचता रहा है। इस प्रकार कविता और विज्ञान में एक और सादृश्य है। दोनों का जन्म अवेचतन से होता है। उनका कथन है-

---

1 अर्धनारीश्वर, पृ. 25

2 अर्धनारीश्वर, पृ. 25

"प्रत्येक आविष्कार और प्रत्येक कविता जन्म के पूर्व, अवचेतन से प्रेरणा ग्रहण करती है।"[1]

आधुनिक काव्य में विज्ञान का प्रवेश काफ़ी दूर तक हो चुका है। काव्य पर विज्ञान का यह प्रभाव और काव्य और विज्ञान का यह सम्बन्ध कई दृष्टियों से आवश्यक भी है। विज्ञान के प्रभाव के फलस्वरूप ही कविता में बौद्धिकता का समावेश हुआ है, तथा उसमें सुस्पष्टता और तथ्यपरकता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। विज्ञान के कारण ही काव्य की अतिरंजना, भावावेश और रोमांटिकता में कमी आई है। यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि विज्ञान की भाँति सत्य के निकट उसका भी बास है। सत्य ये वह भी दूर नहीं जाती, उसमें भी बुद्धि की ज़रूरत है, वह भी ज्ञान देती है। इतना ही नहीं, दिनकर कविता और विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धों की आवश्यकता पर बल देते हैं। काव्य और विज्ञान की सत्ता स्वतंत्र है, पर आज दोनों के मध्य समुचित सम्बन्धों की आवश्यकता है। विज्ञान और काव्य के सम्बन्ध के फलस्वरूप विज्ञान की उच्छृंखलता में कमी आएगी और मानव पूर्ण विकास की ओर बढ़ेगा। कविता विज्ञान की शासिका हो सकती है। वह बुद्धि पर अंकुश लगा सकती है, विज्ञान की कुरूपता को आच्छादित कर उसे सुन्दर रूप दे सकती है, वह उसमें रंगीनी भर सकती है, उसे सुवासित कर सकती है। विज्ञान काव्य से आत्मा ले सकता है और काव्य के द्वारा विज्ञान का रूप मंगलमय हो सकता है। दिनकर का विश्वास है कि विज्ञान और दर्शन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को क्रियारूढ़ करना साहित्य का ही काम है- "शक्तियाँ मनुष्य की ज्ञान और विज्ञान से आती हैं, किन्तु उसके मानवीय-गुणों का विकास साहित्य और कला से होता है, बुद्धि पर जमी हुई पपड़ियाँ विज्ञान की नई शोधों से टूटती हैं, किन्तु मनुष्य के हृदय पर की पपड़ियों को तोड़ने का काम नाटक, उपन्यास, चित्र, संगीत तथा कविताएँ करती हैं।"[2]

---

1 शुद्ध कविता की खोज, पृ. 109

2 चक्रवाल की भूमिका, पृ. 66-67

वे दृढ़ स्वर में कहते हैं कि सूक्ष्म मनुष्य को समाधान देने के लिए कविता को विज्ञान को अपनाना होगा और विज्ञान को कविता को। मनुष्य के संस्कारों में विज्ञान ने परिवर्तन किया है। यद्यपि आज बुद्धि और विज्ञान का बोल-बाला है, पर विज्ञान मनुष्य को निश्चित समाधान नहीं दे पाया है। बुद्धि और हृदय के असंतुलन के कारण मनुष्य परेशान है। मनुष्य के भीतर जो सूक्ष्म आध्यात्मिक व्यक्तित्व है, उसकी भी अभिव्यक्ति विज्ञान की पकड़ से सर्वथा बाहर है, इसे तो भावना के जाल और हृदय की जंजीर से ही पकड़ा जा सकता है। कविता के द्वारा अनन्तकाल से मनुष्य के उसी आध्यात्मिक व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति मिलती आई है- "विज्ञान स्थूल मनुष्य का ग्रास है। सूक्ष्म मनुष्य खोज रहा है कि उसकी गंध कहाँ है। और सूक्ष्म मनुष्य को समाधान के लिए या तो कविता को विज्ञान को आत्मसात करना होगा अथवा कविता की पकड़ में आने के लिए विज्ञान का ही संशोधन करना पड़ेगा; क्योंकि सूक्ष्म के अनशन से स्थूल की आयु बढ़ती नहीं, क्षीण होती है।"[1]

अस्तु यदि मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व तथा उसके हृदय और मस्तिष्क के बीच संतुलन की कोई आवश्यकता है तो कविता और विज्ञान को परस्पर संबद्ध ही होना है।

यद्यपि वे काव्य के लिए विज्ञान की सार्थकता स्वीकार करते हैं, पर इसके साथ ही एक खतरे की ओर भी संकेत करते हैं। यदि विज्ञान के अतिशय प्रभाव को स्वीकार किया जाय तो काव्य विज्ञान का अनुचर हो जाएगा और उसकी स्वतंत्र सत्ता लुप्त हो जाएगी। वह अपने महत्त्व से गिर जाएगा और यह बात जीवन के लिए अतिशय विनाशकारी सिद्ध होगी। अतः यह आवश्यक है कि कविता पूरी तरह विज्ञान की चपेट में न जाय और वह भी विज्ञान को प्रभावित करे। नये काव्य में विज्ञान की तथ्यपरकता को वे काव्य का दोष

---

[1] अर्धनारीश्वर, पृ. 28

मानते हैं, क्योंकि इससे सत्य की झाँकी नहीं मिलती। कविता पर विज्ञान का यह प्रभाव वांछनीय नहीं है।

6.4.1.3. दिनकर के काव्य और मनोविज्ञान सम्बन्धी विचार :

उन्नीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान नाम से ज्ञान की एक नई शाखा का जन्म हुआ जो निरन्तर विकासमान है। इस शाखा ने आधुनिक साहित्य और कला को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। आज के साहित्य को मनोविज्ञान से अलग कर नहीं देखा जा सकता। आज के साहित्य के द्वारा साहित्यकार मानव-मन की अतल गहराईयों का विश्लेषण प्रस्तुत करने लगा है। वह उसकी अनेक गुत्थियों को समझने और उनके निराकरण की चेष्टा करता है। उनके उच्च कोटि के कवियों, कहानीकारों और उपन्यासकारों ने मनोविज्ञान का सहारा लेकर श्रेष्ठ साहित्य का सृजन किया है। प्राउस्ट, जेम्स ज्वाईस आदी इसी श्रेणी के कलाकार हैं। संप्रति सुरियलिज्म नाम की एक काव्य पद्धति का पाश्चात्य जगत् में प्रचलन हुआ है जिसके कवियों की साधना एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया साधना है। मनोविज्ञान बाह्य निरीक्षण और अन्तर्निरीक्षण पद्धति द्वारा मानव-मन का अध्ययन करके तर्कसम्मत तथ्य प्रस्तुत करता है जो वैज्ञानिकता का आधार लिये रहता है। साहित्य भी मानव-प्रवृत्ति एवं अनुभूति का कलात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते समय मनोवैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करने लगा है।

साहित्य सृजन की प्रक्रिया में प्रेरणा मनोवृत्ति, संवेग, अनुभव, स्मृति, बुद्धि, कल्पना, व्यवहार, व्यक्तित्व आदि की अपनी भूमिकाएँ होती हैं। ये विषय ही मनोविज्ञान-जगत् के अध्ययन के आधार हैं। मानव बाहर से जितना कुछ है भीतर से भी वही नहीं है। मनुष्य के भीतर भी प्रवृत्तियों का एक विस्तृत संसार है। यह संसार निरंतर गतिशील और सक्रिय है रहता है। उसमें प्रवृत्तियों का द्वन्द्व निरंतर चलता रहता है। बाहर से जब हम निद्रा की स्थिति में होते हैं, तब भी हमारा मन निरंतर क्रियाशील रहता है, जिसका प्रमाण स्वप्न है। मनोविज्ञान ने मानव मन के गुह्य स्तर तक पहुँचने की कोशिश उनके विधियों से की है

और मानव व्यक्तित्व के बाह्य और आंतरिक क्षेत्रों, उनके क्रिया-कलापों का, उनकी चेष्टाओं आदि का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करता रहा है। इस सब बातों का साहित्य पर प्रभाव पड़ा है।

दिनकर ने साहित्य और मनोविज्ञान के सम्बन्धों पर विचार किया है। उन्होंने साहित्य में मनोविज्ञान के प्रभावों की आवश्यकता और व्याप्तियों को स्वीकृति दी है, पर यह मनोवैज्ञानिकता साहित्य की सर्वथा नूतन स्थिति है, ऐसी बात नहीं है। कालिदास और शेक्सपीयर के साहित्य में मनोवैज्ञानिक तथ्यों का पूर्ण समावेश हुआ है, जबकि उस युग में मनोविज्ञान नाम की ज्ञान की कोई शाखा नहीं थी। कालिदास और शेक्सपीयर, दोनों को मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का पूरा ज्ञान था।"[1]

दिनकर मनोविज्ञान को ज्ञान की एक शाखा ज़रूर मानते हैं, पर उसे शुद्ध विज्ञान ने मानकर आधा साहित्य मानते हैं। कारण, साहित्य और मनोविज्ञान अनेक स्तरों पर एक हैं। दोनों का अन्तर सिर्फ अध्ययन-विश्लेषण करता है और प्रमाण खोजता है; जबकि साहित्य का साधन इससे भिन्न है। मनोविज्ञान साहित्य की नई शाखा कहा जा सकता है। मनोविज्ञान की भाषा विज्ञान की है पर क्षेत्र उसका साहित्य का ही है।

काव्य में भाव और विचार को लेकर इधर काफ़ी विवाद चल पड़ा है। शुद्ध कवितावादी विचार को त्याज्य और भावना को ग्राह्य मानते हैं, लेकिन परम्परा को मान्यता देकर चलनेवाले नये आलोचक और काव्यशास्त्री निरुद्देश्य आनंद और विचार की प्रखरता, दोनों को महत्त्व देते हैं। इलियट के शब्दों "कविता विचार के भाव पक्ष को लेकर ही चलती है।"[2] काव्य में विचार और भाव के द्वन्द्व को मिटाने के लिए भी हमें मनोविज्ञान की इस स्वीकृति का सहारा लेना पड़ेगा "कि दुनिया में जितने भी विचार हैं, वे, आरंभ में,

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 235

2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 17

भावों के रूप में ही उत्पन्न हुए थे और वे शनैः शनैः स्वच्छ होकर विचारों के स्तर पर पहुँचे हैं।"[1] दिनकर के अनुसार-"विचार और कुछ नहीं भाव का स्फटिक रूप है।"[2]

काव्य और विज्ञान का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के आधार पर ही कायम रह सकता है। इस प्रसंग में दिनकर ने रिचर्ड्स की इस मान्यता का उल्लेख किया है कि कविता का भविष्य आज संकटग्रस्त है। यदि मानव सभ्यता को वैज्ञानिक विनाश से बचाकर रखना है, और काव्य को अपनी सार्थकता और महत्त्व सिद्ध करना है, तो काव्य को मनोविज्ञान का सहारा लेकर चलना होगा।

दूसरी बात यह है कि रिचर्ड्स के अनुसार कविता की रचना और उसका आस्वादन भी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ही हैं। रिचर्ड्स ने मूल्य-सिद्धान्त और काव्यालोचन के सिद्धान्तों को भी मनोवैज्ञानिक आधार पर ही स्वीकृति दी है। काव्यो को वैज्ञानिक भूमि पर अवस्थित करनेवाला मनोविज्ञान ही होगा। जहाँ तक श्रेष्ठ साहित्य का प्रश्न है, मानव-मन में प्रवृत्तियों की टकराहट होती है और विभिन्न प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करनेवाला साहित्य ही श्रेष्ठ है। इस तरह मनोविज्ञान और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों से श्रेष्ठ साहित्य के जन्म की संभावनाएँ भी उजागर होंगी और मानव में कुंठा और संकीर्णता के उदात्त गुणों का विकास होगा।

दिनकर साहित्य और मनोविज्ञान के सम्बन्धों पर विचार करते हुए आधुनिक कविता की व्याप्तियों पर विचार करते हैं और कहते हैं कि नयी कविता मनोविज्ञान के निकट है- "मनोविज्ञान से नई कविता कुछ समीप पड़ती है, जिसका कारण यह है कि मनोविज्ञान आधी कविता और आधा विज्ञान है।"[3] आधुनिक काव्य के विभिन्न वादों के जन्मदाता एडगर एलेन पो, बोदलेयर, रेम्बू, मलार्मे आदि ने मनोवैज्ञानिक भूमि पर काव्य-सृजन किया है। इनका काव्य लोक मनोविज्ञान के चेतन-उपचेतन-अचेतन का लोक है। कविता को

---

1 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 17
2 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 17
3 कविता और शुद्ध कविता, पृ. 124

भाव जगत् की उपज मानते हुए उन्होंने इस बात पर पर्याप्त ज़ोर दिया है कि कवि का धर्म कुछ करना नहीं है, बल्कि वस्तुओं के साथ लगे अन्धकार के भीतर प्रविष्ट कर अकथ्य को कथ्य बनाना है, तथा उन भावों को अभिव्यक्ति देनी है जो अब तक अभिव्यक्त नहीं हो सके हैं। काव्य अचेतन से संबद्ध है। सृजनशीलता की प्रक्रिया को समझने का ही मार्ग है जो चेतना की सतह के नीचे है, बुद्धि के नीचे का यह स्तर अचेतन का स्तर है।"[1]

दिनकर के अनुसार सुरियलिज्म कविता की एक शैली है, जो मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण करता है। यहाँ अचेतन का उपयोग रचनात्मक निर्माण के लिए किया जाता है।

साहित्य और मनोविज्ञान के कार्यक्षेत्र में भिन्नता होने पर भी दोनों में कुछ समानताएँ हैं। साहित्य में नौ स्थायी भावों और अनगिनत संचारी भावों को स्वीकृति दी गई है, विभाव, अनुभाव, आलंबन, उद्दीपन, आदि को काव्य की रस-निष्पत्ति में सहायक माना गया है। मनोविज्ञन का क्षेत्र भी भावों का अध्ययन एवं परिमार्जन है। प्रवृत्तियों के मध्य संतुलन की आवश्यकता पर मनोविज्ञान भी जोर देता है और काव्य भी प्रवृत्तियों के संतुलन पर जोर देता है। नाटक, उपन्यास और कविता के द्वारा मानव की मानसिक गुत्थियाँ ढीली पड़ती है, उसके अचेतन मन पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ता है तथा उसके भावों का परिष्कार होता है। यह प्रक्रिया मनोविज्ञान की उस प्रक्रिया के निकट है, जिसमें मनुष्य के मानसिक संतुलन की चेष्टा की जाती है- और उसकी प्रवृत्तियों के मध्य संतुलन लाया जाता है।

किन्तु साहित्य मनोविज्ञान से एक पग आगे रहता है। प्रवृत्तियों का अध्ययन करने में मनोविज्ञान अटकल का सहारा लेता है, पर साहित्य अपनी आँखों से उन्हें देख लेता है। साहित्य इससे भी आगे बढ़कर कार्य करता है। अपनी देखी हुई चीज़ों को जन जीवन तक पहुँचा देता है तथा पाठकों की आँखों के समक्ष तैरा देता है।"

---

[1] कविता और शुद्ध कविता, पृ. 137

मनोविज्ञान मानसिक रोगों के उपचार में सहायक होता है और कविता आत्म-परिष्कृति में। ये कारण हैं जिनसे मनोविज्ञान और काव्य संबद्ध माने जा सकते हैं।

6.4.1.4. दिनकर के काव्य और अध्यात्म सम्बन्धी विचार

भारत की संस्कृति का सबल पक्ष आध्यात्मिकता है। आधुनिकता भारत में इस आध्यात्मिकता का पुनर्जागरण विवेकानन्द, दयानंद, गाँधी के माध्यम से हुआ है। इन विचारकों ने यह विश्वास प्रकट किया है कि मानव के सूक्ष्म आध्यात्मिक व्यक्तित्व का प्रकाश ही विध्वंस-निरत मानवता का मार्ग-दर्शन कर सकता है। भारतीयता के प्रतिनिधि कलाकार दिनकर ने जीवन के इस आध्यात्मिक पक्ष को पर्याप्त मान्यता दी है। उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया है कि काव्य और अध्यात्म परस्पर जुड़े हैं। काव्य के द्वारा मानव की आध्यात्मिक चेतना अधिक विस्तार पा सकेगी, ऐसा भी उनका विश्वास है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम उनके अध्यात्म सम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया जा रहा है और उसके बाद काव्य और अध्यात्म के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में उनके बाद काव्य और अध्यात्म के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में उनके दृष्टिकोण का विवेचन किया जाएगा। अध्यात्म की विवेचना करते हुए दिनकर का कहना है- "अध्यात्म असत्य कल्पनाओं को नहीं कहते हैं। यह तो वस्तुओं की गहराई का नाम है.....।"[1] तात्पर्य यह है कि अध्यात्म के सम्बन्ध में प्रचलित सामान्य धारणाओं का खंडन करते हुए वे उसकी गंभीरता का समर्थन करते हैं। यह सही है कि आध्यात्मिक जगत् की सत्ता स्थूल जगत् की भाँति नहीं होती है किन्तु उसकी भी सत्ता है और वह वस्तुओं की गहराई में हैं। स्थूल जगत् के भीतर जिस सूक्ष्म जगत् का निवास होता है, वहाँ तक पहुँचने में मनुष्य की स्थूल दृष्टि भी सहायक नहीं होती। अतः विज्ञान के द्वारा इस लोक को पाया नहीं जा सकता। इसके लिए आत्मा का साहचर्य आवश्यक होता है। इसलिए वे अध्यात्म को विज्ञान से आगे की वस्तु एवं उसका

---

[1] वेणुवन, पृ. 93

पूरक मानते हैं। वे कहते हैं- "……..यह तो पदार्थों के उस अदृश्य पक्ष की संज्ञा है जिसे विज्ञान नापने में असमर्थ है।"[1] किन्तु, वे यह भी मानते हैं कि विज्ञान भी जब वस्तुओं की गहराई में पहुँचता है तब वह आध्यात्मिक हो उठता है। उसे इस बात का अनुभव हो रहा है कि वह केवल यांत्रिक आधार पर पदार्थ या सत्ता को नहीं समझ सकता-"विज्ञान जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, अभिनव चिंतन का भी, गहराई की दिशा में उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है, और ऐसा लगता है कि हम, सचमुच ही, उस बिन्दु के पास पहुँचते जा रहे हैं, जहाँ दृश्य को समझने के लिए हमें आत्मा की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ यांत्रिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के बीच हमें सामंजस्य लाना पड़ेगा।"[2]

अध्यात्म की भूमि दर्शन और धर्म की होती है और कविता स्वतः अध्यात्म से संबद्ध हो जाती है। अत्यन्त प्राचीन काल से आध्यात्मिक और रहस्यवादी व्यक्ति कवि होते आए हैं। भौतिकवादी देशों के कवियों ने भी संबुद्धि के द्वारा उस आध्यात्मिक जगत् की झाँकी पाई है, जिसे बहिर्ज्ञान के द्वारा नहीं पाया जा सकता। कविता अध्यात्म से इस अर्थ में भी जुड़ी है कि उसके द्वारा मनुष्य का आत्मिक प्रचार होता है। व्यक्ति के भीतर फैलने की जो उमंग है उसमें कविता का हाथ होता है और इसी से व्यक्ति आध्यात्मिक लोक तक पहुँचता है। इसी के कारण वह गोचर और दृश्य की सीमा का अतिक्रमण कर सूक्ष्म-लोक में प्रवेश करता है। यही कारण है कि दिनकर यह कहते हैं- "धर्म और दर्शन की तरह कविता भी अध्यात्म के अत्यन्त समीप की चीज़ है, बल्कि कहना चाहिये कि अध्यात्म दर्शन से दूर भी हो सकता है, किन्तु सद्धर्म से वह कभी दूर नहीं होता। इसी प्रकार अध्यात्म कविता से भी दूर नहीं है। संसार के बहुत से बड़े कवि संत और बहुत-से संत महाकवि हुए हैं।"[3]

---

1 वेणुवन, पृ. 93
2 वेणुवन, पृ. 94
3 वट-पीपल, पृ. 111

कलाकार का व्यक्तित्व स्वतः आध्यात्मिक भावना का आधार ग्रहण कर विकसित होता है। उसका एक कारण तो यह है कि कला का जन्म आत्मा या हृदय से होता है, और आध्यात्मिकता का सम्बन्ध भी मनुष्य की आत्मा से होता है। दूसरा कारण यह है कि श्रेष्ठ कलाकार के लिए तर्क, कल्पना, सद्विवेक की दृढ़ता, विचारों की सुस्पष्टता एवं नैतिक संघर्षों द्वारा अपने आपको अत्यन्त ऊँचाई तक ले जाने की आवश्यकता होती है। ये चीज़ें उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती हैं, अर्थात् होती है। ये चीज़ें उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती हैं, अर्थात् आध्यात्मिकता ही श्रेष्ठ कलाकार की शक्ति और उसकी उन्नत मानस-चेतना है। आध्यात्मिकता के प्रकाश में ही वह जीवन की संपूर्णता का आकलन कर सकता है। कलाकार अथवा कवि के लिए आध्यात्मिकता की आवश्यकता सर्वोपरि है- "कवि और कलाकार बनने से पूर्व यह आवश्यक है कि मनुष्य विचारों में सुस्नात हो और नैतिक संधर्षों का सामना करके उसने अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को पुष्ट बना लिया हो।"[1]

कविता और आध्यात्मिकता के बीच सम्बन्ध का एक कारण संबुद्धि भी है। संबुद्धि के कारण कविता का भी जन्म होता है और संबुद्धि के कारण कवि अध्यात्म के क्षेत्र में भी विचरता है।

अध्यात्म स्थूल रूप से कुछ न होकर एक सूक्ष्म तत्त्व है और कविता का जन्म यद्यपि स्थूल जगत् से होता है, पर उसका विकास भी सूक्ष्म धरातल पर ही होता है। स्थूल दृष्टि रखने वाले व्यक्ति अध्यात्म की सत्ता में विश्वास नहीं कर पाते, क्योंकि उसका कोई स्थूल रूप नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि अध्यात्म, जो से कुछ न होकर मानव व्यक्तित्व का सूक्ष्म अंश है, के द्वारा मानव के उत्तरोत्तर विकास में सहायता होती है-

---

[1] वट-पीपल, पृ. 122

"अध्यात्म स्थूल रूप से कुछ नहीं होकर भी मनुष्य को ऊपर उठाने में उसकी पशुता नष्ट करने में सहायक हुआ है।"[1]

इस तरह दिनकर के अनुसार "चीज़ों के भूतरोत्तर रूपों का चित्र आँकना 'फ़िजिकल' में धंसकर 'मेटाफ़िजिकल' हो उठना तथा दृश्य और अदृश्य के बीच सेतु का निर्माण कर सकना हमेशा से श्रेष्ठ कविता का लक्षण रहा है और इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस युग में कविता की शक्ति पर संदेह किया जा रहा हो, उस युग में कविता यदि अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करना चाहे तो उसे अपने श्रेष्ठतम गुणों का ही अधिकाधिक विकास करना होगा।"[2]

साहित्यिक प्रयत्नों द्वारा मानव प्रारंभ से ही ऊपर उठने की कोशिशें करता रहा है। इससे प्रमाणित होता है कि मानव जाति में आध्यात्मिक चेतना सभी युगों में थी और आगे भी रहेगी। संपूर्ण जगत् के साथ रागात्मक सम्बन्ध अध्यात्म की वस्तु है और कविता विश्व और मानव के बीच तादात्म्य स्थापित करने में सहायक होती है। विवेकशीलता ही मनुष्य को जैव धरातल से ऊपर उठा कर आध्यात्मिक स्तर पर ले जाती है और यह कार्य साहित्य और अध्यात्म की सम्मिलित भूमिका से होता है-

" अतएव, साहित्य, अपने मूल-रूप में, हमारे जैव आवेगों का भाषागत विस्फोट होता है। किन्तु साहित्य की शोभा यह है कि जैव धरातल पर जन्म लेकर वह उत्तरोत्तर आत्मा के धरातल की ओर उठता चले।"[3] दिनकर का तो यहाँ तक विश्वास है कि सामाजिक व्यवस्था को बदलकर साम्यवादी हो जाने पर भी मानव की यह चेतना निःशेष नहीं होगी। इतना ही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि अनेक कवि ऐसे भी हुए हैं जो धर्म के मामले में नास्तिक रहे हैं पर जिनकी रचनाएँ आध्यात्मिक भावना से ओत-प्रोत है। इसके उदाहरण स्वरूप शेली आदि कवियों को लिया जा सकता है। जीवन को ऊँचाई की ओर ले जाने

---

1 रसवन्ती की भूमिका से, पृ. 4

2 वट-पीपल, पृ. 110-111

3 वट-पीपल, पृ. 112

वाले कलाकार आध्यात्मिक रहे हैं और उससे मानव समाज उच्च भूमि पर जाने में समर्थ होता रहा है।

कविता और अध्यात्म के सम्बन्ध की आवश्यकता पर विचार करते हुए दिनकर ने कहा है कि आज के युग में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों की आवश्यकता और भी बढ़ गई है। विज्ञान में उच्छृंखलता है जिसका शमन अध्यात्म ही करेगा और इसके लिए कविता ही पहल करेगी। कविता ही दोनों को मिलानेवाली तार होगी। विज्ञान के चरम विकास के युग में भी ऐसे संत होते रहे हैं जिनके आध्यात्मिक प्रकाश में संत्रस्त मानवता राह पाती रही है। उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन को पूर्ण रूप से संतुलित होने की आज अपेक्षा है। देह, मन और आत्मा-तीनों को सम्यक् विकास द्वारा ही यह संतुलन संभव है। इसके लिए कविता, विज्ञान और अध्यात्म का एक बिन्दु पर समन्वय आवश्यक है। श्रेष्ठ साहित्य में भी शरीर, मन और आत्मा का समन्वय देखा जाता है। यह सही है कि ऐसे साहित्य कम होते हैं। ऐसा साहित्य विशिष्ट साहित्य की क्रोड़ में ही होता है, और इस प्रकार का साहित्य ही अपना प्रयोजन सही अर्थ में साधता है।

6.4.1.5. दिनकर के काव्य और दर्शन सम्बन्धी विचार

दर्शन एक व्यापक अर्थ रखने वाला शब्द है जिसमें विश्व और जीवन को संपूर्ण रूप में समझने और उसकी व्याख्या का प्रयास सम्मिलित है। पर दर्शनशास्त्र द्वारा की गई व्याख्या न तो कलाकार और साहित्यकार की भाँति सौन्दर्यपरक होती है, न वैज्ञानिक की भाँति तथ्यपरक, वरन्, यह जिज्ञासामूलक होती है। दर्शन शब्द दर्शनार्थक 'दृश' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है-देखना या अवलोकन करना। दर्शन का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है उस अर्थ में अधिक साँगोपाँग विवेचना दिनकर साहित्य में नहीं मिलती। किन्तु आस्थावादी कवि और चिन्तक की भाँति उनका भी विश्वास है कि किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा सृष्टि का संचालन होता है और दार्शनिक तथा कवि दोनों उस अदृश्य

जगत् की अनुभूति अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा करता है। मानव सभ्यता के विकास के साथ ही काव्य का जन्म हुआ और मानव के प्रारंभिक साहित्य में काव्य और दर्शन परस्पर जुड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं। काव्य और दर्शन के सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि कविता ने अपनी विकास-यात्रा में तीन सोपानों को पार किया है, जिनमें पहला सोपान भावुकता का और दूसरा, मध्ययुग में धर्म का था जब मनुष्य में स्थूल माध्यम से उठकर सूक्ष्म की ओर बढ़ने का संकल्प दिखाई पड़ा। यही मध्य युग की काव्य-साधना थी जिसमें कविता और दर्शन अनिवार्य रूप से जुड़े थे। उस युग में विज्ञान की इतनी प्रगति नहीं हुई थी, अतः लोगों की जिज्ञासा और आस्था ही दर्शन और धर्म का अंग बनी हुई थी, अतः लोगों की जिज्ञासा और आस्था ही दर्शन और धर्म का अंग बनी और यही आस्था तथा जिज्ञासा धर्म काव्य के साथ पूर्ण रूप से संबद्ध हुई है। यही कारण है कि काव्य में मध्य युग में दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति सर्वाधिक हुई है। भारत तथा भार के बाहर अन्य उन्नत साहित्यों में भी यह दार्शनिक चेतना मध्य युग की विशेषता रही है। प्रत्येक युग में काव्य भावनाओं और विचारों को आसानी से फैलाता रहा है, अतः वास्तविकता के असली रूप तक पहुँचने के लिए दार्शनिकों ने भी काव्य का सहारा लिया है। इस बात के प्रमाण उपनिषद् और वेद के मंत्र है और यह कुछ नहीं काव्य के ही रूप हैं। अभिप्राय यह कि हमारे वेद और उपनिषद् मंत्रकाव्य में लिखे गये हैं। ये मंत्रकाव्य अत्यन्त ही प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। वैदिक ऋषि द्रष्टा और कवि, दोनों थे। उन्होंने काव्य द्वारा ही अपनी गहन-से-गहन वैचारिकता, चिन्ताधारा और भावना को जन-जीवन तक पहुँचाने की चेष्टा की है और वे पूरी तरह सफल भी हुए हैं। आज भी वेद की ऋचाओं को देखकर द्रष्टा कवि की सामर्थ्य पर आश्चर्य होता है।

प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक पूर्व से लेकर पश्चिम तक जितने भी रहस्यवादी कवि हुए हैं, सभी ने दर्शन को मान्यता दी है, सभी के काव्य की भूमि दर्शन है। यद्यपि आज विज्ञान बहुत सी चीज़ों से भीतर प्रवेश कर गया है और धर्म तथा आस्था का स्थान बुद्धि ने ले लिया है पर मनुष्य की रहस्य भावना और उसकी दार्शनिकता में

कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। आज का विज्ञान भी नम्र हो कर रहस्यवाद की सत्ता स्वीकार करने लगा है। अदृश्य और अगोचर की तलाश दर्शन का विषय है और काव्य में यही भाव रहस्यवाद के नाम से आया है। कवि सहज ज्ञान और कल्पनाशक्ति के द्वारा जिस अनिवर्चनीय शक्ति तक पहुँचने की बात करता है, दार्शनिक भी तर्कों के सहारे वहीं तक पहुँचता है-वह उससे आगे नहीं जा पाता। दार्शनिक और कवि, दोनों संपूर्ण सत्ता की विराट भूमि तक जाने की चेष्टा करते हैं और सर्वत्र परमसत्ता का आभास पाते हैं। दोनों ही प्रकृति को ईश्वर की अभिव्यक्ति और मानव को उस विराट सत्ता का क्षुद्र अंश मानकर चलते हैं जिसके कारण ईश्वर के साथ तादात्म्य अथवा एकाकार होने का भाव कवि और दार्शनिक दोनों में देखा जाता है। आत्मा से परमात्मा के मिलन का भाव दर्शन का भी विषय है और अनेक काव्यों का भी। कबीर, मीरा, जायसी, रसेल, अरविंद आदि के काव्य में दर्शन की विराट भूमि मिलती है।

6.4.1.6. दिनकर के भाषा सम्बन्धी विचार

दिनकर भाषा को लेकर सदा सचेत रहे साहित्य में भी और साहित्येतर भी। कामायनी की आलोचना के दौरान कृति की भाषा को केन्द्र में रखकर उनके द्वारा की गई आलोचना में हमें इसकी अति साफ़-साफ़ दिखाई देती है। दिनकर ने स्वयं भाषा का जो प्रयोग किया वह तारीफ़-ए-काबिल है। भाषा के क्लिष्ट प्रयोग से वे सदैव बचते रहे और लोक-संपृक्त एक ऐसी मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया जिसके रेशे-रेशे में जीवन व्याप्त है। इस कारण उनका गद्य शिथिल न होकर जीवन्तता को व्यक्त करती है। उन्होंने अपनी रचनाओं में ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिससे व्यापक जनसमुदाय में संप्रेषण हो सके। उदाहरण के रूप में हम उनके द्वारा लिखी गई सुक्तियों में उनका भाषिक सौष्टव देख सकते हैं- ''सरस्वती की जवानी कविता और उसका बुढ़ापा दर्शन होता है', 'उगती सभ्यता के कवि भावनाशील और बुझती सभ्यता के कवि बुद्धि पीड़ित होते हैं', 'जातियाँ जब थकती हैं,

तब उनका ध्यान रचना से हटकर आलोचना पर चला जाता है', 'आदर्श मनुष्य शरीर से दैत्य और मन से महात्मा होता है', 'बिना आत्मखंडन किए सत्य का सेवन चल नहीं सकता', 'प्रेम स्वतःस्फूर्त भावना है और विवाह एक कठोर कर्तव्य', 'युद्ध राजनीति की उस अवस्था को कहते हैं , जब वह लोहू से लाल हो उठती है। और शांति राजनीति का वह रूप है, जब वह कंठी माला और चंदन से विभूषित रहती है' जैसी हज़ारों सूक्तियाँ उनकी गद्य कृतियों में भरी-पड़ी हैं।"[1] 'जब नई कविता जन्म लेती है, तब उसके साथ आलोचना के नय सिद्धान्त भी जन्म लेते हैं और जब नया कवि आता है, तब उसके पीछे-पीछे नया आलोचक भी आता है'[2] 'काव्य और गद्य की भाषा एक हो, यह तो साहित्य के स्वास्थ्य की निशानी है।'[3] 'कविता जिस विषय पर भी हो, उसे सबसे पहले कविता होनी चाहिए।'[4] 'जब नीति और धर्म की मान्यताएँ सुदृढ़ होती हैं और लोगों को उनके विषय में शंका नहीं रहती, तब साहित्य में क्लासिक शैली का जन्म होता है।'[5] 'जब वायु अंसतुष्ठ और क्रांति आसन्न होती है, तब साहित्य की धारा रोमांटिक हो उठती है।'[6] 'जब मान्यताएँ बिखर जाती हैं और कोई मूल्य स्थिर नहीं रह जाता, तब कवि को अपने विश्वासों के लिए बार-बार लड़ना पड़ता है।'[7] 'छोटे नियमों की पाबन्दी तोड़ना उन्हीं को शोभा देता है, जो बड़े नियमों की पाबन्दी में रहना चाहते हैं।'[8] 'ज्ञान ने मनुष्य को बूढ़ा कर दिया। इस बूढ़े मनुष्य कोफिर से किशोर बनाना है।'[9] 'पहले अनैतिकता का कारण अंधविश्वास था। आज उसका कारण दिमाग है, बुद्धि की प्रखरता है, ज्ञान का तीव्र

---

1 इन्द्रप्रस्थ भारती, दिनकर का आलोचना साहित्य लेख से, डॉ. रवि रंजन, पृ. 59
2 उजली आग, पृ. 46
3 उजली आग, पृ. 48
4 उजली आग, पृ. 48
5 उजली आग, पृ. 49
6 उजली आग, पृ. 49
7 उजली आग, पृ. 50
8 उजली आग, पृ. 51
9 उजली आग, पृ. 53

आलोक है।'[1] 'प्रतिभा का विकास एकान्त में और व्यक्तित्व का निर्माण धारा के प्रवाह में होता है।'[2] 'चरित्र व्यक्तित्व के प्रस्तीकरण का नाम है।'[3] 'चरित्र की दृढ़ता को भावनाएँ पिघला नहीं सकती, न अनुभूति उस पर नयी रेखाएँ खींच सकती है।'[4] 'और सत्य के मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की पहचान यह कि वह दुराग्राही नहीं होता।'[5] 'यदि बुद्धि निस्सीम है, तो काव्य-रचना मनुष्य का निरर्थक प्रयास है।'[6] 'बड़ा काम करने की योग्यता छोटे काम करने से आती है। बड़े परिणाम छोटे कारणों से निकलते हैं।'[7] 'हर उपदेशक जानता है कि दूसरों को वह जहाँ ले जाना चाहता है, उसे वहाँ ले जाने का सबसे सहज उपाय यह है कि पहले वह खुद उस स्थान पर पहुँच जाय।'[8] 'वह कविता फ़ीकी है, जो कवि के पसीने से नहीं टपक कर उसकी कल्पना से आती है।'[9] 'धर्म और दर्शन,ये मृत्यु-रूपी विष के प्रतिबिंब हैं।'[10] 'मृत्यु के भय से दर्शन जन्म लेता है, बुद्ध इसके प्रमाण हैं।'[11] 'उन्माद की स्थिति निद्रा की स्थिति नहीं होती, उलटे वह अतिशय जागरूकता की स्थिति है।काव्य रचते समय कवि दो धरातलों पर एक साथ जगता है।'[12] 'इतिहास घटना- विशेष तक सीमित रहता है। कविता घटनाओं की सार्वभौम संभावनाओं को लेकर चलती है।'[13] 'भविष्य की कविता पाठकों को विश्व से बाहर न ले जाकर उन्हें साथ लिये हुए विश्व के आंतरिकता में प्रवेश करेगी। वह रिझाने, दुलारने और गुदगुदाने की कविता

---

1 उजली आग, पृ. 53
2 उजली आग, पृ. 54
3 उजली आग, पृ. 54
4 उजली आग, पृ. 54
5 उजली आग, पृ. 55
6 उजली आग, पृ. 55
7 उजली आग, पृ. 61
8 उजली आग, पृ. 64
9 उजली आग, पृ. 64
10 उजली आग, पृ. 70
11 उजली आग, पृ. 70
12 काव्य की भूमिका, पृ. 130
13 काव्य की भूमिका, पृ. 106

नहीं होगी। वह अपने पाठकों का मनोरंजन कम, उन्हें सोचने को विवश करेगी।'[1] 'शक्तियाँ मनुष्य की ज्ञान और विज्ञान से आती हैं, किन्तु, उसके मानवीय गुणों का विकास साहित्य और कला से होता है।'[2] 'यदि ज्ञान का संचय, अपने आप में ही आनन्द की वस्तु न हो तो कोई भी व्यक्ति अधिक ज्ञान संचित करना नहीं चाहेगा।'[3] 'सभ्यता ज्यों-ज्यों प्रगति करती है, कविता की आग त्यों-त्यों मन्द होती जाती है।'[4]'जब ज्ञान बढ़ता है, तब अशांति भी बढ़ती है। जिसने अपने भीतर इल्म की रोशनी जलायी है, उसने अपनी गम की बत्ती को भी तेज़ कर लिया है।'[5] 'दुनिया की मैनेजरी बुद्धि ने ले ली है, यह बहुत अच्छी बात है, किंतु मनुष्य की उन्नति का जो चरम सोपान है, वहाँ तक हमें बुद्धि नहीं, केवल भावना ले जाती है।'[6] 'साधना या संघर्ष का मार्ग साहित्य का सबसे उन्नत, अतः सबसे कठोर मार्ग है।'[7] ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो उनकी भाषा की जीवन्तता को दर्शाती हैं।

इसी प्रकार भाषा की समस्या को लेकर भी उन्होंने अपनी साहित्येतर पुस्तकों में बहुत लिखा है। भाषा को लेकर उठे विवाद को लेकर उन्होंने लिखा। भाषा-समस्या के विषय को लेकर दिनकर की दो स्वतंत्र पुस्तके हैं 'राष्ट्रभाषा आंदोलन और गांधीजी' तथा 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता' तथा 'साहित्यमुखी' और वट-पीपल में इस विषय पर हमें तीन निबंध प्राप्त होते हैं। इन पुस्तकों में दिनकर ने हिन्दी को लेकर जो चिन्तन व्यक्त किया है वह मायने रखता है। 'राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गांधी जी' के प्रथम दो अध्यायों- हिन्दी का सार्वदेशिक स्वाभाव और हिन्दी और मुसलमान में दिनकर ने हिन्दी

---

1 काव्य की भूमिका, पृ. 102
2 काव्य की भूमिका, पृ. 94
3 काव्य की भूमिका, पृ. 90
4 काव्य की भूमिका, पृ. 86
5 साहित्यमुखी, पृ. 124
6 साहित्यमुखी, पृ. 128
7 मिट्टी की ओर, पृ. 66

भाषा की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करते हुए इसकी सार्वदेशिक प्रकृति पर प्रकाश ड़ाला है। दिनकर ने प्रथम अध्याय में प्रमाणिक जानकारी के आधार पर अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी की गतिविधि का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उससे यह सिद्ध हो जाता कि हिन्दी केवल हिन्दी प्रान्तों की भाषा नहीं है, बल्कि हिन्दी सार्वदेशिक भाषा है। दिनकर की यह भी मान्यता है कि भारतवर्ष में हिन्दी समझने वालों की संख्या सत्तर प्रतिशत है-"कारण यह कि देश में उद्योगों के केन्द्र बढ़ते जा रहे हैं और जहाँ-जहाँ ऐसे केन्द्र बनते हैं, वहाँ-वहाँ अनेक भाषाएँ बोलने वाले लोग एकत्र हो जाते हैं और उनके बीच की अनतःप्रान्तीय भाषा आप-से-आप हिन्दी हो जाती है और नाटकों, फ़िल्मों, सभा-सम्मेलनों और उत्सव-समारोहों में हिन्दी के प्रयोग से ही उन्हें सबसे अधिक सुविधा होती है।"[1] दूसरे अध्याय में उन्होंने हिन्दी को साम्प्रदायिक भाषा मानने से साफ़ इन्कार कर दिया है। दिनकर के अनुसार हिन्दी के विकास में मुसलमान कवियों का योगदान अत्यन्त सराहनीय है। कबीरदास, जायसी, रहीं, रसखान, कुतुबन, उसमान, शेख नबी,नूर मुहम्मद ऐसे कवि हैं जिनके बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास श्रीहीन हो जाएगा। गाँधी और भारतीय भाषाएँ अध्याय में दिनकर ने माना है कि महात्मा गाँधी ने हिन्दी भाषा के विकास तथा प्रचार में जितना योगदान दिया वह अभूतपूर्व है- "भारत के राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने के पूर्व ही उनका मत पक्का हो चुका था कि अंग्रेज़ी के मोह से छूटे बिना भारत स्वाधीन नहीं होगा, न हिन्दी के सार्वदेशिक प्रचार किए बिना इस देश की राष्ट्रीय एकता मज़बूत होगी।"[2]

'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता' में उन्होंने भाषा और संस्कृति को लेकर लेख लिखे हैं। "भाषा और संस्कृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सांस्कृतिक गुलामी का भयानक रूप वह होता है, जब कोई जाति अपनी भाषा को छोड़कर दूसरों की भाषा को अपना लेती है।

---

1 राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गांधी जी, पृ. 13

2 राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गांधी जी, पृ. 45

जो जाति अपनी भाषा में नहीं सोचती, अपनी भाषा में अपना साहित्य नहीं लिखती, वह अपनी परम्परा से छूट जाती है तथा अपने व्यक्तित्व को खो बैठती है।"[1]

दिनकर की धारणा है कि अंग्रेज़ी को प्रभुता के पद पर अधिष्ठित करने की कोशिश उनके द्वारा की जा रही है -जो अंग्रेज़ी में कमाल हासिल करने के कारण देश को समय कुसमय परामर्श देने का अधिकार प्राप्त कर बैठे हैं। दिनकर इस बात को स्वीकार करते हैं कि एक सीमता तक अंग्रेज़ी हमारे लिए आवश्यक हैं परन्तु वह इस देश में शिक्षा का माध्यम बनाकर नहीं रखी जा सकती।

देश में एकता की वृद्धि के लिए हिन्दी को अपनाया गया है। पर, यह खेद की बात है कि वही हिन्दी उत्तर और दक्षिण के बीच भेद डालने का बहाना बनाई जा रही है। दिनकर के अनुसार १९वीं सदी में हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद के लिए चुनने का दायित्व जिन नेताओं ने उठाया था, उनमें से प्रायः सभी अहिंदीभाषी प्रान्त के थे। उनके शब्दों "राजा राममोहन राय, और बंकिमचन्द्र बंगाली थे, जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव रखा। स्वामी दयानंद सरस्वती, जिन्होंने हिन्दी में केवल पुस्तकें नहीं लिखीं बल्कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के वास्तविक आन्दोलन का आरंभ किया। जस्टिस शारदाचरण मित्र बंगाली थे, जिन्होंने 'देवानगर' पत्र निकालकर यह आंदोलन चलाया कि देश की सभी भाषाएँ नागरी में ही लिखी जाएं और श्रीकृष्ण स्वामी मद्रासी थे, जिन्होंने इस आन्दोलन का समर्थन किया। कांग्रेस केवल हिन्दी-भाषी लोगों की संस्था नहीं थीं, जबकि उसे स्वेच्छा से हिन्दी को राष्ट्र के लिए उपयुक्त ठहराया और सबसे बढ़कर तो यह बात है कि गाँधी जी जब हिन्दी को अपनी बाँहों पर उठाकर राष्ट्रभाषा-पद पर बिठा रहे थे, तब उनके मन में हिन्दी भाषी प्रांतों के साथ पक्षपात की कोई बात नहीं थी।" दिनकर की धारणा है कि यदि हम दक्षिण भारत का हिन्दी के पक्ष में समर्थन चाहते हैं तो हमें दक्षिण की भाषाएँ भी सीखनी पड़ेंगी तथा उन्हें विश्वविद्यालयों में स्थान देना पड़ेगा- "मैं समझता हूँ कि

---

[1] दिनकर का गद्य साहित्य, पृ. 248

राष्ट्रभाषा द्वारा की जो भी सेवा हो सकती है, उसे सुगम बनाने के लिए उत्तर भारत के विश्विविद्यालयों को अपने यहाँ दक्षिण की भाषाओं की पढ़ाई अविलम्ब आरंभ कर देनी चाहिए।"[1]

उपर्युक्त दोनों स्वतंत्र पुस्तकों के अतिरिक्त दिनकर ने तीन-निबंधों 'देश भाषा ही क्यों'(वट-पीपल), 'हिन्दी और उपभाषाओं का सम्बन्ध'(साहित्यमुखी) तथा 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता'(साहित्यमुखी) में भी भाषा-समस्या को लेकर विचार प्रकट किये हैं।

दिनकर हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा मानते हैं- "जिसे हम खड़ी हिन्दी कहते हैं, उससे उर्दू का पूरा मेल है यानी बोली जाने पर दोनों भाषाएँ एक ही रहती हैं। हाँ, जब वे दो लिपियों में लिख दी जाती हैं, तब वे दो समझी जाती हैं। लेकिन यह कसौटी कोई सही कसौटी नहीं है। असली बात यह है कि दिनकर और उर्दू एक ही भाषा है, क्योंकि उनका व्याकरण एक है, उनकी क्रियाएँ एक हैं और उनके मुहावे भी एक हैं।"[2] दिनकर इस आरोप को निराधार मानते हैं कि हिन्दी अंग्रेज़ी की तरह लचीली नहीं है। स्वयं का अनुभव देते हुए वे कहते हैं- "हिन्दी गद्य के हज़ार, दो हज़ार पृष्ठ मैंने भी लिखे हैं और उन पृष्ठों में कहानियाँ नहीं लिखकर मैंने चिन्तन किया है और यदा-कदा उन विषयों पर चिन्तन किया है, जो अन्तर्राष्ट्रीय चिंतन के विषय है, किन्तु, मुझे कभी भी यह एहसास नहीं हुआ कि हिन्दी में अभिव्यंजना शक्ति का किंचित भी अभाव है अथवा यह कि जो विचार अंग्रेज़ी में आसानी से लिखे जा सकते हैं, वे विचार हिन्दी में सुगमता से नहीं लिखे जा सकते।"[3]

प्रायः यह भी कहा जाता है कि यदि अंग्रेज़ी हटी तो विज्ञान में हमारी तरक्की असंभव जो जाएगी। इस बात को दिनकर अतिरंजित मानते हैं। उनके अनुसार, यदि विज्ञान की शिक्षा केवल अंग्रेज़ी में दी जाएगी तो विज्ञान उन्हीं लोगों तक सीमित रह

---

1 राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, पृ. 37

2 साहित्यमुखी, पृ. 113

3 वट-पीपल, पृ. 137

जाएगा, जो उसका अध्ययन करेंगे, परंतु यदि विज्ञान मातृभाषा द्वारा पढ़ा जाएगा, तो विज्ञान के संस्कार सारी जनता में फैल जाएंगे। लेखक का विश्वास है कि एक देश की चिंतन-पद्धति दूसरे देश की भाषा में ढ़ाली नहीं जा सकती। कुछ भारतीय लेखकों ने अंग्रेज़ी भाषा में साहित्य लिखने का प्रयास किया है, परंतु वे प्रयास व्यर्थ हुए हैं। दिनकर के अनुसार- "तोरुदत्त, सरोजिनी नायडू और हरीचन्द्र चट्टोपाध्याय में कविता लिखने की अच्छी शक्ति थी, किन्तु उनकी कविताएँ न तो भारतीय मानस के पल्ले, न इंग्लैंड के आलोचकों और साहित्य मर्मज्ञों ने उनका सम्मान किया।"[1]

"इसके विपरित जिन साहित्यकारों ने अपनी भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की, उनकी रचनाएँ अनुदित होकर बाहर भी फैली और उनसे सभी भारतीय भाषाओं का भी कल्याण हुआ। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने कर्मयोग शास्त्र की रचना मराठी में की थीं, किन्तु उनके प्रवृत्तिमार्गी विचार भारत के सभी भाषाओं में फैल गये। माइकेल मधुसूदन दत्त और कवि गुरू रवीन्द्रनाथ ने काम तो मूलतः बंगला में किया, किन्तु उनकी प्रेरणाओं ने सभी भारतीय भाषाओं में उद्वेलन भर दिया।"[2] अतएव दिनकर यह मानते हैं कि एक भाषा का कवि और कलाकार देश के सभी भाषाओं का कवि और कलाकार होता है, पर ही बात अंग्रेज़ी के विषय में नहीं कही जा सकती-"जब भी भारत की किसी एक भाषा में कोई प्रबल प्रतिभा प्रकट होती है, उसकी किरणें सभी भाषाओं में फैल जाती है, किन्तु यही बात अंग्रेज़ी के विषय में नहीं कही जा सकती।"[3]

सार के रूप में हम देख सकते हैं कि दिनकर ने न केवल संस्कृति पर ही लिखा, वरन् समाज और साहित्य को प्रभावित करने वाले तमाम विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई। आशय साफ़ है कि दिनकर अपनी काव्य-यात्रा के पथ पर ज्यो-ज्यों अग्रसर हुए उन्होंने अपनी गहरी संवेदनशीलता और वैचारिक परिपक्वता का परिचय दिया और उसे

---

1 वट-पीपल, पृ. 140

2 दिनकर का गद्य साहित्य, पृ. 252

3 वट-पीपल, पृ. 141

अपनी आलोचना में उकेरा। दिनकर का समग्र साहित्य एक विराट समन्वय है और दूसरा कि वे यह समन्वय इतिहास और वर्तमान के बीच करना चाहते हैं। उनका यह प्रयास एक ऐसे अनूठे सामंजस्य को लेकर है जो भविष्य को केन्द्र में रखकर हुआ है। भविष्य उस समाज और संस्कृति का जो पतनोन्मुख है। इससे उबरने का एक मात्र उपाय वे समन्व्य में देखते हैं। उनका आलोचना-साहित्य विपुल है और विशेष रूप से हिन्दी जाति की समस्याओं से और सामान्य रूप से संपूर्ण भारतीय राष्ट्र की समस्यायों से जुड़ा हुआ है।

उपसंहार

उपसंहार

दिनकर ने कवि-कर्म को अपना प्रिय धर्म माना था। वे कहा करते थे कि कविता की प्रेरणा मुझे भीतर से मिलती है, कविता के विषय बाहर बिखरे पड़े हैं। भीतर जब मन्थन और आन्दोलन होता है तब कविता विचार-प्रधान हो जाती है। हिंसा और अहिंसा के आभ्यन्तर संघर्ष ने 'कुरुक्षेत्र' को जन्म दिया। 'कुरुक्षेत्र' लिखते-लिखते विज्ञान की विभीषिका सामने आयी और विज्ञान से जूझने को मन सन्नद्ध हो गया। विचार के क्षेत्र में जब गहरे उतर कर तर्क-वितर्क करने की अकुलाहट हुई तो गद्य का माध्यम स्वीकार किया। दिनकर की लगभग एक दर्ज़न गद्य-कृतियाँ हैं जो उनके वैचारिक मानस संघर्ष पर प्रकाश डालती हैं। उनका यही वैचारिक मानस संघर्ष आलोचनात्मक चिन्तन के रूप में उभर कर उनकी आलोचनात्मक-कृतियों में आता है।

शोध-प्रबंध में प्रस्तुत विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि एक आलोचक के रूप में दिनकर ने साहित्य-संबंधी प्रश्नों पर बहुत गहराई से विचार किया है तथा ऐसी मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं जो बारम्बार अनुशीलन की अपेक्षा रखती है। उन्होंने साहित्य की परिधि में आनेवाले अनेकानेक विषयों पर चिंतन किया है और उन सभी विषयों पर जो आधुनिक हिन्दी आलोचना में विवेचित होते रहे हैं, अपना स्वतंत्र अभिमत प्रकट किया है। किन्तु जो बात उनके साहित्य-चिंतन को महत्ता प्रदान करती है, वह केवल हिन्दी की परिधि तक सीमित समसामयिकता मात्र नहीं है, वरन् समस्त पूर्ववर्ती भारतीय विचार-परंपरा के साथ-साथ यूरोपीय विचार-परम्परा से गहरी सम्पृक्तता है। इसके अतिरिक्त, साहित्य सृजन की प्रक्रिया से संबंधित होने के कारण उनकी समीक्षात्मक दृष्टि के निर्माण में उनके रचनात्मक अनुभवों की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जैसा कि शोध-प्रबंध में कई स्थलों पर स्पष्ट किया गया है, एक साहित्य-स्रष्टा के रूप में उन्होंने पहले से चलते आ रहे और अपने युग में प्रचलित साहित्य-रूपों की परिकल्पना को स्वयं अपने कृतित्व द्वारा संशोधित और परिवर्तित किया है। इस बात के प्रतिनिधि उदाहरण 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' जैसी काव्य-कृतियाँ हैं। एक साहित्य-स्रष्टा के रूप में अपने युग में प्रचलित साहित्य-सृजन के

प्रयोजनों के प्रसंग में भी उन्होंने एक स्वतंत्र दृष्टि स्वीकार की है और अपने आलोचनात्मक निबंधों द्वारा ही नहीं, वरन् अपने कृतित्व के द्वारा भी इस बात पर बल दिया है कि काव्य, साहित्य या कला जीवन के ज्वलंत प्रश्नों से कतरा कर प्राणवंत नहीं हो सकती। यही कारण है कि उनके साहित्य-संबंधी निष्कर्ष बार-बार समाजोन्मुख हो जाते हैं। किन्तु कला-सृजन की परिधि से विस्तार का बोध भी उनमें रहा है। वे यह जानते हैं कि केवल सामाजिक जीवन की समस्याओं की अभिव्यक्ति के लिए ही नहीं, प्रयोजनातीत होकर भी काव्य लिखा या रचा जाता रहा है। इसलिए प्रायः आरंभ से ही वे यह स्वीकार करते रहें हैं कि सृजन का लक्ष्य मात्र आनंद भी हो सकता है और जैसा कि उन्होंने बाद में कहा है कविता का एक रूप शुद्ध कविता का भी हो सकता है।

अभिप्राय यह कि दिनकर की साहित्य-दृष्टि व्यापक और मूल्यवान है तथा वह उनके रचनात्मक लेखन से भी जुड़ी हुई है। इसलिए उनके साहित्य चिंतन और सृजन दोनों परस्पर संबद्ध और परस्परपूरक है और उनकी साहित्य-दृष्टि को समझने के लिए उनके आलोचनात्मक तथा रचनात्मक लेखन पर एक साथ विचार करने की अपेक्षा है।

शोध-प्रबंध के आधार पर उनके चिंतन के जिन मुख्य बिन्दुओं का उल्लेख किया जा सकता है, वे इस प्रकार हैं-

दिनकर के इतिहास बोध की गहराई का अन्दाज़ा उनके अध्ययन से साफ ज़ाहिर हो जाता है, उन्होंने जिस तरह से भारतीय और पाश्चात्य कवियों और वादों पर अपने विचार प्रकट किये हैं, उनसे निसन्देह इस बात का आकलन किया जा सकता है कि वे हमेशा परंपरा के सूत्र से बंधे रहे। वे इतिहास और परंपरा को वर्तमान की रीढ़ मानते हैं तथा स्वयं उनका व्यापक अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है। वे एक समृद्ध संस्कृति के हिमायती थे। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का जितना विपुल साहित्य दिनकर ने प्रस्तुत किया, उतना बहुत कम साहित्यकार कर सके हैं। संस्कृति, इतिहास, दर्शन, काव्य, राजनीति आदि सभी विषयों पर उन्होंने लिखा और हिन्दी साहित्य को समृद्धि प्रदान की। समय की रौ में बहकर उन्होंने भावना को छोड़ विचारों को महत्ता प्रदान की। राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक और

ऐतिहासिक प्रतिपाद्य के प्रति उनके मूल्य इसी विचारात्मक निश्चितता और स्थिरता के द्योतक हैं। वे इतिहास और परंपरा के सांस्कृतिक विकास को स्वीकारने का लोभ-संवरण कभी न कर पाये। दिनकर ने वर्तमान में घट रहे लगभग सभी विषयों पर अपने लेखनी चलाई है। प्रेरणा उन्हें वर्तमान से मिलती है परन्तु इतिहास और परंपरा के मोह के कारण वह अतीत का अंचल छोड़ने में असमर्थ रहे हैं। नतीज़तन उनका आलोचनात्मक चिन्तन पुष्ट और सुव्यवस्थित रूप से उभर कर हमारे सामने आता है।

दिनकर की आलोचनात्मक-दृष्टि का एक वैशिष्ट्य यह है कि वे राजनीति, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन आदि से साहित्य के संबंधों का विश्लेषण करते हैं तथा यह प्रमाणित करते हैं कि साहित्य इन सभी विषयों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण उनकी यह धारण है कि कला जीवन की जिन गहराइयों तक पहुँचती है, उन गहराइयों तक राजनीति, विज्ञान आदि की पहुँच नहीं है। वे उन विचारकों का विरोध करते हैं, जो काव्य या साहित्य को राजनीति, मनोविज्ञान या दर्शन-विशेष का माध्यम अथवा अनुचर बनाना चाहते हैं।

भारतीय और पाश्चात्य साहित्यिक आन्दोलनों में से शायद ही कोई वाद या आन्दोलन ऐसा हो जिस पर दिनकर ने विचार नहीं किया है। उनके साहित्य-संबंधी सैद्धान्तिक विवेचन की परिधि किसी भी हिन्दी कवि-समीक्षक की तुलना में कहीं अधिक विस्तृत है। इन वादों के प्रसंग में उनकी मान्यताएँ ऐसी हैं जो उल्लेख योग्य हो जाती हैं, जैसे, उनकी छायावाद, रोमांसवाद, रहस्यवाद, प्रयोगवाद संबंधी मान्यताएँ। वे छायावाद को द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया मात्र या रवीन्द्र और अंग्रेज़ी की रोमांटिक कविता का प्रभाव मात्र नहीं मानते। वे उसका संबंध रीतिकाल से भी जोड़ते हैं। वे छायावाद के परवर्ती सभी काव्य-आन्दोलनों को छायावाद का विकास सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार, वे रोमांसवाद को सभी यूरोपीय परवर्ती आन्दोलनों का मूल प्रमाणित करते हैं। वे आधुनिक रहस्यवाद को आइन्सटीन के सापेक्षवाद से जोड़कर देखते हैं तथा यह प्रतिपादित करते हैं कि विज्ञान के सूक्ष्म निष्कर्षों से प्रेरित यह रहस्यवाद कविता की आगामी दिशा का एक संकेत प्रस्तुत करता

है। वे कला या काव्य-आन्दोलनों में प्रयोगवाद को एक बहुत संभावनापूर्ण आन्दोलन मानते हैं और उसकी बौद्धिकता के महत्त्व को रेखांकित करते हैं। यह भी उल्लेख्य है कि दिनकर प्रथम हिन्दी समीक्षक हैं, जो 'शुद्ध कविता' की अवधाराणा और इसके आन्दोलन पर विस्तृत रूप में विचार करते हैं। वे इस आन्दोलन को साहित्य की कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं मानते और इसकी शैलीगत बारीकियों की प्रशंसा करने के बावज़ूद इसकी त्रुटियों की तीव्र आलोचना करते हैं। शुद्ध कविता को लेकर लिखी गई उनकी पुस्तक 'शुद्ध कविता की खोज' जिसमें विश्व के विख्यात कवियों, समीक्षकों और विचारकों के मतों का समाहार है, अपने आप में इस विषय पर अनुपम दस्तावेज़ है। इन मतों के संकलन के साथ दिनकर ने स्वाभिमत भी यथास्थान दिया है तथा आलोचनापरक दृष्टि से कविता के स्वरूप के निर्धारण में तटस्थतापूर्वक गंभीर विचार व्यक्त किये हैं। शुद्ध कविता की खोज में उन्होंने नई कविता के आंदोलन के इतिहास तथा उसकी प्रमुख वृत्तियों का विशद् विवेचना किया है। यह कविता मानव-जीवन से अलग होती जा रही है। दिनकर जी ने इस पर चिंता व्यक्त की है। भविष्य की कविता कैसी होगी, इसकी संभावना पर उन्होंने प्रकाश डाला है। आज के वैज्ञानिक युग में कविता की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगया जा रहा है। दिनकरजी का मत है कि बौद्धिकता तथा वैज्ञानिक वस्तुवाद भावी कविता की आधारशीला होंगे। भविष्य की कविता मंत्र के समान होगी अर्थात् उसका आकार छोटा होगा, किंतु, उसका प्रत्येक शब्द पाठक के भीतर अपार अनुभूतियाँ जगाएगा। यह ठीक है कि पुस्तक में उद्धरणों की विपुलता है किन्तु इतना वैविध्यपूर्ण उद्धरण शायद ही कहीं एक स्थान पर पाठक को सुलभ हो सके जितना इस पुस्तक में है।

दिनकर की साहित्य-संबंधी सैद्धान्तिक विवेचन-परिधि जितनी विस्तृत है, उससे कम विस्तृत साहित्यकार-संबंधी विवेचन की परिधि नहीं। व्यावहारिक आलोचना के दौरान उन्होंने जिन भारतीय और पाश्चात्य कवियों-साहित्यकारों की समीक्षा की है, उनमें से कुछ की समीक्षा विस्तृत है। दिनकर जी अपनी आलोचना में सबसे पहले आलोच्य लेखक अथवा कवि की ऐतिहासिक पीठिका प्रस्तुत करते हैं, उसके पश्चात् दृष्टिगत प्रमाणों का आकलत तथा

अंत में जीवन-दर्शन का विवेचन करते हैं। इस प्रसंग में उनकी नवीनताएँ ध्यान आकृष्ट करती हैं। वे माखनलाल चतुर्वेदी पर लिखने वाले संभवतः पहले हिन्दी समीक्षक हैं। इकबाल पर भी उन्होंने सबसे पहले काम किया है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी कवि अरविंद के काव्य के विवेचन के क्षेत्र में हिन्दी में वे अग्रणी रहे हैं। साहित्यकार-संबंधी उनकी समीक्षा का एक गुण यह भी है कि वे कवि-विशेष के संबंध में पूर्व प्रचलित गलत और सतही धारणाओं का खण्डन करते हैं तथा अपने अनुभवगत साक्ष्य के आधार पर बड़े से बड़े कवि की आलोचना करने में किसी संकोच या हिचक का अनुभव नहीं करते। प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति 'कामायनी' को विचार की भूमिका पर तोलकर वे कृति की भाषागत त्रुटियों पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। कहीं-कहीं इसमें अतिशय का भी आभास होता है जो कि उनकी खामी और खूबी दोनों हैं। पंत की पदावली पर मुग्ध होने पर भी उनकी दार्शनिक विचारधारा पर संशय की नज़र है। पंत जी के विचारक रूप अर्थात् पंतजी के उत्तरकालिक रूप पर उनका ध्यान गया है। पंतजी की आशा एवम आस्थावादी रचनाएँ देखकर उनमें यह आशा जगी कि आगे आनेवाली पिढ़ियाँ पंतजी को अवतारी संदेशवाहक कवि-रूप में याद करेंगी। गुप्तजी को जनसाधारण का कवि ठहराते हुए उनकी सुबोध भाषा की सराहना की है। भाषा के स्तर पर उनका ऋण भी स्वीकारा है, किन्तु काव्य-विमर्श में गुप्तजी को कालजयी कवि मानने में संकोच रहा है। फिर भी साहित्यकारों की समीक्षा करते समय वे उनकी संवेदना और भाषा के वैशिष्ट्य का बड़ा समर्थ और तलस्पर्शी उद्घाटन करते हैं।

उनकी काव्य-विषयक संकल्पना पर भारतीय और पाश्चात्य, दोनों काव्य-शास्त्रों का प्रभाव है, लेकिन यह प्रभाव अन्धानुकरण के रूप में नहीं आया है। यह संकल्पना उनकी साहित्यिक यात्रा के साथ विकासमान भी रही है। वे अपने परवर्ती लेखन काव्यानुभूति को सहजानुभूति, अन्तःप्रज्ञा या संबुद्ध के रूप में व्याख्यायित करते हैं, लेकिन काव्य-विषयक उनके बहुत से निष्कर्ष आरंभ से ही एक-जैसे रहे हैं । वे आरंभ से ही काव्य-निर्माण में कवि-व्यक्तित्व की भूमिका पर बल देते हैं और यह मानते हैं कि कवि-व्यक्तित्व से प्रसूत होने के बावजूद वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है। वे कला या काव्य एक उल्लेख्य भाग को

आनंद या प्रयोजनातीत लक्ष्य का संवाहक मानते हुए भी यह कहते हैं कि उसके दीर्घायु होने के लिए कलाकार में समाज के प्रतिबद्धता होनी चाहिये। यही कारण है कि कुछ स्थलों पर वे प्रयोजनातीत वस्तु के रूप में प्रस्तावित आनंद की व्याख्या सामाजिक आनंद के रूप में करते हैं। रचना में कवि की अनुभूति को केन्द्रीय महत्त्व देने के कारण वे छन्द, भाषा आदि को उससे जोड़कर देखते हैं-दूसरे शब्दों में, वे काव्य के स्थापत्य को सावयव(ऑर्गेनिक) मानते हैं। सावयव शिल्प की यही धारणा प्रसाद, पंत आदि छायावादी कवियों में भी मिलती है। लेकिन इस प्रसंग में दिनकर का वैशिष्ट्य यह है कि वे छन्द, अलंकार और भाषा जैसे विषयों की बारीकियों में जाते हैं। इसका प्रमाण हिन्दी कविता के छन्द-संबंधी प्रयोगों तथा काव्यभाषा में शब्द-चयन, विशेषण आदि के प्रयोगों का उनका विश्लेषण है। इस अर्थ में वे पूर्ववर्ती कवि साहित्य-चिंतकों में निराला के अधिक समीप पड़ते हैं, क्योंकि निराला ने भी कविता में छन्द, विशेषण, क्रियापद-संबंधी प्रयोगों पर बड़ी बारीकी से विचार किया है।

दिनकर ने जिन साहित्य-रूपों पर संक्षेप या विस्तार से विचार किया है, वे हैं- प्रबंध-काव्य, प्रगीत, मुक्तक, संस्मरण, रेखाचित्र, काव्यरूपक, डायरी और आलोचना। किन्तु जैसा कहा जा चुका है, उन्होंने स्वयं अपनी कृतियों के द्वारा इन साहित्य-रूपों की ऐसी संकल्पना निर्मित की है, जिसका सैद्धान्तिक है। उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' के माध्यम से प्रबंध-काव्य की संकल्पना का संशोधन किया है, क्योंकि परंपरागत प्रबंध काव्यों के विपरित इसमें कथा तत्त्व की विरलता मिलती है और तर्क-वितर्क या विचारों के द्वन्द्व के माध्यम से भावावेगों की अभिव्यंजना। 'उर्वशी' के माध्यमे से वे काव्यनाटक को ऐसी परिभाषा देते हैं जो परंपरा के आधार पर सोचने वाले आलोचकों के लिए एक चुनौती बन जाती है।

भारतीय-संस्कृति की अमिट छाप आद्योपान्त दिनकर-साहित्य में निदर्शित होती है, उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि, चाहे गद्य में हो या पद्य में, उन्हें विषयान्तर होने से रोक लेती हैं। दिनकर का आलोचना-साहित्य भारतीय संस्कृति के चतुर्दिक ही चक्कर काटती परिलक्षित होती है- 'भारतीय एकता', हमारी सांस्कृतिक एकता, भारत की सांस्कृतिक कहानी, राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता आदि पुस्तकें इनकी इसी विचारधारा का प्रक्षेपण करती

हैं। वे भारतीय संस्कृति के कायल थे, तथा भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक स्वरूप के कारण उसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से श्रेयस्कर मानते थे, उन्होंन अपने कई लेखों में भारतीय संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इन विषयों पर उनके अन्य विचारकों से मत-वैभिन्य भी रहे। परन्तु यह नकारा नहीं जा सकता की 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसी अप्रतिम पुस्तक जब प्रकाशित हुई तो दिनकर की अध्ययनशीलता का सिक्का पाठकों ने स्वीकार किया।

दिनकर के समस्त काव्य-चिंतन का एक आकर्षक पक्ष यह है कि वह मौलिक एवं मूल्यवान् विचारों का तर्कपूर्ण निरूपण करने के बावज़ूद परंपरागत काव्य-शास्त्रियों या पेशेवर आलोचकों की भाराक्रान्तता से मुक्त है। वह पाँच दशकों की उनकी साहित्यिक यात्रा का प्रतिनिधित्व करता है और उसके माध्यम से केवल उनका, वरन् समस्त समकालीन चिन्तन प्रतिध्वनित होता है। वे एक स्पष्ट आलोचनात्मक पद्धति का संकेत देते हैं जो कि ताउम्र उनके द्वारा जीवन के विभिन्न विरोधी भावों में सामंजस्य द्वारा उपजी स्वस्थ और संतुलित विचारधारा पर आधारित है। ऐसी आलोचना भविष्य की आलोचना को दृष्टि प्रदान करती है। उसमें विचारों की ऐसी व्यापकता और प्रौढ़ता है, जो किसी श्रेष्ठ साहित्य-चिन्तक में ही संभव है।

सारतः अगर कहें तो हम पाएँगे की दिनकर के आलोचना-साहित्य को समझने के लिए उनके समग्र रचना-संसार पर भी सरसरी नज़र ड़ालना ज़रूरी बन पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन-दर्शन होता है, उसके कुछ सिद्धान्त होते हैं, परन्तु समायनुकूल उनमें परिवर्तन लाना आवश्यक हो जाता है। यही विकास का द्योतक है। दिनकर की दृष्टि समन्वयात्मक रही है, यही कारण है कि, उनके साहित्यिक विकास के हर मोड़ पर यह देखने को मिलेगा कि जीवन की विभिन्न समस्याओं के द्विमुखी और विरोधी पक्षों के सामानान्तर विश्लेषण और प्रतिपादन के कारण उन पर द्वन्द्वग्रस्तता तथा अस्पष्टता का दोष लगाया जाता रहा है, परन्तु सृजन-प्रक्रिया में दो शक्तियाँ साथ-साथ काम करती हैं। बुद्धिजन्य विचार और प्रवृत्तिजन्य राग का संघर्ष उनमें आरंभ से अंत तक विद्यमान है,

इसीलिए अनेक स्थलों पर उनके साहित्य में विरोधाभास का भ्रम होने लगता है, जबकि वास्तव में तथ्य यह है कि विचार दिशा-निर्देश करते हैं और भावनायें उन्हें गति प्रदान करती है। मानसिक प्रवृत्तियों के बीच संतुलन और सामंजस्य की इस प्रक्रिया के कारण विरोधी तत्त्वों का समावेश अनिवार्य और अवश्यम्भावी हो जाता है। पर जैसे-जैसे वे प्रौढ़ हुए, उनके चिन्तन में स्थिरता आई और उन्होंने अनेक प्रश्नों का समाधान पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के सार तत्त्वों को ग्रहण करके किया, और ऐसी पुष्ट मानवीय-विचारधारा को हमारे सामने रखा जो सदैव पृथ्वी के आधार से जुड़ी रही, जिसका रूख सदा 'मिट्टी की ओर' रहा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

आधार-ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
1. अर्द्धनारीश्वर	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-4	संस्करण अनुल्लिखित 1952
2. काव्य की भूमिका	रामधारी सिंह दिनकर	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1987
3. कविता और शुद्ध कविता	रामधारी सिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-211001	प्रथम संस्करण 2008
4. दिनकर का गद्य साहित्य	डॉ. प्रेमनाथ उपाध्याय	जिज्ञासा प्रकाशन पटना-800016	संस्करण 2006
5. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	द्वितीय संस्करण 1989
6. मिट्टी की ओर	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	द्वितीय संस्करण 1989
7. भारत की सांस्कृतिक कहानी	रामधारी सिंह दिनकर	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1987
8. युगचारण दिनकर	सावित्री सिन्हा	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस जवाहर नगर, दिल्ली	प्रथम संस्करण 1963
9. रेती के फूल	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	प्रथम संस्करण 1952
10. वट-पीपल	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-4	प्रथम संस्करण 1961
11. वेणुवन	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	संस्करण 1978
12. साहित्यमुखी	रामधारी सिंह दिनकर	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1985
13. संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-211001	तृतीय संस्करण नवीन संस्करण 2004

सहायक ग्रन्थ

सहायक-ग्रंथ	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
1. अशोक के फूल	हजारी प्रसाद द्विवेदी	सस्ता साहित्य मंड़ल, नई दिल्ली	प्रथम संस्करण 1948
2. आधुनिक बोध	रामधारी सिंह दिनकर	हिन्दी बुक सेन्टर, न.दिल्ली 110001	
3. उजली आग	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	संस्करण 1989
4. उर्वशी	रामधारी सिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-211001	प्रथम संस्करण 2008
5. कुरुक्षेत्र	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	संस्करण 1970
6. कोयला और कवित्व	रामधारी सिंह दिनकर	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1987
7. चक्रवाल (भूमिका)	रामधारी सिंह दिनकर	अनुपम प्रकाशन पटना-4	द्वितीय संस्करण 2005
8. छायावाद विश्लेषण और मूल्याँकन	डॉ. दीनानाथ शरण	नवयुग ग्रन्थागार सी-747 महानगर लखनऊ-6	तृतीय संस्करण 1977
9. दिनकर	सं. सावित्री सिन्हा	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली	द्वितीय संस्करण 1970
10. दिनकर : एक पुनर्मूल्यांकन	विजेन्द्र नारायण सिंह	परिमल प्रकाशन	प्रथम संस्करण 1965
11. दिनकर एक सहज पुरुष	शिवसागर मिश्र	प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाज़ार न.दिल्ली- 110006	प्रथम संस्करण 1981
12. दिनकर की डायरी	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	प्रथम संस्करण 1973
13. दिनकर की साहित्य दृष्टि	डॉ. सुशीला मिश्रा	अनुपम प्रकाशन पटना-4	प्रथम संस्करण 1983
14. 'दिनकर'साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति	डॉ. रमारानी सिंह	अमित प्रकाशन के.बी. 97 कविनगर गाजियाबाद-201002	प्रथम संस्करण 1984

सहायक-ग्रंथ	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
15. दिनकर के काव्य में क्रांतिमत चेतना	निधि भार्गव	कविता प्रकाशन तेलीवाड़ा, बिकानेर	प्रथम संस्करण 1979
16. दिनकर के काव्य में परंपरा और आधुनिकता	डॉ. जयसिंह नीरद	अनुराधा प्रकाशन सुरजकुण्ड़ रोड़ मेरठ	प्रथम संस्करण 1984
17. दिल्ली	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	प्रथम संस्करण 1954
18. दूसरी परंपरा की खोज	नामवर सिंह	राजकमल पेपरबैक्स बी, नेता जी सुभाष मार्ग, न.दिल्ली-110002	संस्करण 2000
19. द्वन्द्वगीत	रामधारी सिंह दिनकर	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड़, पटना-4	द्वितीय संस्करण 1954
20. धर्म, नैतिकता और विज्ञान	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	प्रथम संस्करण 1959
21. धूप और धुआँ	रामधारी सिंह दिनकर	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1987
22. नील कुसुम	रामधारी सिंह दिनकर	श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड़, पटना-4	प्रथम संस्करण 1954
23. परशुराम की प्रतीक्षा	रामधारी सिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-211001	प्रथम संस्करण 2005
24. बंजारा लोक साहित्य में समाज और संस्कृति	मोतीराज राठौड़	सरस्वती प्रकाशन किदवई नगर कानपूर-208011	प्रथम संस्करण 1988
25. भारत का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय	उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ	प्रथम संस्करण 1976
26. भारतीय धर्म और संस्कृति	डॉ. शशि तिवारी	मैत्रेयी महाविद्यालय नेताजी नगर, न.दिल्ली-110023	प्रथम संस्करण 1986
27. भारतीय संस्कृति	शिवदत्त ज्ञानी	राजकमल प्रकाशन	प्रथम संस्करण 1976

सहायक-ग्रंथ	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
28. भारतीय संस्कृति और कला	वाचस्पति गैरोला	उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ	प्रथम संस्करण 1973
29. भारतीय साहित्य के निर्माता रामधारी सिंह दिनकर	विजेन्द्र नारायण सिंह	साहित्य अकादेमी न.दिल्ली 110001	संस्करण 2008
30. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा	पृथ्वीकुमार अग्रवाल	विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी-221001	प्रथम संस्करण 2000
31. प्रणभंग	रामधारी सिंह दिनकर	राजपाल एण्ड सन्ज़ कश्मीरी गेट दिल्ली	प्रथम संस्करण 1976
32. रश्मिरथी	रामधारी सिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-211001	संस्करण 2006
33. रश्मि-लोक	रामधारी सिंह दिनकर	स्टार पब्लिकेशंज़, न.दिल्ली 110001	प्रथम संस्करण 2006
34. रसवन्ती	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-4	दसवाँ संस्करण 1966
35. रामधारी सिंह दिनकर (भूमिका)	सं. मनमथनाथ गुप्त	राजपाल एण्ड सन्ज़ कश्मीरी गेट दिल्ली	प्रथम संस्करण 1978
36. राष्ट्रीय कवि दिनकर और उनकी काव्य-कला	डॉ. शेखरचन्द्र जैन	जयपुर पुस्तक सदन चौड़ा रास्ता जयपुर	प्रथम संस्करण 1973
37. रेणुका	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	प्रथम संस्करण 1979
38. विवाह की मुसीबतें	रामधारी सिंह दिनकर	स्टार पब्लिकेशंज़, न.दिल्ली 110001	प्रथम संस्करण 1974
39. स्मृति-लेखा	स.हि.वा. अज्ञेय	नेशनल पेपरबैक्स दरियागंज न.दिल्ली 110002	छटा संस्करण 2005

सहायक-ग्रंथ	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
40. समय और संस्कृति	श्यामचरण दुबे	वाणी प्रकाशन -21ए न.दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1996
41. समीक्षा-संदर्भ और दिशाएँ	पद्म सिंह शर्मा	किताब महल अलाहाबाद	प्रथम संस्करण 1970
42. सामधेनी	रामधारी सिंह दिनकर	अनुपम प्रकाशन पटना-4	प्रथम संस्करण 2005
43. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार	डॉ. हरि मोहन	वाणी प्रकाशन	प्रथम संस्करण 1997
44. सीपी और शंख (भूमिका)	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	
45. संचयिता	सं. लक्ष्मीचन्द्रजैन	भारतीय ज्ञानपीठ बी-45-47/ कनॉट प्लेस न.दिल्ली-110001	द्वितीय संस्करण 1977
46. संस्कृति की मंदाकिनी	डॉ. शंकरदत्त ओझा	शिवाराधना प्रकाशन	प्रथम संस्करण 1999
47. संस्कृति एवं सदाचार के सोपान	एस.एस. वर्मा	अभिनव साहित्य प्रकाशन 45A अशोक बिहार फेस-1,दिल्ली-52	
48. संस्कृति के स्वर	महादेवी वर्मा	राजपाल एण्ड सन्ज़ कश्मीरी गेट दिल्ली	प्रथम संस्करण 1984
49. संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ	रामधारी सिंह दिनकर	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1987
50. शेष-निःशेष	सं. कन्हैयालाल फूलफगर	पूर्वोदय प्रकाशन 7/8 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1985
51. हमारी सांस्कृतिक एकता	रामधारी सिंह दिनकर	नेश्नल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज, न. दिल्ली 110002	प्रथम संस्करण 1999
52. हारे को हरिनाम	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाश्न पटना-800016	प्रथम संस्करण 1970

सहायक-ग्रंथ	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
53. हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन और हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक प्रक्रिया	डॉ. हरिशचन्द्र मिश्र	श्यामा प्रकाशन संस्थान दारागंज इलाहाबाद	प्रथम संस्करण 1996
54. हिन्दी साहित्येतिहास पाश्चात्य स्त्रोतों का अध्ययन	डॉ. हरमहेन्द्र सिंह बेदी	प्रतिभा प्रकाशन होशियारपुर	प्रथम संस्करण 1985
55. हुंकार	रामधारी सिंह दिनकर	लोकभारती प्रकाशन महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-211001	संस्करण 2007
56. Cultural Theory	Philip Smith & Alexander Riley	Blackwell Publishing	Second Edition 2009
57. Cultural Beacon of the Future.	D.Paul Schafer	Admantine Press Ltd.	Edition 1998
58. Culture in Minds and Socities.	Jaan Valsiner	Sage Publications	First Edition 2007

पत्रिकाएँ

लेख-शीर्षक	लेखक	पत्रिका	अंक	वर्ष
1. इतिहास, दर्शन और संस्कृति का समन्वय	पूजा खिल्लन	आजकल	अक्तूबर	2008
2. औपनिवेशिक दासता से मुक्ति की ध्वनि	कृष्ण दत्त पालीवाल	आजकल	अक्तूबर	2008
3. एक अदभुत सांस्कृतिक चिन्तन	कृष्ण दत्त पालीवाल	आजकल	जनवरी-09	2010
4. दिनकर की इतिहास दृष्टि	खगेन्द्र ठाकुर	आजकल	अक्तूबर	2008

लेख-शीर्षक	लेखक	पत्रिका	अंक	वर्ष
5. दिनकर का आलोचना साहित्य	प्रो. रवि रंजन	इन्द्रप्रस्थ भारती	जनवरी-फरवरी	2009
6. दिनकर के संस्कृति संबंधी लेखन का स्वरूप	विनोद तिवारी	वागर्थ	फरवरी	2010
7. पौरुष के पूंजीभूत ज्वाल	मैनेजर पांडेय	आजकल	अक्तूबर	2008
8. बहुभाषी भारत की सांस्कृतिक एकता	पंकज साहा	आजकल	सितंबर-07	2009
9. भारतीय संस्कृति की समग्ररूप्ता	विश्वंभर नाथ पांडे	आजकल	फरवरी-10	2010
10. राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय आंदोलन और दिनकर की कविता	सत्यकाम	दस्तावेज	अप्रैल-जून-107	2005
11. रामधारी सिंह दिनकर : व्यक्तित्व और कृतित्व	नमिता राकेश	गंगनांचल	जनवरी-मार्च	2008
12. सांस्कृतिक संक्रान्ति और संभावना	नरेंद्र शर्मा	आजकल	जनवरी-09	2010
13. सांस्कृतिक चेतना और हिन्दी साहित्य	रमेशचन्द्र शाह	अक्षरा	सितंबर-अक्तूबर	2009

****